जुलाई, 2018

उच्चतम न्यायालय

निर्णय पत्रिका

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

प्रस्तावित संपादक-मंडल

डा. जी. नारायण राजू,
सचिव, विधायी विभाग

डा. रीटा वशिष्ठ, अपर सचिव,
विधायी विभाग

श्री एस. आर. ढलेटा,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं
विधायी परामर्शी, विधायी विभाग

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु
गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

श्री ए. के. अवस्थी,
सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं डीन
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

श्री एल. आर. सिंह,
प्रोफेसर एवं डीन इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

श्री अनुराग दीप,
एसोसिएट प्रोफेसर,
भारतीय विधि संस्थान

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
प्रधान संपादक

श्री कमला कान्त,
संपादक

श्री अविनाश शुक्ला,
संपादक

श्री असलम खान,
संपादक

सहायक संपादक : श्री पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

परामर्शदाता : सर्वश्री दयाल चन्द्र ग्रोवर, महमूद अली खां और विनोद कुमार आर्य

ISSN- 2457-0494

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 195/-

© 2018 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054.
2. प्रधान संपादक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा..... द्वारा मुद्रित ।

पी एल डी (डी)-7-2018 आई.एस.एस.एन. 2457-0494

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

जुलाई, 2018 अंक - 7

प्रधान संपादक
डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय

संपादक
कमला कांत

विधि साहित्य
प्रकाशन

[2018] 3 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

विक्रय कार्यालय : 1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054.
2. सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259; 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

संपादकीय

मध्य प्रदेश राज्य ने राज्य की कतिपय रिक्तियों की भर्ती करने हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम. फिल./पीएच.डी. डिग्री देने के लिए न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 का अवलंब लेते हुए, दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से एम. फिल./पीएच. डी. की डिग्री लेने वाले डिग्री धारकों की डिग्री को विधिमान्य होने से इनकार कर दिया । किन्तु, जब वर्ष 2009 के विनियम के पूर्व प्राप्त एम. फिल./पीएच. डी. की डिग्री की विधिमान्यता पर प्रश्न उठा तो माननीय उच्चतम न्यायालय ने **मध्य प्रदेश राज्य और अन्य** बनाम **मनोज शर्मा और अन्य** [2018] 3 उम. नि. प. 140 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया कि 2009 के विनियम के पूर्व दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से प्राप्त एम. फिल./पीएच. डी. की डिग्री को रद्द नहीं किया जा सकता है क्योंकि 2009 का विनियम भविष्यलक्षी प्रकृति का है ।

संविदा के आधार पर नियुक्त व्यक्ति/व्यक्तियों का नियमितिकरण एक गंभीर समस्या रही है । माननीय उच्चतम न्यायालय ने **शिव नारायण नागर और अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य** [2018] 3 उम. नि. प. 48 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया कि यदि संविदा के आधार पर की गई कोई नियुक्ति अवैध या तत्समय प्रवृत्त किसी भी विनियम के विरुद्ध नहीं है और इस प्रकार नियुक्त व्यक्ति/व्यक्तियों ने निरंतर 10 वर्ष की सेवा कर ली है तो उनकी नियुक्ति/नियुक्तियों का मात्र इस आधार पर नियमितिकरण से इनकार नहीं किया जा सकता कि उनकी पिछले दरवाजे से नियुक्ति हुई है या नियमितिकरण के लिए कोई पद अस्तित्व में नहीं है ।

कुटुम्ब की संपत्ति में, अवयस्क के हित या हक को संरक्षित करने के लिए यदि कोई व्यक्ति न्यायालय की अनुज्ञा के बिना न्यायालय में वाद-मित्र के रूप में वाद फाइल करता है तो क्या वह विधिमान्य तौर पर ऐसा कर सकता है । माननीय उच्चतम न्यायालय ने **नगय्या और एक अन्य** बनाम **श्रीमती चौदम्मा (मृत) विधिक प्रतिनिधियों के मार्फत और एक अन्य** [2018] 3 उम. नि. प. 79 वाले मामले में, अभिनिर्धारित किया कि यदि कोई व्यक्ति कुटुम्ब की सम्पत्ति में अवयस्क के हित या हक को संरक्षित करने के लिए वाद-मित्र के रूप में न्यायालय में वाद फाइल करता है, तो न्यायालय द्वारा या उसकी अनुज्ञा से वाद-मित्र के रूप में उसकी नियुक्ति

न होने के बावजूद भी यह विधिमान्य तौर पर उसका प्रतिनिधित्व कर सकता है, चाहे ऐसा व्यक्ति उसका नातेदार ही क्यों न हो बशर्ते उसका हित अवयस्क के हित के प्रतिकूल न हो ।

कभी-कभी आपसी स्नेह एवं भाईचारे में कोई व्यक्ति अपने गृह या संपत्ति का कब्जा संरक्षित करने के लिए सद्भावना में किसी अन्य व्यक्ति को सौंप देता है तो क्या वह व्यक्ति उस गृह या संपत्ति पर प्रतिकूल कब्जे के आधार पर अपने हक या किसी अधिकार का दावा कर सकता है । माननीय उच्चतम न्यायालय ने **नरेन्द्र और अन्य** बनाम **अजबराव** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** [2018] 3 उम. नि. प. 36 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया कि यदि अभिलेख पर यह साबित कर दिया जाए कि वाद गृह पर प्रतिवादी का मात्र अनुज्ञेय कब्जा है न कि प्रतिकूल कब्जा है तो उस वाद गृह में प्रतिवादी का कोई हक और कब्जे का अधिकार सृजित नहीं होगा और अपीलार्थी द्वारा अनुज्ञेय कब्जे के लिए दी गई अनुज्ञा वापस ली जा सकती है । अनुज्ञा वापस किए जाने पर वाद गृह का कब्जा अपीलार्थी को सौंपना होगा ।

देश की सीमाओं की सुरक्षा एक बड़ी चुनौती है । रक्षा मंत्रालय की संसदीय समिति ने यह सुझाव दिया कि ऐसे सभी लोग जो सरकारी नौकरी पाना चाहते हैं, को पांच साल की सैन्य सेवा अनिवार्य बनाया जाए । प्रो. (डा.) ए. के. अवस्थी ने "सरकारी नौकरी हेतु अनिवार्य सैन्य सेवा की विधिमान्यता" शीर्षक के अधीन इस संदर्भ को बेबाक तौर पर विश्लेषित किया है । उपरोक्त सुझाव पर व्यापक चर्चा अपेक्षित है ।

प्रिवी कौंसिल द्वारा दिए गए तारीख 17.3.1939 से तारीख 28.3.1939 तक के निर्णयों के हिंदी पाठ और शीर्ष टिप्पण पाठकों की जानकारी के लिए बहुत उपादेय हैं । इस अंक में केन्द्रीय अधिनियम नोटेरी अधिनियम, 1952 तथा मुखतारनामा अधिनियम, 1882 को भी ज्ञानार्थ प्रकाशित किया जा रहा है । इसके अतिरिक्त, इस अंक में अन्य महत्वपूर्ण निर्णय भी हैं । इस संपूर्ण अंक का परिशीलन करने के पश्चात् आपके बहुमूल्य सुझाव आमंत्रित हैं ।

कमला कान्त
संपादक

सरकारी नौकरी हेतु अनिवार्य सैन्य सेवा की विधिमान्यता

*प्रो. (डा.) ए. के. अवस्थी

रक्षा मंत्रालय से संबंधित संसद् की स्थायी समिति ने सिफारिश की है कि ऐसे लोग जो सरकारी नौकरी पाना चाहते हैं, उनके लिए पांच साल की सैन्य सेवा अनिवार्य की जाए । समिति की अनुशंसा है कि केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा नई भर्ती में यह नियम लागू किया जाए । समिति ने थल, जल तथा वायु सेना में योग्य अधिकारियों तथा कर्मकारों की भारी कमी पर चिंता व्यक्त करते हुए आशा व्यक्त की है कि ऐसा करने पर न केवल सेना में मानव संसाधन की संख्या बढ़ेगी वरन सिविल सेवाओं में देश प्रेम, अनुशासन तथा समर्पण का भाव जाग्रत होगा तथा प्रशासनिक अधिकारी बिना किसी डर या दबाव के काम करने को उद्दयत होंगे । सेना की दुर्गम सेवाओं का एहसास होगा तथा सैनिकों के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी । अभी तक सिविल सेवाओं के लिए ऐसी कोई शर्त तो नहीं है लेकिन शार्ट सर्विस कमीशन पाए तथा भूतपूर्व सैनिकों/पाल्यों के लिए एक सीमित प्रतिशत तक स्थान आरक्षित हैं ।

मैक्सिको समेत कई देशों में 18 से 26 वर्ष की आयु के पुरुषों/महिलाओं को अनिवार्य सैन्य सेवा देनी होती है । अन्य देशों में इनको पंजीकरण कराना होता है, 20 दिन से लेकर तीन वर्ष की ट्रेनिंग लेनी पड़ती है तथा आवश्यकता/आपातकाल में सैन्य सेवा करनी होती है । कुछ अन्य देशों में ऐसी सेवा अनिवार्य तो नहीं है लेकिन एक आकर्षक विकल्प के रूप में स्थापित है ।

संयुक्त राज्य अमेरिका में गृहयुद्ध (1863) के समय सैन्य सेवा अनिवार्य की गई थी लेकिन तीन सौ डालर जुर्माना देकर कोई अपनी जगह प्रतिस्थानी दे सकता था । इस छूट का दुरुपयोग करते हुए कईयों ने अपनी जगह अपराधियों तथा विकलांगों को भर्ती करा दिया । प्रथम विश्व युद्ध (1917), कोरियाई तथा वियतनाम युद्ध के समय जबरदस्ती भर्ती की प्रक्रिया पुनः अपनाई गई । जिमी कार्टर के राष्ट्रपतित्व काल (1979) में कानून पारित 26 वर्ष की आयु तक के लोगों के लिए भर्ती पंजीकरण अनिवार्य किया गया जिससे सेना को आपातकाल में मानव संसाधन उपलब्ध रहे । पंजीकरण न कराने पर जुर्माने की व्यवस्था है लेकिन हाल

---

* भूतपूर्व विधि संकायाध्यक्ष, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

के वर्षों में किसी को दोषी करार नहीं किया गया है । पंजीकृत व्यक्तियों को फेडरल तथा स्टेट विश्वविद्यालयों में शुल्कों में छूट होती है, ड्राइविंग लाइसेंस आसानी से बनते हैं तथा ऐसी ही अनेक अन्य सुविधाएं दी जाती हैं । जो लोग मिलिट्री सर्विस के बाद स्वर्गवासी होते हैं उनके शव नेशनल मिलिट्री में दफनाए जाते हैं और यह अत्यंत सम्मान का प्रतीक माना जाता है ।

दूसरी तरफ चीन, जिसे कि विश्व की सेनाओं में सर्वाधिक संख्याबल वाला बतलाया जाता है, में यों तो सार्वभौमिक सैन्य सेवा अनिवार्य है लेकिन यह केवल सिद्धांत में है तथा अत्यधिक जनसंख्या होने के कारण इच्छुक लोगों को भी सेवारत नहीं किया जा पाता ।

भारत में सैन्य सेवा अनिवार्य नहीं है लेकिन इसको एक अच्छे वैकल्पिक कैरियर के रूप में जाना/प्रचारित किया जाता है । मौलिक अधिकारों के भाग 3 में अनुच्छेद 23 शोषण के विरुद्ध अधिकार देता है तथा दुर्व्यापार, बेगार और सभी प्रकार के बलात् श्रम को प्रतिषिद्ध करता है लेकिन इस अनुच्छेद में ऐसी परिस्थितियों पर ध्यान दिया गया है जिनमें राज्य को लोक नियोजन के लिए अनिवार्य सेवा लेनी पड़ेगी ।

देश की रक्षा के लिए सेना में अनिवार्य भर्ती या कठिन परिस्थितियों में पुलिस की सहायता करने का आदेश देना बलात् श्रम नहीं है क्योंकि वह अनुच्छेद 23(2) के अधीन अनुज्ञेय है । यह भी प्रावधानित है ऐसी सेवा अधिरोपित करने में राज्य केवल धर्म, मूलवंश, जाति या वर्ग या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा । अनुच्छेद 33, सशस्त्र बलों के सदस्यों तथा उनके अनुषंगी संगठनों को मौलिक अधिकारों में कमी करने की शक्ति संसद् को प्रदान करता है । भारत संघ बनाम एल. डी. बालम सिंह (2002) के वाद में सुप्रीम कोर्ट ने अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 33 मूल अधिकारों का अपवाद है । कार्य पालिका के कुछ अंग ऐसे हैं जहां स्वतंत्रता को नियंत्रित करना आवश्यक है । सैन्य बल, पुलिस, आसूचना (इंटेलिजेंस) अभिकरण ऐसे ही संगठन हैं जहां स्वतंत्रता को सीमित करना आवश्यक है । यह अनुच्छेद संसद् को यह शक्ति देता है कि वह विधि बनाकर यह सीमा तय करे जिसके भीतर अनुच्छेद 33 में विनिर्दिष्ट संगठनों के सदस्यों को मूल अधिकार उपलब्ध होंगे ।

सेना अधिनियम, नौ सेना अधिनियम, वायु सेना अधिनियम, सीमा सुरक्षा बल अधिनियम और इसी प्रकार के अन्य अधिनियम अनुच्छेद

19(1)(ग) के अधीन संगम के अधिकार को सीमित करते हैं । पुलिस बल (अधिकारों का निर्बंधन) अधिनियम, 1966 में यह घोषित किया गया है कि पुलिस बल का कोई सदस्य किसी व्यवसाय संघ या श्रमिक संघ या राजनैतिक संगम का सदस्य नहीं हो सकता । बताया जाता है कि 1973 में उ. प्र. में पी. ए. सी. के जवानों ने अपना संघ बनाने की मांग को लेकर आन्दोलन किया था जिसे सख्ती से कुंचल दिया गया था । इसी कारण विश्वविद्यालय में भीषण आगजनी हुई थी ।

अनुच्छेद 34 ऐसी परिस्थिति अनुध्यात करता है जहां देश के किसी भाग में सेना विधि (मार्शल ला) घोषित की गई हो । यदि सेना विधि के दौरान व्यवस्था बनाए रखने में कोई अवैध बात की गई है तो संसद् को यह शक्ति दी गई है कि वह क्षतिपूर्ति अधिनियम पारित कर सकेगी । सेना विधि, अनुच्छेद 352 के अधीन की गई उद्घोषणा से भिन्न है ।

संविधान के भाग 4क में वर्णित मूल कर्तव्यों में जहां प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य बतलाया गया है कि संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे, भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे तथा यह भी स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि "देश की रक्षा करे तथा आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे" ।

"जननी जन्म भूमिश्च, स्वर्गादपि च गरीयसी" को हृदयंगम करने वाली भारतीय मनीषा में सैन्य सेवा मात्र कैरियर नहीं बल्कि जीवन को सफल बनाने का एक साधन है । भारतीय सेनाएं शौर्य और वीरता का प्रतिमान है । हमारे यहां मद्रास, पंजाब, राजपुताना, नगा, डोगरा, जाट, सिख, कुमांऊ तथा गढ़वाल रायफल्स ऐसी रेजिमेंट हैं जो साहस, कर्तव्य निष्ठा और दिलेरी के लिए विश्व विख्यात हैं । इनमें विशेष बात यह भी है कि कई परिवार और खानदान पुश्तों दर पुश्तों से अपने पुत्रों को सेना में भर्ती करवाकर गर्व का अनुभव करते हैं ।

सैन्य शिक्षा देने के लिए सैनिक स्कूलों के साथ-साथ राष्ट्रीय इंडियन मिलिट्री कॉलेज, नेशनल डिफेन्स अकादमी, कॉलेज ऑफ डिफेन्स मैनेजमेंट, डिफेन्स सर्विसेस स्टाफ कॉलेज ऐसे प्रख्यात संस्थाओं के अलावा गुड़गांव में इंडियन नेशनल डिफेन्स यूनिवर्सिटी की स्थापना हो चुकी है जो सेना पाठ्यक्रम से संबंधित यू. जी./पी. जी. तथा रिसर्च कार्यक्रम चलाएगी ।

सन् 1962 के चीन युद्ध के बाद देश की सुरक्षा व्यवस्था को चाक चौबंद करने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी । उसी के अंतर्गत दसवीं के बाद

एन. सी. सी. की ट्रेनिंग लागू की गई थी जिसमें थल, नभ तथा नौ सेना का प्रांरभिक सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक ज्ञान दिया जाता है । एन. सी. सी. का "बी" और "सी" प्रमाणपत्र धारकों को सेना तथा अन्य सेवाओं एवं इंजीनियरिंग/मेडिकल समेत विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रमों में प्रवेश में वरीयता/वेटेज दिया जाता है । सैन्य सेवा की शर्तें आकर्षक बनाई गईं हैं जिससे नवयुवक/युवतियां इसमें शामिल हों । हाल में महिलाओं को भी स्थायी कमीशन दिया जाना अनुमन्य हुआ है । अब तो फाइटर प्लेन चलाने के लिए भी महिलाएं चयनित हो चुकी हैं ।

इधर हाल के वर्षों में सेना के तीनों अंग मानव संसाधन की कमी से जूझ रहे हैं । थल सेना से इस्तीफा देकर प्राइवेट सिक्यूरिटी एजेंसी चला रहे हैं तो वायु सेना से अलग होकर प्राइवेट प्लेन चला रहे हैं । लोग अपने पाल्यों का उच्च शिक्षा दिलाकर मल्टीनेशनल कंपनियों, कार्पोरेशनों तथा कई बार विदेश में नौकरी कराने के लिए उद्दयत हो रहे हैं । जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम अपनाने के कारण एक-दो बच्चे हैं अतः उन्हें सेना की जोखिम भरी सेवा से विरत रखते हैं । उधर सिविल सेवाओं में अनुशासन, उत्तरदायित्व तथा जवाबदेही में कमी आने से स्तरहीनता दिखलाई पड़ रही है । इन्हीं सब कारणों से संसदीय समिति ने उक्त सिफारिश की है ।

एक जनतांत्रिक देश में सैन्य तथा सिविल सेवाएं अलग-अलग हैं तथा सामान्यतः सेना को नागरिक सेवाओं से दूर रखना ही बेहतर होता है । अत्यंत आपात स्थिति में ही सेना की सहायता ली जानी चाहिए । इससे सेना तथा नागरिक प्रशासन में सामंजस्य रहेगा तथा दोनों का मनोबल ऊंचा रहेगा । संविधान निर्माताओं ने इस बैंत का विशेष ध्यान रखा था । संविधान ने कार्यपालिका की शक्ति राष्ट्रपति में निहित करते हुए संघ के रक्षाबलों का सर्वोच्च समादेश भी निहित किया है लेकिन इसका प्रयोग विधि द्वारा नियमित किया है । देश में सेना ही सत्ता पर काबिज न हो जाए, इसके लिए भी पर्याप्त रक्षोपाय किए गए हैं ।

काम का अधिकार मूल अधिकार न होकर राज्य के नीति निदेशकों का ही हिस्सा हैं जिसमें समान कार्य के लिए समान वेतन के साथ पुरुष और स्त्री, सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त कराने का समादेश है । संसद् तथा राज्य विधान-मंडल विधि बनाकर सरकारी सेवाओं में भर्ती के लिए पांच साल की अनिवार्य सैन्य सेवा का प्रावधान कर सकते हैं । मेडिकल में प्रवेश के लिए गांव में पांच वर्ष तक अनिवार्य सेवा की शर्तें विधिमान्य हैं । यहां यह उल्लेख करना समीचीन है

कि एक बार सेना की सेवा करने के बाद उस व्यक्ति पर सेना का अनुशासन हावी रहेगा जो समय के साथ गहराता जाएगा । सेना-सिविलियंस का गठजोड़ प्रजातान्त्रिक मूल्यों, और प्रतिबद्धताओं पर भारी पड़ सकता है ।

एक बात और है । अभी सेना में किसी प्रकार का आरक्षण नहीं है जबकि सरकारी नौकरियों में यह पचास प्रतिशत तक है । अनिवार्य सैन्य सेवा की शर्त अधिरोपित करने से संविधान की उद्देशिका में वर्णित सामाजिक न्याय पाने के लिए भी नए प्रतिमान निश्तित करने होंगे । संसदीय समिति की सिफारिशें स्वागत योग्य हैं लेकिन गहन विचार-विमर्श के उपरान्त ही इस पर अमल अपेक्षित है ।

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
अतुल ठाकुर **बनाम** हिमाचल प्रदेश राज्य आदि आदि	117
एच. वी. निर्मला और एक अन्य **बनाम** आर. शर्मिला और एक अन्य	132
कॉमन काज़ **बनाम** भारत संघ और अन्य	58
नगय्या और एक अन्य **बनाम** श्रीमती चौदम्मा (मृत) विधिक प्रतिनिधियों के **मार्फत** और एक अन्य	79
नरेन्द्र और अन्य **बनाम** अजबराव **मार्फत** विधिक प्रतिनिधिगण	36
फेड़रेशन ऑफ इंडियन मिनरल्स इंडस्ट्रीज़ **बनाम** भारत संघ और एक अन्य	1
मदन मोहन **बनाम** राजस्थान राज्य और अन्य	69
मध्य प्रदेश राज्य और अन्य **बनाम** आलोक त्रिपाठी और अन्य (देखिए – पृष्ठ संख्या 140)	
मध्य प्रदेश राज्य और अन्य **बनाम** मनोज शर्मा और अन्य	140
राजेन्द्र राजोरिया **बनाम** जगत नारायण थापक और एक अन्य	153
शिव नारायण नागर और अन्य **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य	48
हिमाचल प्रदेश राज्य **बनाम** राज कुमार	102

संसद् के अधिनियम

नोटेरी अधिनियम, 1952	1 – 9
मुखतारनामा अधिनियम, 1882	11 – 14
प्रिवी कौंसिल के निर्णय	1 – 54
सरकारी नौकरी हेतु अनिवार्य सैन्य सेवा की विधिमान्यता	v – ix

पृष्ठ संख्या

खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 (1957 का 67)

– धारा 9ख, 13(2) और 15 – जिला खनिज प्रतिष्ठान – जिला खनिज प्रतिष्ठानों की भूतलक्षी रूप से स्थापना – विधिमान्यता – मात्र इस कारण कि राज्य सरकारों द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना सुसंगत अधिसूचनाओं की तारीख से पूर्व की किसी तारीख से की गई है या की गई समझी गई है, उनका प्रवर्तन भूतलक्षी नहीं हो जाता है तथा जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना अधिसूचनाओं से पूर्व की तारीख से करने से किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक के हितों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था और उन अधिसूचनाओं को उनके प्रकाशन की तारीख से प्रवर्तित मानकर भी जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना संबंधी विधिमान्यता को बचाया जा सकता है ।

फेडरेशन ऑफ इंडियन मिनरल्स इंडस्ट्रीज़ बनाम **भारत संघ और एक अन्य** 1

– धारा 9ख, 13(2) और 15 – जिला खनिज प्रतिष्ठान – जिला खनिज प्रतिष्ठानों में अभिदाय करने की दर विहित करने में केन्द्रीय सरकार की असफलता – चूंकि जिला खनिज प्रतिष्ठानों में अभिदाय करने की केवल अधिकतम दर नियत करना अधिकथित विधि का अपर्याप्त अनुपालन माना जाएगा इसलिए किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठानों में उस तारीख से अभिदाय किए जाने अपेक्षित होंगे जब केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिसूचना जारी करके वे दरें विहित की गई थीं ।

फेडरेशन ऑफ इंडियन मिनरल्स इंडस्ट्रीज़ बनाम **भारत संघ और एक अन्य** 1

पृष्ठ संख्या

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)

– धारा 190(1) – अपराध का संज्ञान – मजिस्ट्रेट को परिवाद पर कार्यवाही करने के लिए समाधानप्रद आधारों के बारे में अपना समाधान कर लेना चाहिए तथा मजिस्ट्रेट के लिए विस्तारपूर्वक कारण देना अपेक्षित नहीं है किंतु संज्ञान करने वाले आदेश में उसके समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर स्वतंत्रतापूर्वक मस्तिष्क का प्रयोग किया जाना अवश्य प्रतिबिम्बित होना चाहिए ।

राजेन्द्र राजोरिया बनाम **जगत नारायण थापक और एक अन्य** 153

– धारा 397 – उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण अधिकारिता – उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण में सेशन न्यायालय को आवेदकों के जमानत आवेदन पर, उसी दिन जिस दिन यह फाइल किया जाए, विचार करने और मंजूर करने का निदेश दिया जाना – कोई वरिष्ठ न्यायालय अधिक्रम संबंधी अधिकारिता में किसी अधीनस्थ न्यायालय को ऐसा निदेश/परमादेश उन्हें यह आदेश देते हुए जारी नहीं कर सकता कि किसी पक्षकार द्वारा फाइल किए गए किसी आवेदन पर एक विशिष्ट आदेश पारित किया जाए ।

मदन मोहन बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य** 69

– धारा 397 – उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण अधिकारिता – पुनरीक्षण में सेशन न्यायालय को आवेदकों के जमानत आवेदन पर विचार करने और उसे मंजूर करने का निदेश दिया जाना – जमानत के लिए आवेदन पर सुनवाई करते समय यह पता लगाने का एकमात्र विवेकाधिकार सेशन न्यायाधीश का है कि जमानत प्रदान करने के लिए तथ्यों के आधार पर अभियुक्त द्वारा मामला बनाया गया है या नहीं और जमानत प्रदान करने या नामंजूर करने में सेशन न्यायाधीश को अपने स्वतंत्र न्यायिक विवेक

पृष्ठ संख्या

का प्रयोग करते हुए विधिक सिद्धांतों को ध्यान में रखकर समुचित सकारण आदेश पारित करता होता है, अतः उच्च न्यायालय का जमानत आवेदन पर विचार करने और उसे मंजूर करने का आदेश देना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है ।

मदन मोहन बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य** 69

– धारा 398 – न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा खारिज किए गए परिवाद में सेशन न्यायालय द्वारा आगे जांच करने का आदेश देते हुए मामला प्रतिप्रेषित किया जाना – मामले के गुणागुण पर कारणों का उल्लेख किया जाना – सेशन न्यायालय द्वारा गुणागुण के आधार पर की गई ऐसी मताभिव्यक्तियां संज्ञान करने की कोटि में नहीं आती हैं, अतः उच्च न्यायालय द्वारा सेशन न्यायालय के आदेश का स्पष्ट रूप से गलत अर्थान्वयन करने के कारण उसके आदेश को कायम नहीं रखा जा सकता है ।

राजेन्द्र राजोरिया बनाम **जगत नारायण थापक और एक अन्य** 153

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

– धारा 300/304 भाग 2 – आपराधिक मानव वध मृत्यु – अभियुक्त द्वारा मृतक पर चाकू से हमला करके गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त किया जाना – मृत्यु – साक्ष्य से यह साबित होने पर कि घटना मृतक की प्रेरणा पर आयोजित शराब पार्टी में एकत्रित हुए मित्रों के बीच अचानक हुई लड़ाई में, किसी पूर्वचिंतन के बिना घटित होने और अभियुक्त-अपीलार्थी द्वारा आवेश की तीव्रता में, कोई असम्यक् फायदा उठाए बिना या क्रूर रीति में कार्य किए बिना और मृत्यु कारित करने के किसी आशय के बिना कृत्य किए जाने की बात पर विचार करते हुए धारा 300 के अपवाद 4 का अवलंब लेना और धारा 304 भाग 2 के अधीन दोषसिद्ध

पृष्ठ संख्या

करते हुए पांच वर्ष के दंडादेश के स्थान पर दस वर्ष का दंडादेश देना उचित होगा ।

अतुल ठाकुर बनाम **हिमाचल प्रदेश राज्य आदि आदि** 117

– धारा 302 [सपठित भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 106] – हत्या – पारिस्थितिक साक्ष्य – अभियुक्त और मृतका का संयुक्त परिवार में साथ-साथ रहना, अभियुक्त द्वारा उसके साथ मारपीट करने के पश्चात् अपने साथ ले जाना – उसे अंतिम बार अभियुक्त के साथ देखा जाना और फिर उसका गायब हो जाना और मृत पाया जाना तथा अभियुक्त द्वारा उसकी गुमशुदगी के बारे में पुलिस में रिपोर्ट तक दर्ज न कराना और उसकी मृत्यु कैसे हुई, इसके बारे में युक्तियुक्त स्पष्टीकरण न देना, ऐसी परिस्थितियां हैं जिन पर संचयी रूप से विचार करने पर एक पूण श्रृंखला बनती है और यह इंगित होता है कि हत्या अभियुक्त द्वारा कारित की गई थी, किसी अन्य द्वारा नहीं ।

हिमाचल प्रदेश राज्य बनाम **राज कुमार** 102

दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम, 1946 (1946 का 25)

– धारा 4ग – केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के पद पर नियुक्ति की वैधता को चुनौती – चूंकि धारा 4ग के अधीन गठित चयन समिति का विनिश्चय सर्वसम्मत था और विनिश्चय किए जाने से पूर्व केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक ने उस विचार-विमर्श में भाग लिया था और वह विनिश्चय सुसंगत सामग्री और विचारणाओं पर आधारित था इसलिए केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक का पद पर नियुक्ति किसी अवैधता से ग्रस्त नहीं है ।

कॉमन काज़ बनाम **भारत संघ और अन्य** 58

पृष्ठ संख्या

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 (1925 का 39)

– धारा 63 [सपठित भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 68] – वसीयत का निष्पादन – पश्चात्वर्ती वसीयत के आधार पर संपत्तियों के विभाजन के लिए समझौता डिक्री प्राप्त करने के बाद पूर्ववर्ती वसीयत के आधार पर वादगत संपत्ति का दावा – यदि पूर्ववर्ती वसीयत को साक्ष्य पेश करके और उस वसीयत को अधिप्रमाणित करने वाले एक साक्षी की परीक्षा करके विधि की दृष्टि से साबित कर दिया जाता है और पश्चात्वर्ती वसीयत में पूर्ववर्ती वसीयत को प्रतिसंहृत करने का कोई उल्लेख नहीं होता है तो पूर्ववर्ती वसीयत अभिभावी होगी ।

एच. वी. निर्मला और एक अन्य बनाम **आर. शर्मिला और एक अन्य** 132

संविधान, 1950

– अनुच्छेद 16 [सपठित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम, 1956 की धारा 26(1)(ङ), (छ) और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम. फिल./पीएच.डी. डिग्री देने के लिए न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 का विनियम 5 और 3] – प्राध्यापकों की नियुक्ति – पात्रता – दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से डिग्री अभिप्राप्त करने के आधार पर आवेदन अस्वीकार किया जाना – चूंकि 2009 के विनियमों के विनियम 5 द्वारा किसी भी विश्वविद्यालय को दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से एम.फिल./पीएच.डी. डिग्री पाठ्यक्रम के संचालन से प्रतिषिद्ध किया गया था और विनियम 3 में इन विनियमों को उनके राजपत्र में प्रकाशन की तारीख से प्रवर्तन में लाया गया था इसलिए ये विनियम भविष्यलक्षी प्रकृति के हैं और इन विनियमों के प्रवर्तन से पूर्व अभिप्राप्त

पृष्ठ संख्या

एम.फिल. अर्हता को रद्द नहीं किया जा सकता है ।

मध्य प्रदेश राज्य और अन्य बनाम **मनोज शर्मा और अन्य** 140

– अनुच्छेद 16 [सपठित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम, 1956 की धारा 26(1)(ङ), (छ),14 और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (सहबद्ध विश्वविद्यालयों और संस्थाओं में अध्यापकों की नियुक्ति और कैरियर उत्कर्ष के लिए न्यूनतम अर्हताएं) विनियम, 2009 का विनियम 1.3.3] – प्राध्यापकों की नियुक्ति के लिए पात्रता – प्राध्यापकों की नियुक्ति के लिए, 2009 के विनियमों के अनुपालन में पीएच.डी. डिग्री धारकों को छूट सहित न्यूनतम पात्रता नेट अर्हता होने के कारण 2009 के विनियमों के प्रवर्तन में आने से पूर्व दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से डिग्री अभिप्राप्त करने वाले प्राध्यापकों की पात्रता के संबंध में 2009 के विनियमों के अनुसार ही विचार किया जाना चाहिए ।

मध्य प्रदेश राज्य और अन्य बनाम **मनोज शर्मा और अन्य** 140

– अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100] – प्रतिकूल कब्जा – अनुज्ञेय कब्जा – प्रतिवादी द्वारा प्रतिकूल कब्जे के आधार पर वाद गृह के एक भाग पर हक और कब्जा होने का दावा करना – वादी द्वारा उसके हक और कब्जे से इस आधार पर इनकार करना कि प्रतिवादी को मात्र अनुज्ञेय कब्जा प्राप्त है – यदि अभिलेख पर यह साबित कर दिया जाए कि वाद गृह पर प्रतिवादी का मात्र अनुज्ञेय कब्जा है न कि प्रतिकूल कब्जा है तो उस वाद गृह में प्रतिवादी का कोई हक और कब्जे का अधिकार सृजित नहीं होगा और अपीलार्थी द्वारा अनुज्ञेय कब्जे के लिए दी गई अनुज्ञा वापस ली जा सकती है । अनुज्ञा वापस किए जाने पर वाद गृह का कब्जा अपीलार्थी को

पृष्ठ संख्या

सौंपना होगा ।

नरेन्द्र और अन्य बनाम **अजबराव** मार्फत **विधिक प्रतिनिधिगण** 36

– अनुच्छेद 133 तथा 34(1)(घ) और 14 और 16 – अपील – संविदा के आधार पर नियुक्ति – नियुक्ति अवैध और तत्समय प्रवृत्त किसी भी विनियम के उल्लंघन में न होना – संविदा के आधार पर निरंतर 10 वर्ष की सेवा करना – पद को नियमित करने से इनकार करना – यदि अभिलेख पर यह सिद्ध हो जाता है कि संविदा के आधार पर कोई नियुक्ति अवैध या तत्समय प्रवृत्त किसी भी विनियमन के विरुद्ध नहीं की गई है और इस प्रकार, नियुक्त व्यक्ति या व्यक्तियों ने निरंतर 10 वर्ष की सेवा कर चुके हैं तो ऐसी नियुक्ति को नियमित करने से मात्र इस आधार पर इनकार नहीं किया जा सकता है कि ऐसी नियुक्ति पिछले दरवाजे से हुई है और नियमितिकरण के लिए कोई पद अस्तित्व में नहीं है ।

शिव नारायण नागर और अन्य बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य** 48

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5)

– आदेश 32 [सपठित हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4(ख)] – अवयस्क द्वारा वाद – कौटुंबिक संपत्ति में अवयस्क के हक के लिए उसके बड़े भाई द्वारा वाद-मित्र के रूप में उसका प्रतिनिधित्व किया जाना – वाद-मित्र के रूप में उसकी नियुक्ति न्यायालय द्वारा या उसकी अनुज्ञा से न होना – यदि कोई व्यक्ति कुटुम्ब की संपत्ति में अवयस्क के हित या हक को संरक्षित करने के लिए वाद-मित्र के रूप में न्यायालय में वाद फाइल करता है, तो न्यायालय द्वारा या उसकी अनुज्ञा से वाद-मित्र के रूप में

पृष्ठ संख्या

उसकी नियुक्ति न होने के बावजूद भी वह विधिमान्य तौर पर उसका प्रतिनिधित्व कर सकता है, चाहे ऐसा व्यक्ति उसका नातेदार ही क्यों न हो बशर्ते उसका हित अवयस्क के हित के प्रतिकूल न हो ।

नगय्या और एक अन्य बनाम **श्रीमती चौदम्मा (मृत) विधिक प्रतिनिधियों के मार्फत और एक अन्य** 79

[2018] 3 उम. नि. प. 1

फेडरेशन ऑफ इंडियन मिनरल्स इंडस्ट्रीज़

बनाम

भारत संघ और एक अन्य

13 अक्तूबर, 2017

न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर, न्यायमूर्ति संजय कृष्ण कौल और न्यायमूर्ति दीपक गुप्ता

खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 (1957 का 67) – धारा 9ख, 13(2) और 15 – जिला खनिज प्रतिष्ठान – जिला खनिज प्रतिष्ठानों की भूतलक्षी रूप से स्थापना – विधिमान्यता – मात्र इस कारण कि राज्य सरकारों द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना सुसंगत अधिसूचनाओं की तारीख से पूर्व की किसी तारीख से की गई है या की गई समझी गई है, उनका प्रवर्तन भूतलक्षी नहीं हो जाता है तथा जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना अधिसूचनाओं से पूर्व की तारीख से करने से किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक के हितों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था और उन अधिसूचनाओं को उनके प्रकाशन की तारीख से प्रवर्तित मानकर भी जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना संबंधी विधिमान्यता को बचाया जा सकता है ।

खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 – धारा 9ख, 13(2) और 15 – जिला खनिज प्रतिष्ठान – जिला खनिज प्रतिष्ठानों में अभिदाय करने की दर विहित करने में केन्द्रीय सरकार की असफलता – चूंकि जिला खनिज प्रतिष्ठानों में अभिदाय करने की केवल अधिकतम दर नियत करना अधिकथित विधि का अपर्याप्त अनुपालन माना जाएगा इसलिए किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठानों में उस तारीख से अभिदाय किए जाने अपेक्षित होंगे जब केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिसूचना जारी करके वे दरें विहित की गई थीं ।

प्रस्तुत मामले में भारत संघ ने खान और खनिज (विकास और

विनियमन) अधिनियम, 1957 (जिसे संक्षेप में "एम.एम.डी.आर. अधिनियम" कहा गया है) में अनेक संशोधन करते हुए तारीख 12 जनवरी, 2015 को एक अध्यादेश प्रख्यापित किया था । अध्यादेश की धारा 9 द्वारा एम.एम.डी.आर. अधिनियम में धारा 9ख अंतःस्थापित की गई है । इस धारा में यह उपबंध है कि राज्य सरकार खनन संक्रियाओं से प्रभावित किसी जिले में जिला खनिज प्रतिष्ठान के नाम से ज्ञात एक अलाभकर निकाय के रूप में एक न्यास की स्थापना करेगी । जिला खनिज प्रतिष्ठान का उद्देश्य खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों और क्षेत्रों के हित और फायदे के लिए कार्य करना होगा । महत्वपूर्ण बात यह है कि इस उपबंध द्वारा किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक से स्वामिस्व का संदाय करने के अतिरिक्त संबंधित डी.एम.एफ. को स्वामिस्व के ऐसे प्रतिशत के समतुल्य रकम का संदाय करने की अपेक्षा की गई है जो केन्द्रीय सरकार द्वारा यथाविहित उसके एक तिहाई से अधिक नहीं होगी । तारीख 27 मार्च, 2015 को अध्यादेश के स्थान पर तारीख 12 जनवरी, 2015 से खान और खनिज (विकास और विनियमन) संशोधन अधिनियम, 2015 रखा गया । व्यापक रूप से, एम.एम.डी.आर. अधिनियम में राज्य सरकार से अपेक्षित था कि वह एक जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करती और केन्द्रीय सरकार से यह अपेक्षित था कि वह जिला खनिज प्रतिष्ठान को किए जाने वाले अभिदाय की दर विहित करती, बशर्ते वह अभिदाय किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा संदेय स्वामिस्व के एक-तिहाई से अधिक न हो । केन्द्रीय सरकार ने, तारीख 16 सितम्बर, 2015 को एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 20क के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए सभी राज्य सरकारों को यह निदेश जारी किया कि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने वाली अधिसूचना में यह कथन किया जाए कि जिला खनिज प्रतिष्ठान के बारे में यह समझा जाएगा कि वह तारीख 12 जनवरी, 2015 को अस्तित्व में आया है । इसके अनुसरण में अनेक राज्य सरकारों ने जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना की थी । खान मंत्रालय ने तारीख 17 सितम्बर, 2015 को खान और खनिज (जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय) नियम, 2015 प्रख्यापित करते हुए एक अधिसूचना जारी की । इस अधिसूचना के निबंधनानुसार, अभिदाय नियमों के बारे में यह समझा जाएगा कि वे तारीख 12 जनवरी, 2015 को प्रवृत्त हुए थे । अधिसूचना के पैरा 2 में, अन्य बातों के साथ-साथ तारीख 12 जनवरी, 2015 को या उसके पश्चात् अनुदत्त खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के

धारक द्वारा संदेय स्वामिस्व के 10 प्रतिशत और तारीख 12 जनवरी, 2015 के पूर्व अनुदत्त खनन पट्टों की बाबत संदेय स्वामिस्व के 30 प्रतिशत की रकम का जिला खनिज प्रतिष्ठान को संदाय करने का उपबंध है । चूंकि खान मंत्रालय के पास एम.एम.डी.आर. का प्रशासन कोयले, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से भिन्न खनिजों तक सीमित है इसलिए यह मान लिया गया है कि इस अधिसूचना का संबंध इन तीन खनिजों से नहीं था । कोयला मंत्रालय ने तारीख 20 अक्तूबर, 2015 को खान और खनिज (जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय) नियम, 2015 प्रख्यापित करते हुए एक अधिसूचना जारी की । अभिदाय नियमों के बारे में यह समझा गया है कि वे राजपत्र में उनके प्रकाशन की तारीख को प्रवृत्त हुए । ये नियम जिला खनिज प्रतिष्ठान को उसी दर पर और उन्हीं निबंधनों में, जो तारीख 17 सितम्बर, 2015 की अधिसूचना में उल्लिखित हैं संदाय करने के संबंध में हैं । प्रश्नगत अधिसूचना में, जो कि कोयला मंत्रालय द्वारा जारी की गई है, विनिर्दिष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि ये नियम कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत की बाबत थे । तारीख 30 अक्तूबर, 2015 की अधिसूचना में जो कुछ महत्वपूर्ण है, वह उसका पैरा 3 है । इसमें यह उपबंध किया गया है कि जिला खनिज प्रतिष्ठान को संदेय रकम, राज्य सरकार द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने के लिए एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख(1) के अधीन जारी की गई अधिसूचना की तारीख से या अभिदाय नियमों के प्रवर्तन में आने की तारीख से, इनमें से जो भी पश्चात्वर्ती हो, संदत्त की जाएगी । कोयला मंत्रालय ने तारीख 31 अगस्त, 2016 को एक अन्य अधिसूचना जारी की, जिसके द्वारा तारीख 20 अक्तूबर, 2015 की अधिसूचना के पैरा 3 को प्रतिस्थापित किया गया । प्रतिस्थापित पैरा में यह उपबंध किया गया है कि तारीख 20 अक्तूबर, 2015 की अधिसूचना के अधीन संदाय जिला खनिज प्रतिष्ठान को 12 जनवरी, 2015 से किया जाएगा । इन अधिसूचनाओं के आधार पर याचियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल द्वारा उठाए गए प्रश्न ये हैं : प्रथमतः, क्या जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना 12 जनवरी, 2015 से की जा सकेगी ? द्वितीयतः, क्या जिला खनिज प्रतिष्ठानों में अभिदाय, याचियों द्वारा 12 जनवरी, 2015 से अभिदाय नियमों के दोनों समूहों में उल्लिखित दर पर किए जाने अपेक्षित थे ? इन अधिसूचनाओं की विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी या वे उनके निर्वचन और उनके प्रभाव पर निर्भर करते हुए, इस सीमा तक चुनौती के अधीन थीं । उच्चतम न्यायालय द्वारा मामलों का तद्नुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 की धारा 9ख की उपधारा (1) के निबंधनानुसार, राज्य सरकार के लिए एक अलाभकर निकाय के रूप में एक न्यास की स्थापना करना अपेक्षित है और उस न्यास को जिला खनिज प्रतिष्ठान कहा जाएगा । राज्य सरकार को न्यास की स्थापना करने के लिए एक अधिसूचना जारी करनी होगी । यह विनिश्चित करना संपूर्ण रूप से राज्य सरकार पर निर्भर करता है कि न्यास की स्थापना किस तारीख से की जानी है । इसमें केन्द्रीय सरकार की कोई भूमिका नहीं है, यद्यपि केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को 12 जनवरी, 2015 से एक न्यास की स्थापना करने का निदेश जारी किया गया था । किन्तु, बहरहाल, राज्य सरकारों ने – कुछ राज्यों ने 12 जनवरी, 2015 से और कुछ राज्यों ने जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने वाली अधिसूचना की तारीख से जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करते हुए अधिसूचना जारी की थी । याचियों की दलील यह है कि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना अधिसूचना की तारीख से पूर्व की भूतलक्षी तारीख से नहीं की जा सकती थी । इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रथमतः यह विनिश्चित करना आवश्यक है कि क्या जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना वास्तव में भूतलक्षी तारीख से की गई है । विद्वान् अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना भूतलक्षी प्रभाव से नहीं की गई थी । उसकी दलील यह है कि एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख के अधीन जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना 12 जनवरी, 2015 से या उसके पश्चात् किसी तारीख से की जा सकती थी । कुछ राज्यों ने केन्द्रीय सरकार के निदेश के होते हुए भी किसी पूर्ववर्ती तारीख से (12 जनवरी, 2015) जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करते हुए अधिसूचना जारी करने का विकल्प अपनाया जबकि कुछ अन्य राज्यों ने ऐसा नहीं किया । विद्वान् अपर महासालिसिटर के अनुसार, अधिसूचना की तारीख से किसी पूर्ववर्ती तारीख से जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने का यह अर्थ नहीं था कि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना भूतलक्षी प्रभाव से की गई थी । (पैरा 14, 15 और 16)

जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने के लिए अधिसूचनाएं एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख के उपबंधों के अनुसरण में जारी की गई थीं । ऐसा प्रतीत होता है कि संसद् का आशय राज्य सरकारों के लिए 12 जनवरी, 2015 से जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करना था चूंकि इसका उद्देश्य खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों और क्षेत्रों के हित और फायदे के लिए कार्य करना है । चूंकि इसका उद्देश्य उन

व्यक्तियों का कल्याण करना है जो खनन संक्रियाओं से प्रतिकूल रूप से प्रभावित हैं, इसलिए जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना 12 जनवरी, 2015 को की जानी चाहिए थी । तथापि, न कि आश्चर्यजनक रूप से, प्रत्येक राज्य सरकार ने आराम से कार्य किया जिसके कारण केन्द्रीय सरकार तारीख 16 सितम्बर, 2015 को एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 20क के अधीन एक निदेश जारी करने के लिए बाध्य हुई, जिसमें राज्य सरकारों से यह अधिसूचना जारी करने की अपेक्षा की गई कि जिला खनिज प्रतिष्ठान के बारे में यह समझा जाएगा कि वह 12 जनवरी, 2015 से अस्तित्व में आया है । किसी भी दशा में, यह मान लेने पर कि चूंकि जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना अधिसूचना की तारीख से पूर्व वाली किसी तारीख से की गई थी और इसलिए उनकी स्थापना भूतलक्षी प्रभाव से की गई थी, तो भी उनकी स्थापना से किसी भी व्यक्ति के निहित अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था । यह महत्वपूर्ण है । अतः, अधिसूचनाओं के 12 जनवरी, 2015 से प्रवर्तन के बारे में कोई वास्तविक आक्षेप नहीं हो सकता है । जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना 12 जनवरी, 2015 से पूर्व की किसी तारीख से नहीं की गई थी और उस सीमा तक उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उनकी स्थापना भूतलक्षी प्रभाव से की गई है । (पैरा 18 और 19)

यह स्पष्ट है कि एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 15 राज्य सरकार को विनिर्दिष्ट रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा कोई नियम भूतलक्षी प्रभाव से विरचित करने के लिए सशक्त नहीं करती है । इसके अलावा, एम.एम.डी.आर. अधिनियम में राज्य सरकार को ऐसी कोई विनिर्दिष्ट शक्ति प्रदत्त नहीं की गई है जिसके द्वारा वे काल्पनिक रूप से जिला खनिज प्रतिष्ठान का सृजन कर सके जिसके बारे में यह समझा जाए कि वह जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने वाली अधिसूचना की तारीख से किसी पूर्ववर्ती तारीख से अस्तित्व में था । इसलिए, एम.एम.डी.आर. अधिनियम के उन उपबंधों के अधीन, जो इस मामले से संबंधित हैं, किसी राज्य सरकार को भूतलक्षी प्रभाव से कोई नियम विरचित करने या विनिर्दिष्ट रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा कोई धारणात्मक कल्पना सृजित करने की शक्ति नहीं है । इसी प्रकार, एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 13 द्वारा केन्द्रीय सरकार को भूतलक्षी प्रभाव से कोई नियम विरचित करने की विनिर्दिष्ट शक्ति प्रदान नहीं की गई है । एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 13(2) में अंतःस्थापित खंड (थथक) के साथ पठित धारा 9ख(5) और (6) केन्द्रीय सरकार को ऐसे नियम बनाने

के लिए समर्थ बनाती है जिनमें एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख(1) के अधीन राज्य सरकार द्वारा स्थापित जिला खनिज प्रतिष्ठान में संदाय की जाने वाली रकम का उपबंध हो । इन उपबंधों में से किसी भी उपबंध में, केन्द्रीय सरकार को किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक से जिला खनिज प्रतिष्ठान में भूतलक्षी प्रभाव से अभिदाय करने की अपेक्षा करने की शक्ति प्रदान नहीं की गई है । अतः, केन्द्रीय सरकार की नियम बनाने की शक्ति की परिधि और सीमा भी सीमित है । राज्य सरकारों द्वारा जारी की गई अधिसूचनाओं के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि उनसे यह अभिप्रेत है कि (या मानते हुए कि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना किसी पश्चात्वर्ती तारीख को जारी की गई अधिसूचना द्वारा तारीख 12 जनवरी, 2015 से नहीं की जा सकती थी) जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना प्रत्येक अधिसूचना के प्रकाशन की तारीख को की गई थी । किसी नियम, विनियम या अधिसूचना की विधिमान्यता को यथासंभव सीमा तक कायम रखा जाना चाहिए । किसी अधिसूचना को राज्य सरकार की नियम बनाने की शक्ति के अधिकारातीत घोषित करना बाध्यकारी नहीं है यदि उसकी विधिमान्यता को विधि का अतिक्रमण किए बिना बचाया जा सकता है । इन मामलों में, अधिसूचनाओं को भूतलक्षी तारीख से जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने की सीमा तक राज्य सरकारों की नियम बनाने की शक्ति के अधिकारातीत घोषित करना बाध्यकारी नहीं है क्योंकि उनका इस रूप में पठन करके कि वे प्रकाशन की तारीख से प्रवर्तनीय हैं, उनकी विधिमान्यता को बचाया जा सकता है । अतः, प्रथम प्रश्न के संबंध में उत्तर यह है कि जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना भूतलक्षी रूप से नहीं की गई थी हालांकि अधिसूचनाओं द्वारा उन्हें अधिसूचनाओं की तारीख से पूर्ववर्ती तारीख से – किन्तु जो अध्यादेश की तारीख से पूर्व की तारीख नहीं है, स्थापित किया गया है । मान लीजिए, जिला खनिज प्रतिष्ठानों को भूतलक्षी प्रभाव से तारीख 12 जनवरी, 2015 से स्थापित किया गया था फिर भी इससे कोई अंतर नहीं पड़ता चूंकि भूतलक्षी प्रभाव से स्थापना करने के कारण किसी भी व्यक्ति के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है । अन्यथा भी, उनकी विधिमान्यता को, उनका इस रूप में पठन करके बचाया जा सकता है कि वे प्रकाशन की तारीख से प्रवर्तनीय थीं । (पैरा 23, 24, 25 और 26)

विधि द्वारा जो कुछ अपेक्षित है वह निश्चितता है न कि अस्पष्टता – एक-तिहाई से अनधिक का अर्थ एक-चौथाई या पांचवां भाग या कुछ अन्य अंश हो सकेगा । यही अनिश्चितता आक्षेपणीय है । केन्द्रीय सरकार के

खान मंत्रालय ने तारीख 17 सितम्बर, 2015 को कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से भिन्न खनिजों की बाबत जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय करने के संबंध में एक अधिसूचना जारी की । उस अधिसूचना में वह दर विनिर्दिष्ट की गई है जिस पर किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा अभिदाय किया जाना था । यद्यपि अधिसूचना में यह उपबंध किया गया है कि अभिदाय 12 जनवरी, 2015 से संदेय है तथापि, इस निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए कि जिला खनिज प्रतिष्ठान में किया जाने वाला अभिदाय भूतलक्षी प्रभाव से नहीं हो सकता है इसलिए यह केवल अधिसूचना की तारीख से, अर्थात् 17 सितम्बर, 2015 से ही संदेय होगा हालांकि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना 12 जनवरी, 2015 से की गई थी या की गई समझी गई थी । (पैरा 32 और 35)

जिला खनिज प्रतिष्ठान का उद्देश्य "खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों और क्षेत्रों के हित और फायदे के लिए कार्य करना" है । एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख का प्रयोजन और जिला खनिज प्रतिष्ठान का उद्देश्य खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों के लिए – जिनके अंतर्गत ऐसे जनजातीय लोग भी हैं, जिन्हें उनके अपने आवास से हटाया या विस्थापित किया गया हो, सामाजिक न्याय के हेतुक को अग्रसर करना है । उन्हें केवल इस कारण उनके अधिकारवान् फायदे से इनकार करना कि राज्य सरकार ने जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने में ढिलाई दिखाई, उनके साथ अन्याय करना होगा । (पैरा 37)

केन्द्रीय सरकार द्वारा तारीख 12 जनवरी, 2015 को वह दर, जिस पर जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय किए जाने अपेक्षित हैं, विहित करने में हुई असफलता को ध्यान में रखते हुए, जिला खनिज प्रतिष्ठान में तारीख 12 जनवरी, 2015 से अभिदाय किए जाने पर जोर नहीं दिया जा सकता है । जिला खनिज प्रतिष्ठान में किए जाने वाले अभिदाय की अधिकतम दर नियत करना अधिकथित विधि का अपर्याप्त अनुपालन है । कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से भिन्न खनिजों की दशा में, किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान में तारीख 17 सितम्बर, 2015 से, जब केन्द्रीय सरकार द्वारा दरें विहित की गई थीं, अभिदाय किए जाने अपेक्षित हैं । कोयला लिग्नाइट और भराई के लिए रेत की दशा में खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान में तारीख 20 अक्तूबर, 2015 से, जब केन्द्रीय सरकार द्वारा दरें विहित की

गई थीं या उस तारीख से, जिसको राज्य सरकार द्वारा, अधिसूचना द्वारा, जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना की गई थी, इनमें से जो भी पश्चात्वर्ती हो, अभिदाय किए जाने अपेक्षित हैं । केन्द्रीय सरकार द्वारा जारी की गई तारीख 31 अगस्त, 2016 की अधिसूचना अविधिमान्य है और उसे विखंडित किया जाता है क्योंकि वह एम.एम.डी.आर. अधिनियम के अधीन केन्द्रीय सरकार की नियम बनाने की शक्ति के अधिकारातीत है । यह आशा की जाती है कि राज्य सरकारें अपने उत्तरदायित्वों को समझें और जिला खनिज निधि में किए जा रहे अभिदायों का उपयोग तुरंत और उस उद्देश्य के लिए करें जिसके लिए उनकी स्थापना की गई है, विशेष रूप से इसलिए क्योंकि इसमें अंतर्वलित रकमें बहुत बड़ी हैं । खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के उन धारकों को जिन्होंने जिला खनिज निधियों में पूरा अभिदाय नहीं किया है, अभिदाय करने के लिए 31 दिसम्बर, 2017 तक का समय अनुदत्त किया जाता है जिसके न हो सकने पर वे नियत तारीख से 15 प्रतिशत वार्षिक दर पर ब्याज सहित अभिदाय करने के लिए दायी होंगे । यदि किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के किसी धारक ने गलती से जिला खनिज निधि में उस तारीख से जो कि निर्धारित की गई है, पूर्व वाली किसी तारीख से अभिदाय किए हैं, खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे का ऐसा धारक किसी प्रतिदाय का हकदार नहीं होगा बल्कि वह उस अभिदाय को किसी ब्याज के फायदे के बिना, भावी अभिदायों में समायोजित करा सकेगा । (पैरा 46, 47 और 48)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2016]	(2016) 1 एस. सी. सी. 600 : **ए. प्रभाकर रेड्डी** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ;	39
[2015]	(2015) 1 एस. सी. सी. 1 : **आयकर आयुक्त (केन्द्रीय) – I** बनाम **वाटिका टाउनशिप प्राइवेट लिमिटेड** ;	22,26,30,46
[2013]	(2013) 15 एस. सी. सी. 1 : **राजस्थान राज्य** बनाम **बसन्त एग्रोटैक (इंडिया) लिमिटेड** ;	21
[2009]	(2009) 2 एस. सी. सी. 589 : **पंची देवी** बनाम **राजस्थान राज्य** ;	21

[2006]	(2006) 3 एस. सी. सी. 620 : **महाबीर वेजीटेबल ऑयल्स (प्राइवेट) लिमिटेड** बनाम **हरियाणा राज्य** ;	21
[1992]	(1992) 3 एस. सी. सी. 285 : **अहमदाबाद शहरी विकास प्राधिकरण** बनाम **शरदकुमार जयन्तीकुमार पासावाला** ;	21
[1985]	(1985) (सप्ली.) एस. सी. सी. 205 : **मैसर्स गोविन्द शरण गंगा शरण** बनाम **विक्रय कर आयुक्त** ;	27,28,30
[1972]	(1972) 2 एस. सी. सी. 601 : **हुकुम चन्द** बनाम **भारत संघ** ;	21
[1955]	[1955] 2 एस. सी. आर. 1196 : **ए. थंगल कुंजु मुसलियार** बनाम **एन. वेंकटचलम पोट्टी ।**	16,17,19,20,25,26

आरंभिक (सिविल) अधिकारिता : **2016 का अंतरित मामला (सिविल) सं. 43, 2016 की रिट याचिका (सिविल) सं. 886, 912, 989, 1003, 1014 और 1028 2016 की अंतरित मामला (सिविल) सं. 51 और 74-76, 2017 की रिट याचिका (सिविल) सं. 27, 67, 69, 112, 201 और 205 तथा 2017 की विशेष इजाजत याचिका (सिविल) सं. 12099, 12184-12185, 14693 और 16885.**

भारत के संविधान, 1950 के अनुच्छेद 139क के अधीन याचिकाएं ।

उपस्थित होने वाले पक्षकारों की ओर से

सर्वश्री मनिन्दर सिंह, ए. एन. एस. नादकर्णी, अपर महासालिसिटर, एम. एल. शर्मा, डा. अभिषेक मनु सिंघवी, ध्रुव मेहता, सुब्रमण्यम प्रसाद, अरविन्द दतार, के. वी. विश्वनाथन, सी. एल. पांडेय, ए. के. पंडा, जगदीप धनखड़, प्रशांतो चन्द्र सेन, ज्येष्ठ अधिवक्ता, मनीष कुमार सरण, रेखा बनकर, सुनील डोगरा, विवेक विश्नोई, अभिषेक शर्मा, पल्लव मोंगिया, गगन संघा, रामेश्वर प्रसाद गोयल, प्रिया पुरी,

शरद पुरी, वैभव श्रीवास्तव, रंजय कुमार दूबे, स्वतंत्र राय, देवाशीष भरुका, रवि भरुका, जस्टिन जार्ज, हिमांजली गौतम, (सुश्री) विनीता भार्गव (ई. सी. अग्रवाल और मैसर्स खेतान एंड कंपनी की ओर से), प्रवीन कुमार, (सुश्री) बबीता पंत, असीम चतुर्वेदी, सारंगन अरविन्दकासन (मैसर्स खेतान एंड कंपनी की ओर से), आकाश बजाज, गौरव जुनेजा, संजीव के. कपूर (मैसर्स खेतान एंड कंपनी की ओर से), सुष्मित पुष्कर, अक्षय सप्रे, अभिजीत स्वरूप, (सुश्री) ईशा संधु, सचिन मित्तल, (सुश्री) अनन्या पांडेय, आर. बालासुब्रमण्यम, प्रभास बजाज, एस. ए. हसीब, विभु शंकर मिश्रा, गुरमीत सिंह मक्कड़, मेरूसागर समंत्रय, (सुश्री) विदूषी, (सुश्री) लिंगवेवह, एम. के. मरोरिया, कुलदीप चौहान, आर. के. राठौड़, अक्षय अमृतांशु, (सुश्री) आरती शर्मा, दीपक गोयल, (सुश्री) सुप्रिया, वैभव अग्निहोत्री, ग्रुप कैप्टन करण सिंह भाटी, हेमेन्द्र शर्मा, कुनाल ए. चीमा, निशांत आर. कटनेश्वरकर, (सुश्री) हेमन्तिका वाही, (सुश्री) जेसल वाही, (सुश्री) पूजा सिंह, शोधिका शर्मा, अतुल झा, संदीप झा, धर्मेन्द्र कुमार सिन्हा, (सुश्री) प्राची मिश्रा, सी. डी. सिंह, (सुश्री) साक्षी कक्कड़, गौरव शुक्ला, चैतन्य, (सुश्री) प्रज्ञा गर्ग, सुनीत पाढी, मिश्रा सौरभ, (सुश्री) वंशजा शुक्ला, अनुपम लाल दास, अनिरुद्ध सिंह, कृशानु बरुआ, पी. एस. सुधीर, ऋषि महेश्वरी, (सुश्री) सनह बट्टा, अभिनव गोयल, सौरभ जैन, गौतम सिंह, कौशिक पोद्दार, अनिप सचदे, अंजली चौहान, (सुश्री) रिया सचदे, यू. ए. राणा, हिमांशु मेहता, अविरत कुमार (मैसर्स गगरात एंड कंपनी), अनुज त्यागी, (सुश्री) सुगन्धा खेतान, (सुश्री) मैत्री काकदे, अंशुमन श्रीवास्तव, बी. रमना मूर्ति (अनंत नारायण की ओर से)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर ने दिया ।

न्या. लोकुर – याचिका के इस समूह का (जिसके अंतर्गत अंतरित मामले/याचिकाएं भी हैं) संबंध खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 के अधीन जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने और किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा स्वामिस्व का संदाय करने के अतिरिक्त जिला खनिज प्रतिष्ठान को किए जाने के लिए अपेक्षित अभिदाय से है ।

12 जनवरी, 2015 का अध्यादेश

2. राष्ट्रपति ने खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 (जिसे संक्षेप में "एम.एम.डी.आर. अधिनियम" कहा गया है) में अनेक संशोधन करते हुए तारीख 12 जनवरी, 2015 को एक अध्यादेश प्रख्यापित किया था । हमारा संबंध इन संशोधनों में से केवल कुछ संशोधनों से हैं, जिन्हें नीचे वर्णित किया गया है :–

> (i) अध्यादेश की धारा 9 द्वारा एम.एम.डी.आर. अधिनियम में धारा 9ख अंतःस्थापित की गई है । इस धारा में यह उपबंध है कि राज्य सरकार खनन संक्रियाओं से प्रभावित किसी जिले में जिला खनिज प्रतिष्ठान (जिसे संक्षेप में "डी.एम.एफ." कहा गया है) के नाम से ज्ञात एक अलाभकर निकाय के रूप में एक न्यास की स्थापना करेगी । डी.एम.एफ. का उद्देश्य खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों और क्षेत्रों के हित और फायदे के लिए कार्य करना होगा ।

महत्वपूर्ण बात यह है कि इस उपबंध द्वारा किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक से स्वामिस्व का संदाय करने के अतिरिक्त संबंधित डी.एम.एफ. को स्वामिस्व के ऐसे प्रतिशत के समतुल्य रकम का संदाय करने की अपेक्षा की गई है जो केन्द्रीय सरकार द्वारा यथाविहित उसके एक तिहाई से अधिक नहीं होगी । अध्यादेश द्वारा यथा अंतःस्थापित एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख निम्न प्रकार है :–

> "**9ख. जिला खनिज प्रतिष्ठान** – (1) राज्य सरकार, अधिसूचना द्वारा, खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित किसी जिले में जिला खनिज प्रतिष्ठान के नाम से ज्ञात एक अलाभकर निकाय के रूप में एक न्यास की स्थापना करेगा ।
>
> (2) जिला खनन प्रतिष्ठान का उद्देश्य खनन से संबंधित

संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों और क्षेत्रों के हित और फायदे के लिए ऐसी रीति में कार्य करना होगा, जो राज्य सरकार द्वारा विहित की जाए ।

(3) जिला खनिज प्रतिष्ठान का गठन और कृत्य वे होंगे जो राज्य सरकार द्वारा विहित किए जाएं ।

(4) खनन पट्टा या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टा धारक उस जिले, जिसमें खनन संक्रियाएं की जा रही हैं, के जिला खनिज प्रतिष्ठान को स्वामिस्व का संदाय करने के अतिरिक्त, द्वितीय अनुसूची के निबंधनों में संदत्त स्वामिस्व के ऐसे प्रतिशत के समान एक रकम का संदाय करेगा, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा यथाविहित ऐसे स्वामिस्व के एक तिहाई से अधिक नहीं होगी ।"

(ii) अध्यादेश की धारा 14 द्वारा खनिजों की बाबत नियम बनाने की केन्द्रीय सरकार की शक्ति से संबंधित एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 13(2) में उपखंड (थथक) अंतःस्थापित किया गया था । एम.एम.डी.आर. अधिनियम में यथा अंतःस्थापित खंड (थथक) निम्नलिखित रूप में है –

> "(थथक) धारा 9ख की उपधारा (4) के अधीन जिला खनिज प्रतिष्ठान को किए जाने वाले संदाय की रकम;"

(iii) अध्यादेश की धारा 15 द्वारा गौण खनिजों की बाबत नियम बनाने की राज्य सरकारों की शक्ति से संबंधित एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 15 में उपधारा (4) अंतःस्थापित की गई थी । एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 15 में यथा अंतःस्थापित उपधारा (4) निम्नलिखित रूप में है :–

"15. **धारा 15 का संशोधन** – मूल अधिनियम की धारा 15 की उपधारा (3) के पश्चात् निम्नलिखित उपधारा अंतःस्थापित की जाएगी, अर्थात् –

> "(4) राज्य सरकार, उपधारा (1), उपधारा (2) और उपधारा (3) पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना अधिसूचना द्वारा, निम्नलिखित के लिए इस अधिनियम के उपबंधों को विनियमित करने के लिए नियम बना सकेगी, अर्थात् –
>
> (क) वह रीति, जिसमें जिला खनिज प्रतिष्ठान धारा 9ख

की उपधारा (2) के अधीन खनन द्वारा प्रभावित व्यक्तियों और क्षेत्रों के हित और फायदे के लिए कार्य करेगा;

(ख) धारा 9ख की उपधारा (3) के अधीन जिला खनिज प्रतिष्ठान की संरचना और कृत्य; और

(ग) धारा 15क के अधीन गौण खनिजों का रियायती-धारकों द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान को किए जाने वाले संदाय की रकम ।"

(iv) अध्यादेश की धारा 18 द्वारा एम.एम.डी.आर. अधिनियम में केन्द्रीय सरकार की निदेश देने की शक्ति से संबंधित धारा 20क अंतःस्थापित की गई थी । यह कहने के सिवाय एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 20क के उपबंधों को उद्धृत करना आवश्यक नहीं है कि इस धारा द्वारा केन्द्रीय सरकार को खनिज संसाधनों के संरक्षण के लिए या राष्ट्रीय हित में किसी नीति के विषय पर और खनिज संसाधनों के वैज्ञानिक और भरणीय विकास तथा अन्वेषण के लिए समुचित निदेश जारी करने के लिए समर्थ बनाया गया है ।

एम.एम.डी.आर. अधिनियम में संशोधन

3. तारीख 27 मार्च, 2015 को अध्यादेश के स्थान पर तारीख 12 जनवरी, 2015 से खान और खनिज (विकास और विनियमन) संशोधन अधिनियम, 2015 रखा गया । तथापि, धारा 9ख और धारा 13(2) के खंड (थथक) में और संशोधन किया गया और अब वे निम्नलिखित रूप में हैं :–

"**9ख. जिला खनिज प्रतिष्ठान** - (1) राज्य सरकार, अधिसूचना द्वारा, खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित किसी जिले में जिला खनिज प्रतिष्ठान के नाम से ज्ञात एक अलाभकर निकाय के रूप में एक न्यास की स्थापना करेगी ।

(2) जिला खनन प्रतिष्ठान का उद्देश्य खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों और क्षेत्रों के हित और फायदे के लिए ऐसी रीति में कार्य करना होगा, जो राज्य सरकार द्वारा विहित की जाए ।

(3) जिला खनिज प्रतिष्ठान का गठन और कृत्य वे होंगे जो राज्य सरकार द्वारा विहित किए जाएं ।

(4) राज्य सरकार, उपधारा (2) और उपधारा (3) के अधीन

नियम बनाते समय अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन से संबंधित संविधान की पांचवीं और छठी अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 244 में अंतर्विष्ट उपबंधों और पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम, 1996 तथा अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 के उपबंधों द्वारा मार्गदर्शित होगी ।

(5) खान और खनिज (विकास और विनियमन) संशोधन अधिनियम, 2015 के प्रारंभ की तारीख को या उसके पश्चात् अनुदत्त, खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे का धारक, उस जिले के जिला खनिज प्रतिष्ठान को, जिसमें खनन संक्रियाएं की गई हैं, स्वामिस्व के अतिरिक्त ऐसी रकम का संदाय करेगा जो दूसरी अनुसूची के निबंधनानुसार संदत्त स्वामिस्व के ऐसी प्रतिशतता के समतुल्य है, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा विहित किया जाए, किन्तु जो ऐसे स्वामिस्व के एक तिहाई से अधिक नहीं हो ।

(6) खान और खनिज (विकास और विनियमन) संशोधन अधिनियम, 2015 के प्रारंभ की तारीख से पहले अनुदत्त खनन पट्टे का धारक, उस जिले के जिला खनिज प्रतिष्ठान को, जिसमें खनन संक्रियाएं की गई हैं, स्वामिस्व के अतिरिक्त, द्वितीय अनुसूची के निबंधनानुसार, ऐसी रीति में तथा खनन पट्टों के वर्गीकरण और पट्टा धारकों के विभिन्न वर्गों द्वारा संदेय रकमों के अधीन रहते हुए, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा विहित की जाए, संदत्त स्वामिस्व से अनधिक किसी रकम का संदाय करेगा ।"

"(थथक) धारा 9ख की उपधारा (5) और उपधारा (6) के अधीन जिला खनिज प्रतिष्ठान को किए जाने वाले संदाय की रकम ।"

4. व्यापक रूप से, एम.एम.डी.आर. अधिनियम में राज्य सरकार से अपेक्षित था कि वह एक जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करती और केन्द्रीय सरकार से यह अपेक्षित था कि वह जिला खनिज प्रतिष्ठान को किए जाने वाले अभिदाय की दर विहित करती, बशर्ते वह अभिदाय किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा संदेय स्वामिस्व के एक-तिहाई से अधिक न हो ।

जारी की गई अधिसूचनाएं

5. केन्द्रीय सरकार ने, तारीख 16 सितम्बर, 2015 को

एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 20क के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए सभी राज्य सरकारों को यह निदेश जारी किया कि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने वाली अधिसूचना में यह कथन किया जाए कि जिला खनिज प्रतिष्ठान के बारे में यह समझा जाएगा कि वह तारीख 12 जनवरी, 2015 को अस्तित्व में आया है । तारीख 16 सितम्बर, 2015 का निदेश निम्नलिखित रूप में है :–

"सं. 16/7/2015-एम. VI (भाग)
भारत सरकार
खान मंत्रालय
नई दिल्ली, शास्त्री भवन
तारीख 16 सितम्बर, 2015

आदेश

राज्य सरकारें, खान और खनिज (विकास और विनियमन) (एम.एम.डी.आर.) अधिनियम, 1957 (1957 का 67) की धारा 9ख की उपधारा (1) के उपबंधों के निबंधनानुसार, अधिसूचना द्वारा, खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित देश के प्रत्येक जिले में जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करेंगी ।

उक्त उपबंध तारीख 12 जनवरी, 2015 को प्रवृत्त हुए समझे जाएंगे ।

अतः, अब, केन्द्रीय सरकार, एम.एम.डी.आर. अधिनियम, 1957 की धारा 20क के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, राष्ट्रीय हित में संबंधित राज्य सरकारों को यह निदेश देती है कि जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना करने वाली अधिसूचना में यह कथन होगा कि ऐसे जिला खनिज प्रतिष्ठान तारीख 12 जनवरी, 2015 को अस्तित्व में आए समझे जाएंगे ।

(आर. श्रीधरन)
अपर सचिव, भारत सरकार"

6. हमारे लिए यह उल्लेख करने के सिवाय, इस निदेश की विधिमान्यता की परीक्षा करना आवश्यक नहीं है, कि इसके अनुसरण में अनेक राज्य सरकारों ने, नीचे दी गई सारणी के अनुसार जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना की थी :–

जिला खनिज प्रतिष्ठान की अधिसूचना और स्थापना की तारीख			
	राज्य	अधिसूचना की तारीख	स्थापना की तारीख
1.	आन्ध्र प्रदेश	14.3.2016	14.3.2016
2.	छत्तीसगढ़	22.12.2015	12.1.2015
3.	गोवा	15.1.2016	12.1.2015
4.	हरियाणा	17.11.2016	12.1.2015
5.	झारखंड	22.3.2016	12.1.2015
6.	कर्नाटक	11.1.2016	12.1.2015
7.	मध्य प्रदेश	15.5.2015	15.5.2015
8.	महाराष्ट्र	1.9.2016	16.9.2015
9.	ओडिशा	18.8.2015	18.8.2015
10.	राजस्थान	31.5.2016	12.1.2015
11.	तमिलनाडु	19.5.2017	19.5.2017
12.	तेलंगाना	21.8.2015	21.8.2015
13.	उत्तर प्रदेश	25.4.2017	12.1.2015
14.	पश्चिमी बंगाल	3.3.2016	3.3.2016

7. खान मंत्रालय ने तारीख 17 सितम्बर, 2015 को खान और खनिज (जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय) नियम, 2015[1] प्रख्यापित करते हुए एक अधिसूचना जारी की । इस अधिसूचना के निबंधनानुसार, अभिदाय नियमों के बारे में यह समझा जाएगा कि वे तारीख 12 जनवरी, 2015 को प्रवृत्त हुए थे । अधिसूचना के पैरा 2 में, अन्य बातों के साथ-साथ तारीख 12 जनवरी, 2015 को या उसके पश्चात् अनुदत्त खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा संदेय स्वामिस्व के 10 प्रतिशत और तारीख 12 जनवरी, 2015 के पूर्व अनुदत्त खनन पट्टों की बाबत संदेय स्वामिस्व के 30 प्रतिशत की रकम का जिला खनिज प्रतिष्ठान

[1] कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से भिन्न खनिजों के लिए एम.एम.डी.आर. अधिनियम का प्रशासन खान मंत्रालय के पास है ।

को संदाय करने का उपबंध है ।

8. चूंकि खान मंत्रालय के पास एम.एम.डी.आर. का प्रशासन कोयले, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से भिन्न खनिजों तक सीमित है इसलिए यह मान लिया गया है कि इस अधिसूचना का संबंध इन तीन खनिजों से नहीं था ।

9. तारीख 17 सितम्बर, 2015 की अधिसूचना निम्न प्रकार है :–

"खान मंत्रालय
अधिसूचना
नई दिल्ली, तारीख 17 सितम्बर, 2015

सा.का.नि. 715(अ) – केन्द्रीय सरकार, खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 (1957 का 67) की धारा 9ख की उपधारा (5) और उपधारा (6) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, किसी खनन पट्टा अथवा किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टा धारक द्वारा, उस जिले के, जिसमें खनन संक्रियाएं की जाती हैं, संबंधित राज्य सरकार द्वारा अधिसूचना द्वारा, स्थापित जिला खनिज प्रतिष्ठान को स्वामिस्व के अतिरिक्त संदत्त की जाने वाली रकम विनिर्दिष्ट करते हुए निम्नलिखित नियम बनाती है, अर्थात् :–

1. संक्षिप्त नाम और प्रारंभ – (1) इन नियमों का संक्षिप्त नाम (जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय) नियम, 2015 है ।

(2) ये नियम 12 जनवरी, 2015 को प्रवृत्त हुए समझे जाएंगे ।

2. **जिला खनिज प्रतिष्ठान में किए जाने वाले अभिदाय की रकम** – प्रत्येक खनन पट्टे अथवा पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे का धारक, उस जिले के, जिसमें खनन संक्रियाएं की जाती हैं, जिला खनिज प्रतिष्ठान को स्वामिस्व के अतिरिक्त निम्नलिखित दर पर रकम का संदाय करेगा –

(क) 12 जनवरी, 2015 को या उसके पश्चात् अनुदत्त, यथास्थिति, खनन पट्टों या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टों की बाबत खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 (1957 का 67) (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'उक्त अधिनियम' कहा गया है) की द्वितीय अनुसूची के

निबंधनानुसार संदत्त स्वामिस्व का दस प्रतिशत ; और

(ख) 12 जनवरी, 2015 से पूर्व अनुदत्त खनन पट्टों की बाबत उक्त अधिनियम की द्वितीय अनुसूची के निबंधनानुसार संदत्त स्वामिस्व का तीस प्रतिशत ।"

10. कोयला मंत्रालय ने तारीख 20 अक्तूबर, 2015 को खान और खनिज (जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय) नियम, 2015[1] प्रख्यापित करते हुए एक अधिसूचना जारी की । अभिदाय नियमों के बारे में यह समझा गया है कि वे राजपत्र में उनके प्रकाशन की तारीख को प्रवृत्त हुए । ये नियम जिला खनिज प्रतिष्ठान को उसी दर पर और उन्हीं निबंधनों में, जो तारीख 17 सितम्बर, 2015 की अधिसूचना में उल्लिखित हैं संदाय करने के संबंध में हैं । प्रश्नगत अधिसूचना में, जो कि कोयला मंत्रालय द्वारा जारी की गई है, विनिर्दिष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि ये नियम कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत की बाबत थे ।

11. तारीख 30 अक्तूबर, 2015 की अधिसूचना में जो कुछ महत्वपूर्ण है, वह उसका पैरा 3 है । इसमें यह उपबंध किया गया है कि जिला खनिज प्रतिष्ठान को संदेय रकम, राज्य सरकार द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने के लिए एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख(1) के अधीन जारी की गई अधिसूचना की तारीख से या अभिदाय नियमों के प्रवर्तन में आने की तारीख से, इनमें से जो भी पश्चात्वर्ती हो, संदत्त की जाएगी । तारीख 20 अक्तूबर, 2015 की अधिसूचना निम्नलिखित रूप में है :–

"कोयला मंत्रालय

अधिसूचना

नई दिल्ली, तारीख 20 अक्तूबर, 2015

सा.का.नि. 792(अ) – केन्द्रीय सरकार, खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 (1957 का 67) की धारा 9ख की उपधारा (5) और उपधारा (6) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, किसी खनन पट्टा अथवा पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टा धारक द्वारा, स्वामिस्व के अतिरिक्त, उस जिले के, जिसमें खनन संक्रियाएं की जाती हैं, संबंधित राज्य सरकार द्वारा, अधिसूचना

---

[1] कोयले, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत के संबंध में एम.एम.डी.आर. अधिनियम का प्रशासन कोयला मंत्रालय के पास है ।

द्वारा स्थापित जिला खनिज प्रतिष्ठान में संदत्त की जाने वाली रकम विनिर्दिष्ट करते हुए, कोयला और लिग्नाइट तथा भराई के लिए रेत की बाबत निम्नलिखित नियम बनाती हैं, अर्थात् :–

1. संक्षिप्त नाम और प्रारंभ – (1) इन नियमों का संक्षिप्त नाम खान और खनिज (जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय) नियम, 2015 है ।

(2) ये नियम राजपत्र में उनके प्रकाशन की तारीख को प्रवृत्त हुए समझे जाएंगे ।

2. जिला खनिज प्रतिष्ठान को किए जाने वाले अभिदाय की रकम – कोयला और लिग्नाइट तथा भराई के लिए रेत की बाबत किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे का प्रत्येक धारक स्वामिस्व के अतिरिक्त, उस जिले के, जिसमें खनन संक्रियाएं की जाती हैं, जिला खनिज प्रतिष्ठान में निम्नलिखित दर पर रकम का संदाय करेगा –

(क) 12 जनवरी, 2015 को या उसके पश्चात् अनुदत्त, यथास्थिति खनन पट्टे अथवा पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे की बाबत खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 (1957 का 67) (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'उक्त अधिनियम' कहा गया है) की द्वितीय अनुसूची के निबंधनानुसार संदत्त स्वामिस्व का दस प्रतिशत; और

(ख) 12 जनवरी, 2015 से पूर्व अनुदत्त खनन पट्टों की बाबत उक्त अधिनियम की द्वितीय अनुसूची के निबंधनानुसार संदत्त स्वामिस्व का तीस प्रतिशत ।

3. वह तारीख, जिससे अभिदाय किया जाना है – नियम 2 में विहित दर पर संगणित रकम का संदाय, राज्य सरकार द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करते हुए अधिनियम की धारा 9ख(1) के अधीन जारी की गई अधिसूचना की तारीख से या इन नियमों के प्रवर्तन में आने की तारीख से, इनमें से जो भी पश्चात्वर्ती हो, किया जाएगा ।"

12. कोयला मंत्रालय ने तारीख 31 अगस्त, 2016 को एक अन्य अधिसूचना जारी की, जिसके द्वारा तारीख 20 अक्तूबर, 2015 की

अधिसूचना के पैरा 3 को प्रतिस्थापित किया गया । प्रतिस्थापित पैरा में यह उपबंध किया गया है कि तारीख 20 अक्तूबर, 2015 की अधिसूचना के अधीन संदाय जिला खनिज प्रतिष्ठान को 12 जनवरी, 2015 से किया जाएगा । तारीख 31 अगस्त, 2016 की अधिसूचना निम्न प्रकार है :–

"कोयला मंत्रालय
अधिसूचना
नई दिल्ली, तारीख 31 अगस्त, 2016

सा.का.नि. 837(अ) – केन्द्रीय सरकार, खान और खनिज (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1957 (1957 का 67) की धारा 9ख की उपधारा (5) और उपधारा (6) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत की बाबत खान और खनिज (जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय) नियम, 2015 का संशोधन करने के लिए निम्नलिखित नियम बनाती है, अर्थात् –

1. इन नियमों का संक्षिप्त नाम खान और खनिज (जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय) (संशोधन) नियम, 2016 है ।

खान और खनिज (जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय) नियम, 2015 में नियम 3 के स्थान पर निम्नलिखित नियम रखा जाएगा, अर्थात् –

"3. **वह तारीख जिससे अभिदाय किया जाना है** – नियम 2 में विनिर्दिष्ट दर पर संगणित रकम का संदाय 12 जनवरी, 2015 से किया जाएगा ।"

याचियों द्वारा उठाए गए प्रश्न

13. इन अधिसूचनाओं के आधार पर याचियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल द्वारा उठाए गए प्रश्न ये हैं : प्रथमतः, क्या जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना 12 जनवरी, 2015 से की जा सकेगी ? द्वितीयतः, क्या जिला खनिज प्रतिष्ठानों में अभिदाय, याचियों द्वारा 12 जनवरी, 2015 से अभिदाय नियमों के दोनों समूहों में उल्लिखित दर पर किए जाने अपेक्षित थे ? इन अधिसूचनाओं की विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी या वे उनके निर्वचन और उनके प्रभाव पर निर्भर करते हुए, इस सीमा तक चुनौती के अधीन थीं ।

(i) प्रथम प्रश्न

14. धारा 9ख की उपधारा (1) के निबंधनानुसार, राज्य सरकार के

लिए एक अलाभकर निकाय के रूप में एक न्यास की स्थापना करना अपेक्षित है और उस न्यास को जिला खनिज प्रतिष्ठान कहा जाएगा । राज्य सरकार को न्यास की स्थापना करने के लिए एक अधिसूचना जारी करनी होगी । यह विनिश्चित करना संपूर्ण रूप से राज्य सरकार पर निर्भर करता है कि न्यास की स्थापना किस तारीख से की जानी है । इसमें केन्द्रीय सरकार की कोई भूमिका नहीं है, यद्यपि केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को 12 जनवरी, 2015 से एक न्यास की स्थापना करने का निदेश जारी किया गया था । किन्तु, बहरहाल, राज्य सरकारों ने – कुछ राज्यों ने 12 जनवरी, 2015 से और कुछ राज्यों ने जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने वाली अधिसूचना की तारीख से जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करते हुए अधिसूचना जारी की थी ।

15. याचियों के विद्वान् काउन्सेल की दलील यह है कि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना अधिसूचना की तारीख से पूर्व की भूतलक्षी तारीख से नहीं की जा सकती थी ।

16. इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रथमतः यह विनिश्चित करना आवश्यक है कि क्या जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना वास्तव में भूतलक्षी तारीख से की गई है । विद्वान् अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना भूतलक्षी प्रभाव से नहीं की गई थी । उसकी दलील यह है कि एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख के अधीन जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना 12 जनवरी, 2015 से या उसके पश्चात् किसी तारीख से की जा सकती थी । कुछ राज्यों ने केन्द्रीय सरकार के निदेश के होते हुए भी किसी पूर्ववर्ती तारीख से (12 जनवरी, 2015) जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करते हुए अधिसूचना जारी करने का विकल्प अपनाया जबकि कुछ अन्य राज्यों ने ऐसा नहीं किया । विद्वान् अपर महासालिसिटर के अनुसार, अधिसूचना की तारीख से किसी पूर्ववर्ती तारीख से जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने का यह अर्थ नहीं था कि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना भूतलक्षी प्रभाव से की गई थी । उसने अपनी दलील के समर्थन में **ए. थंगल कुंजु मुसलियार** बनाम **एन. वेंकटचलम पोट्टी**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान पीठ के विनिश्चय का अवलंब लिया ।

17. **मुसलियार** (उपर्युक्त) वाले विनिश्चय से विद्वान् अपर महासालिसिटर

---

[1] [1955] 2 एस. सी. आर. 1196.

के पक्षकथन को समर्थन मिलता है । संविधान पीठ ने यह अभिस्वीकार किया कि सामान्य नियम यह है कि कोई कानून उस तारीख को प्रवृत्त होता है जब उसे सक्षम प्राधिकारी की सम्मति प्राप्त होती है । तथापि, उस तारीख को स्थगित किया जा सकता है यदि कानून में ऐसा उपबंध किया गया हो । **मुसलियार** (उपर्युक्त) वाले मामले में, कानून में यह उपबंध किया गया था कि उसे सरकारी राजपत्र में अधिसूचित तारीख को प्रवृत्त होना था । चूंकि वह कानून विधान-मंडल द्वारा 7 मार्च, 1949 को पारित किया गया था इसलिए वह साधारणतया उस तारीख को प्रवृत्त हो गया होगा किन्तु कानून की धारा 1(3) के आधार पर तारीख 26 जुलाई, 1949 को एक अधिसूचना जारी की गई थी जिसके द्वारा उस कानून को 22 जुलाई, 1949 से प्रवृत्त किया गया था, जो स्पष्ट रूप से 7 मार्च, 1949 के बाद की तारीख थी । संविधान पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि उस अधिसूचना से किन्हीं निहित अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था और (विवक्षा द्वारा) उसके भूतलक्षी प्रवर्तन को विरोध की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है । इसके अलावा, कानून का प्रवर्तन उसके पारित होने से पूर्व की तारीख से नहीं था और इसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह भूतलक्षी प्रभाव से प्रवर्तन में आया । कानून को प्रवर्तन में लाने वाली अधिसूचना की तारीख से पूर्ववर्ती तारीख नियत करने से भूतलक्षी प्रवर्तन का विरोध करने का सिद्धांत लागू नहीं होता है । तथापि, संविधान पीठ ने विद्वान् महान्यायवादी की इस अगली दलील पर विचार नहीं किया कि वह अधिसूचना कानून को अधिसूचना जारी किए जाने की तारीख से प्रवर्तन में लाने की दृष्टि से सही है । संविधान पीठ द्वारा अधिकथित विधि पूर्णतः सुस्पष्ट है जब उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था :–

> "वह कारण जिसके लिए न्यायालय विधियों के भूतलक्षी प्रवर्तन को पसन्द नहीं करता, यह है कि इससे निहित अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है । इस मामले में ऐसा कोई कारण अंतर्वलित नहीं है । धारा 1(3) सरकार को अधिनियम को ऐसी तारीख को प्रवर्तन में लाने के लिए प्राधिकृत करती है जो वह अधिसूचना द्वारा नियत करे । सरकार को, इस धारा द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए, निश्चित रूप से अधिनियम पारित किए जाने के बाद वाली किसी तारीख को अधिनियम को प्रवर्तन में लाने के लिए अधिसूचना जारी करने की शक्ति थी । इसलिए, अधिनियम के प्रारंभ होने की तारीख 22 जुलाई, 1949 नियत करने वाली अधिसूचना के संबंध में, जो कि अधिनियम को पारित करने के बाद की तारीख थी, कोई आक्षेप नहीं

किया जा सकता है । अतः, अधिनियम को भूतलक्षी प्रवर्तन नहीं दिया गया है, अर्थात्, उसे उसके पारित किए जाने की तारीख से पूर्व की तारीख से प्रारंभ नहीं बनाया गया है । यह सही है कि अधिसूचना द्वारा यथा-नियत प्रारंभ होने की तारीख अधिसूचना की तारीख से पूर्ववर्ती तारीख है किन्तु इस परिस्थिति में किसी कानून के भूतलक्षी प्रवर्तन का विरोध करने का सिद्धांत लागू नहीं होता है । इस मामले में निहित अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का कोई प्रश्न नहीं है । अधिसूचना का प्रवर्तन अपने आप में भूतलक्षी नहीं है । इसके द्वारा अधिनियम को किसी पूर्ववर्ती तारीख से प्रवर्तन में लाया गया है । हर हालत में वह वास्तव में अधिनियम को उसके पारित किए जाने के बाद वाली किसी तारीख को प्रवर्तन में लाने के लिए अधिसूचना जारी करने हेतु प्राधिकृत थी और सरकार ने वही किया था । मामले को इस दृष्टि से देखते हुए विद्वान् महान्यायवादी द्वारा दिए गए इस अगले तर्क पर, जिसे निचले न्यायालय ने सही पाया, विचार करने की आवश्यकता नहीं है, अर्थात्, अधिसूचना जारी किए जाने की तारीख से अधिनियम को प्रवर्तन में लाने वाली अधिसूचना हर दृष्टि से सही थी ।" (जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है)

18. ऊपर दी गई सारणी में उल्लिखित राज्यों में जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने के लिए अधिसूचनाएं एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख के उपबंधों के अनुसरण में जारी की गई थीं । ऐसा प्रतीत होता है कि संसद् का आशय राज्य सरकारों के लिए 12 जनवरी, 2015 से जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करना था चूंकि इसका उद्देश्य खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों और क्षेत्रों के हित और फायदे के लिए कार्य करना है । चूंकि इसका उद्देश्य उन व्यक्तियों का कल्याण करना है जो खनन संक्रियाओं से प्रतिकूल रूप से प्रभावित हैं, इसलिए जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना 12 जनवरी, 2015 को की जानी चाहिए थी । तथापि, न कि आश्चर्यजनक रूप से, प्रत्येक राज्य सरकार ने आराम से कार्य किया (जिसके अंतर्गत कुछ कम सीमा तक मध्य प्रदेश, ओडिशा और तेलंगाना राज्य सरकारें भी आती हैं) जिसके कारण केन्द्रीय सरकार तारीख 16 सितम्बर, 2015 को एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 20क के अधीन एक निदेश जारी करने के लिए बाध्य हुई, जिसमें राज्य सरकारों से यह अधिसूचना जारी करने की अपेक्षा की गई कि जिला खनिज प्रतिष्ठान के बारे में यह समझा जाएगा कि वह 12 जनवरी, 2015 से अस्तित्व में आया है ।

19. किसी भी दशा में, यह मान लेने पर कि चूंकि जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना अधिसूचना की तारीख से पूर्व वाली किसी तारीख से की गई थी और इसलिए उनकी स्थापना भूतलक्षी प्रभाव से की गई थी, तो भी उनकी स्थापना से किसी भी व्यक्ति के निहित अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था (जैसा कि बाद में द्रष्टव्य होगा) । यह महत्वपूर्ण है । अतः, **मुसलियार** (उपर्युक्त) वाले मामले में के विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए अधिसूचनाओं के 12 जनवरी, 2015 से प्रवर्तन के बारे में कोई वास्तविक आक्षेप नहीं हो सकता है । जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना 12 जनवरी, 2015 से पूर्व की किसी तारीख से नहीं की गई थी और उस सीमा तक उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उनकी स्थापना भूतलक्षी प्रभाव से की गई है ।

20. मान लीजिए, जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना भूतलक्षी प्रभाव से की गई थी – क्या ऐसा करना विधि की दृष्टि से अनुज्ञेय है ? यह प्रश्न इस मत के कारण वास्तव में उद्भूत नहीं होता है जो कि हमने **मुसलियार** (उपर्युक्त) वाले मामले का अनुसरण करते हुए अपनाया है किन्तु चूंकि विद्वान् काउन्सेल द्वारा अनेक विनिश्चयों को उद्धृत करते हुए जोरदार ढंग से बहस की गई थी, इसलिए हम संक्षेप में अपना मत रखते हैं ।

21. अधीनस्थ विधान को, चाहे वे नियमों या विनियमों या अधिसूचनाओं के रूप में हों, भूतलक्षी प्रभाव देने की शक्ति इस न्यायालय द्वारा दिए गए अनेक विनिश्चयों में विचार-विमर्श की विषयवस्तु रही है और उन सब पर विचार करना आवश्यक नहीं है – वास्तव में, ऐसा करना संभव भी नहीं हो सकता है । इतना पर्याप्त होगा यदि हमारे समक्ष उद्धृत इन विनिश्चयों में से कुछ विनिश्चयों द्वारा अधिकथित सिद्धांतों को अलग किया जाए । इनका संबंध स्पष्ट रूप से मामलों के प्रस्तुत समूह से हैं और इनका आशय कानूनों या अधीनस्थ विधान के भूतलक्षी प्रवर्तन के सभी मामलों के लिए विधि अधिकथित करना नहीं है । सुसंगत सिद्धांत ये हैं :–

> (i) केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार (या कोई अन्य प्राधिकारी) भूतलक्षी प्रभाव रखने वाले कोई अधीनस्थ विधान तब तक नहीं बना सकता जब तक कि मूल कानून में अभिव्यक्ततः या आवश्यक विवक्षा द्वारा उसे ऐसा करने के लिए प्राधिकृत न किया गया हो । (**हुकुम चन्द** बनाम **भारत संघ**[1] और **महाबीर वेजीटेबल ऑयल्स (प्राइवेट)**

[1] (1972) 2 एस. सी. सी. 601.

लिमिटेड बनाम **हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले)

(ii) प्रत्यायोजित विधान साधारणतया भविष्यलक्षी प्रकृति का होता है और प्रथम बार सृजित किसी अधिकार या किसी दायित्व को भूतलक्षी प्रभाव नहीं दिया जा सकता है । (**पंची देवी** बनाम **राजस्थान राज्य**[2] वाला मामला)

(iii) जहां तक ऐसे अधीनस्थ विधान का संबंध है, जो राजवित्तीय कानून से संबंधित है, यह अभिनिर्धारित करना उचित नहीं होगा कि किसी अभिव्यक्त उपबंध के अभाव में कोई प्रत्यायोजित प्राधिकारी कोई कर या फीस अधिरोपित कर सकता है । किसी नागरिक से अनिवार्यतः आहरण की बाबत किसी आशय की कोई गुंजाइश नहीं है । (**अहमदाबाद शहरी विकास प्राधिकरण** बनाम **शरदकुमार जयन्तीकुमार पासावाला**[3] और **राजस्थान राज्य** बनाम **बसन्त एग्रोटैक (इंडिया) लिमिटेड**[4] वाले मामले)

22. इस विषय पर सबसे अधिक पांडित्यपूर्ण, साधारण और व्यापक चर्चा **आयकर आयुक्त (केन्द्रीय) – I** बनाम **वाटिका टाउनशिप प्राइवेट लिमिटेड**[5] वाले मामले में संविधान पीठ के विनिश्चय में पाई जाती है और हम सुस्पष्ट रूप से उस मामले में निकाले गए निष्कर्ष से बाध्य हैं । हमने जो मत अपनाया है, उसे देखते हुए उस चर्चा और संविधान पीठ द्वारा निकाले गए निष्कर्षों को दोहराना हमारे लिए आवश्यक नहीं है सिवाय यह कहना कि हमारे निष्कर्ष संविधान न्यायपीठ द्वारा निकाले गए निष्कर्षों के विचलन में नहीं हैं ।

23. हमारे समक्ष विद्यमान तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 15 में राज्य सरकार को गौण खनिजों की बाबत और उससे संसक्त प्रयोजनों के लिए खदान पट्टों, खनन पट्टों या अन्य खनिज रियायतों के अनुदान को विनियमित करने के लिए नियम बनाने हेतु सशक्त किया गया है । यह धारा राज्य सरकार को विनिर्दिष्ट रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा कोई नियम भूतलक्षी प्रभाव से विरचित

---

[1] (2006) 3 एस. सी. सी. 620.
[2] (2009) 2 एस. सी. सी. 589.
[3] (1992) 3 एस. सी. सी. 285.
[4] (2013) 15 एस. सी. सी. 1.
[5] (2015) 1 एस. सी. सी. 1.

करने के लिए सशक्त नहीं करती है । इसके अलावा, एम.एम.डी.आर. अधिनियम में राज्य सरकार को ऐसी कोई विनिर्दिष्ट शक्ति प्रदत्त नहीं की गई है जिसके द्वारा वे काल्पनिक रूप से जिला खनिज प्रतिष्ठान का सृजन कर सके जिसके बारे में यह समझा जाए कि वह जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने वाली अधिसूचना की तारीख से किसी पूर्ववर्ती तारीख से अस्तित्व में था । इसलिए, इसका निष्कर्ष यह निकाला जाना चाहिए कि एम.एम.डी.आर. अधिनियम के उन उपबंधों के अधीन, जिनसे हमारा संबंध है, किसी राज्य सरकार को भूतलक्षी प्रभाव से कोई नियम विरचित करने या विनिर्दिष्ट रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा कोई धारणात्मक कल्पना सृजित करने की शक्ति नहीं है ।

24. इसी प्रकार, एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 13 द्वारा केन्द्रीय सरकार को भूतलक्षी प्रभाव से कोई नियम विरचित करने की विनिर्दिष्ट शक्ति प्रदान नहीं की गई है । एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 13(2) में अंतःस्थापित खंड (थथक) के साथ पठित धारा 9ख(5) और (6) केन्द्रीय सरकार को ऐसे नियम बनाने के लिए समर्थ बनाती है जिनमें एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख(1) के अधीन राज्य सरकार द्वारा स्थापित जिला खनिज प्रतिष्ठान में संदाय की जाने वाली रकम का उपबंध हो । इन उपबंधों में से किसी भी उपबंध में, केन्द्रीय सरकार को किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक से जिला खनिज प्रतिष्ठान में भूतलक्षी प्रभाव से अभिदाय करने की अपेक्षा करने की शक्ति प्रदान नहीं की गई है । अतः, केन्द्रीय सरकार की नियम बनाने की शक्ति की परिधि और सीमा भी सीमित है ।

25. ऊपर स्पष्ट की गई विधिक स्थिति और हमारे समक्ष विद्यमान तथ्यात्मक स्थिति को ध्यान में रखते हुए, राज्य सरकारों द्वारा जारी की गई अधिसूचनाओं के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि उससे यह अभिप्रेत है कि (या मानते हुए कि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना किसी पश्चात्वर्ती तारीख को जारी की गई अधिसूचना द्वारा तारीख 12 जनवरी, 2015 से नहीं की जा सकती थी) जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना प्रत्येक अधिसूचना के प्रकाशन की तारीख को की गई थी । यह **मुसलियार** (उपर्युक्त) वाले मामले में विद्वान् महान्यायवादी द्वारा किए गए उस अगले निवेदन का प्रतिबिंब है जिस पर संविधान पीठ द्वारा विचार नहीं किया गया था । हमारी राय में, इस निवेदन का हमारे समक्ष वाले मामलों के तथ्यों में बहिर्वेशन किया जा सकता है और यदि हम ऐसा करते हैं तो हम यह पाते हैं कि ऐसा करके सही किया गया है । किसी नियम, विनियम या

अधिसूचना की विधिमान्यता को यथासंभव सीमा तक कायम रखा जाना चाहिए । किसी अधिसूचना को राज्य सरकार की नियम बनाने की शक्ति के अधिकारातीत घोषित करना बाध्यकारी नहीं है यदि उसकी विधिमान्यता को विधि का अतिक्रमण किए बिना बचाया जा सकता है । इन मामलों में, हमारी यह राय है कि अधिसूचनाओं को भूतलक्षी तारीख से जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने की सीमा तक राज्य सरकारों की नियम बनाने की शक्ति के अधिकारातीत घोषित करना बाध्यकारी नहीं है क्योंकि हम उनका इस रूप में पठन करके कि वे प्रकाशन की तारीख से प्रवर्तनीय हैं, उनकी विधिमान्यता को बचा सकते हैं । किसी भी दशा में, हमारे समक्ष जिला खनिज प्रतिष्ठान की उस रूप में स्थापना को विखंडित करने की कोई प्रार्थना नहीं की गई है ।

26. अतः, प्रथम प्रश्न के संबंध में हमारा उत्तर यह है कि जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना भूतलक्षी रूप से नहीं की गई थी हालांकि अधिसूचनाओं द्वारा उन्हें अधिसूचनाओं की तारीख से पूर्ववर्ती तारीख से – किन्तु जो अध्यादेश की तारीख से पूर्व की तारीख नहीं है, स्थापित किया गया है । मान लीजिए, जिला खनिज प्रतिष्ठानों को भूतलक्षी प्रभाव से तारीख 12 जनवरी, 2015 से स्थापित किया गया था फिर भी इससे कोई अंतर नहीं पड़ता चूंकि भूतलक्षी प्रभाव से स्थापना करने के कारण किसी भी व्यक्ति के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है (जैसा कि बाद में द्रष्टव्य होगा) । मामले को इस दृष्टि से देखने पर, इन अधिसूचनाओं से **मुसलियार** (उपर्युक्त) और **वाटिका टाउनशिप** (उपर्युक्त) वाले निर्णयों में अधिकथित विधि का अतिक्रमण नहीं होता है । अन्यथा भी, उनकी विधिमान्यता को, उनका इस रूप में पठन करके बचाया जा सकता है कि वे प्रकाशन की तारीख से प्रवर्तनीय थीं ।

(ii) दूसरा प्रश्न

27. याचियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि मान लीजिए अधिसूचनाओं के भूतलक्षी प्रवर्तन और जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना से संबंधित प्रश्न का विनिश्चय उनके विरुद्ध कर दिया जाता है, तब भी याचियों को सुसंगत अधिसूचनाओं की तारीख, अर्थात् यथास्थिति, 17 सितम्बर, 2015 और 20 अक्तूबर, 2015, से पूर्व की अवधि के लिए अभिदाय करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है । इस प्रयोजनार्थ, **मैसर्स गोविन्द शरण गंगा शरण** बनाम **विक्रय कर आयुक्त**[1]

[1] (1985) (सप्ली.) एस. सी. सी. 205.

और **वाटिका टाउनशिप** (उपर्युक्त) वाले मामलों का अवलंब लिया गया था ।

28. **गोविन्द शरण** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय का संबंध केन्द्रीय विक्रय कर अधिनियम, 1956 की धारा 14 और धारा 15 के अधीन माल के कराधान और दिल्ली संघ-राज्यक्षेत्र को यथा – लागू बंगाल वित्त (विक्रय कर) अधिनियम, 1941 के अधीन किए गए निर्धारण से था । केन्द्रीय विक्रय कर अधिनियम की धारा 15 निम्नलिखित रूप में है :–

> "15. राज्य की हर विक्रय-कर विधि वहां तक, जहां तक कि वह घोषित माल के विक्रय या क्रय पर कर अधिरोपित करती है या कर का अधिरोपण प्राधिकृत करती है, निम्नलिखित निर्बंधनों और शर्तों के अधीन रहेगी, अर्थात् –
>
> (क) ऐसे माल के राज्य के भीतर के किसी विक्रय या क्रय की बाबत उस विधि के अधीन संदेय कर, उस माल की विक्रय या क्रय कीमत के तीस प्रतिशत से अधिक नहीं होगा और ऐसा कर, एक से अधिक प्रक्रमों पर उद्गृहीत नहीं किया जाएगा ।"

इस न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि केन्द्रीय विक्रय कर अधिनियम की धारा 15 में कर की वह अधिकतम दर विहित की गई है जो कि अधिरोपित की जा सकती है और ऐसे कर का उद्ग्रहण एक से अधिक बिन्दु पर नहीं किया जाएगा । इन अपेक्षाओं का विस्तार करते हुए, इस न्यायालय ने रिपोर्ट के पैरा 6 में निम्न प्रकार मत व्यक्त किया :–

> "किसी कर की संकल्पना में जो घटक आते हैं वे सुज्ञात हैं । **पहला** घटक अधिरोपण की प्रकृति द्वारा ज्ञात उसका स्वरूप है, जो उद्ग्रहण को लागू करने वाली कराधेय घटना को विहित करता है, **दूसरा** घटक ऐसे व्यक्ति का स्पष्ट उपदर्शन है जिस पर उद्ग्रहण अधिरोपित किया जाता है और जो कर का संदाय करने के लिए बाध्य है, **तीसरा** घटक वह दर है जिस पर कर अधिरोपित किया जाता है और **चौथा** घटक वह माप या मूल्य है जिसे कर दायित्व की संगणना करने के लिए दर लागू होगी । यदि ये घटक स्पष्टतः और निश्चित रूप से अभिनिश्चित नहीं किए जा सकते हैं तो यह कहना कठिन है कि विधि की दृष्टि से उद्ग्रहण विद्यमान है । उद्ग्रहण के इन घटकों में किसी घटक को परिभाषित करने वाली विधायी स्कीम

में कोई अनिश्चितता या अस्पष्टता उसकी विधिमान्यता के लिए घातक होगी ।" (बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

29. इस न्यायालय ने उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों के पश्चात्, प्रमुख रूप से वह एकल बिन्दु, जिस पर कर उद्गृहीत किया जा सकता है, विनिर्दिष्ट करने के अभाव के संबंध में विचार किया और यह अभिनिर्धारित किया कि केन्द्रीय विक्रय कर अधिनियम की धारा 15 की इस पूर्वापेक्षा को पूरा नहीं किया गया था कि कर एक से अधिक प्रक्रम पर उद्गृहीत नहीं किया जाएगा । अतः, उसने उस निर्धारण को अभिखंडित कर दिया जिसके बारे में परिवाद किया गया था और निर्धारिती की अपील मंजूर कर ली ।

30. **वाटिका टाउनशिप** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान पीठ का संबंध वित्त अधिनियम[1] द्वारा अंतःस्थापित आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 113 से संलग्न परन्तुक के प्रभाव से था । परन्तुक में न तो अधिभार की दर और न ही उद्ग्रहण की तारीख विनिर्दिष्ट की गई थी । इसका परिणाम यह था कि कुछ निर्धारण अधिकारी कोई अधिभार उद्गृहीत नहीं कर रहे थे और जो अधिभार उद्गृहीत कर रहे थे उन्होंने उद्ग्रहण के लिए भिन्न-भिन्न तारीखें अंगीकार कीं । इस संदर्भ में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह दर जिस पर कर या उस मामले में कोई अधिभार उद्गृहीत किया जाना है, कर पद्धति का एक आवश्यक घटक होता है । संविधान पीठ द्वारा **गोविन्द शरण** (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय, विशेष रूप से ऊपर उद्धृत पैरा के प्रति निर्देश किया गया था । इसके आगे यह अभिनिर्धारित किया गया था : "उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि वह दर, जिस पर कर अधिरोपित किया जाना है, कर का एक आवश्यक घटक है और जहां कर अनुध्यात नहीं किया जाता है या उसे सुस्पष्टतया लागू नहीं किया जा सकता है, वहां किसी व्यक्ति से कर उद्गृहीत करना कठिन होगा ।"

31. हम यह भी उल्लेख कर सकते हैं कि न्यायमूर्ति डी. पी. सिंह की

---

[1] 113. **तलाशी के मामलों के समूह निर्धारण की दशा में कर** – धारा 158ख्ग के अधीन अवधारित समूह अवधि की अप्रकटित आय साठ प्रतिशत की दर से कराधेय होगी :

परन्तु इस धारा के अधीन प्रभार्य कर में किसी केन्द्रीय अधिनियम द्वारा उद्गृहीत किए गए अधिभार, यदि कोई हों, की वृद्धि की जाएगी, जो उस पूर्ववर्ष से सुसंगत निर्धारण वर्ष में लागू हैं जिसमें धारा 132 के अधीन तलाशी शुरू की जाती है या धारा 132क के अधीन उसकी अध्यपेक्षा की जाती है ।

कृति प्रिंसीपल्स ऑफ स्टेट्यूटरी इंटरप्रटेशन[1] में समरूप मत अभिव्यक्त किया गया था कि "कराधान संबंधी कानून के तीन घटक होते हैं, अर्थात्, कर की विषयवस्तु, कर का संदाय करने के लिए दायी व्यक्ति और वह दर जिस पर कर उद्गृहीत किया जाता है । यदि इन घटकों में से किसी एक घटक की बाबत ऐसी कोई वास्तविक अस्पष्टता होती है जो कि युक्तियुक्त अर्थान्वयन द्वारा दूर नहीं की जा सकती है तो विधि की दृष्टि से तब तक कोई कर नहीं होगा जब तक विधान-मंडल द्वारा उस त्रुटि को ठीक नहीं कर दिया जाता है ।"

32. इस न्यायालय की संविधान पीठ के इस विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए कि कर की दर विनिर्दिष्ट करना (या उस संबंध में कोई अनिवार्य उद्ग्रहण) कर पद्धति का एक आवश्यक घटक है, विद्वान् अपर महासालिसिटर के साथ इस संबंध में सहमत होना कठिन है कि एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख के निबंधनानुसार जिला खनिज प्रतिष्ठान में संदत्त किए जाने वाले प्रतिकर की अधिकतम रकम विनिर्दिष्ट करने से, जो कि स्वामिस्व के एक-तिहाई से अधिक रकम नहीं होगी, विधि की अपेक्षाएं पूरी हो जाती हैं । विधि द्वारा जो कुछ अपेक्षित है वह निश्चितता है न कि अस्पष्टता – एक-तिहाई से अनधिक का अर्थ एक-चौथाई या पांचवां भाग या कुछ अन्य अंश हो सकेगा । यही अनिश्चितता आक्षेपणीय है ।

33. अतः, दूसरे प्रश्न के संबंध में हमारा उत्तर यह है कि याची 12 जनवरी, 2015 से जिला खनिज प्रतिष्ठान में कोई अभिदाय करने के लिए दायी नहीं हैं ।

जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय करने की निर्णायक तारीख

34. तब अभिदाय करने की निर्णायक तारीख कौनसी है ? खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारकों के दो प्रवर्ग हैं । हम अधिसूचनाओं के प्रत्येक ऐसे प्रवर्ग पर पड़ने वाले प्रभाव पर विचार करेंगे ।

कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से भिन्न खनिजों के लिए पट्टा धारक

35. केन्द्रीय सरकार के खान मंत्रालय ने तारीख 17 सितम्बर, 2015

---

[1] न्यायमूर्ति ए. के. पटनायक, भारत के उच्चतम न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश द्वारा पुनरीक्षित 14वां संस्करण, पृष्ठ 876.

को कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से भिन्न खनिजों की बाबत जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय करने के संबंध में एक अधिसूचना जारी की । उस अधिसूचना में वह दर विनिर्दिष्ट की गई है जिस पर किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा अभिदाय किया जाना था । यद्यपि अधिसूचना में यह उपबंध किया गया है कि अभिदाय 12 जनवरी, 2015 से संदेय है तथापि, हमारे इस निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए कि जिला खनिज प्रतिष्ठान में किया जाने वाला अभिदाय भूतलक्षी प्रभाव से नहीं हो सकता है इसलिए यह केवल अधिसूचना की तारीख से, अर्थात् 17 सितम्बर, 2015 से ही संदेय होगा हालांकि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना 12 जनवरी, 2015 से की गई थी या की गई समझी गई थी ।

36. इस संबंध में, याचियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल द्वारा उठाया गया अगला प्रश्न यह था : जिला खनिज प्रतिष्ठान जैसी ऐसी किसी इकाई को जिसकी स्थापना 17 सितम्बर, 2015 के पश्चात् वाली किसी तारीख से की गई थी, (मध्य प्रदेश, ओडिशा और तेलंगाना राज्यों के सिवाय) अभिदाय कैसे किया जा सकता है ? क्या किसी अविद्यमान न्यास को अभिदाय संदत्त किया जा सकता है ?

37. हमें खेद है कि प्रश्न उठाने का यह तरीका हमें उचित प्रतीत नहीं होता । जिला खनिज प्रतिष्ठान का उद्देश्य "खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों और क्षेत्रों के हित और फायदे के लिए कार्य करना" है । एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख का प्रयोजन और जिला खनिज प्रतिष्ठान का उद्देश्य खनन से संबंधित संक्रियाओं से प्रभावित व्यक्तियों के लिए – जिनके अंतर्गत ऐसे जनजातीय लोग भी हैं, जिन्हें उनके अपने आवास से हटाया या विस्थापित किया गया हो, सामाजिक न्याय के हेतुक को अग्रसर करना है । उन्हें केवल इस कारण उनके अधिकारवान् फायदे से इनकार करना कि राज्य सरकार ने जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने में ढिलाई दिखाई, उनके साथ अन्याय करना होगा ।

38. इसके अलावा, एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख में एक दायित्व का सृजन किया गया है और केवल दायित्व की मात्रा का अवधारण करना शेष रह गया है । वह अवधारण तारीख 17 सितम्बर, 2015 की अधिसूचना जारी करने पर हुआ । इस तथ्य के कारण कि इस फायदे को प्रभावित व्यक्तियों तक पहुंचने में समय लगेगा (तमिलनाडु और उत्तर प्रदेश

राज्यों के मामले में एक वर्ष से भी अधिक) याचियों के अभिदाय करने के दायित्व को कम नहीं किया जा सकता है और न ही इस कारण उन्हें अभिदाय का संदाय करने के उनके दायित्व से मुक्त किया जा सकता है । केन्द्रीय सरकार के निदेश के बावजूद राज्य सरकारों द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने में बरती गई शिथिलता और चिंता की कमी के बारे में आलोचना की जा सकती है ।

39. **ए. प्रभाकर रेड्डी** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में उठाए गए प्रश्नों में से एक प्रश्न यह था कि चूंकि मध्य प्रदेश भवन और अन्य निर्माण कर्मकार कल्याण बोर्ड का गठन केवल 9 अप्रैल, 2003 को किया गया था इसलिए भवन और अन्य निर्माण कर्मकार कल्याण उपकर अधिनियम, 1996 के अधीन उपकर की वसूली 1 अप्रैल, 2003 से उद्भूत नहीं होती है । इस आधार पर उपकर का संदाय करने की अपेक्षा को चुनौती दी गई थी ।

40. इस न्यायालय ने इस दलील को नामंजूर कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि अधिनियम और उसके अधीन विरचित नियमों के प्रवृत्त होने और कर्मकार कल्याण बोर्ड का गठन किए जाने और उपकर की दर अधिसूचित किए जाने के पश्चात्, राज्य चालू परियोजनाओं की बाबत उपकर का संग्रहण करने के बाध्यताधीन था । इस तथ्य से कि इस फायदे को कर्मकारों तक पहुंचने में कुछ समय लग सकता है, उपकर का संदाय करने संबंधी दायित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था । इसके अलावा, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि : "कोई अन्य निर्वचन करने से उन कर्मकारों के अधिकार विफल हो जाएंगे जिनका संरक्षण करना भवन और अन्य निर्माण कर्मकार कल्याण बोर्ड तथा उपकर अधिनियम का प्रमुख लक्ष्य और प्राथमिक चिन्ता तथा उद्देश्य है ।"

41. अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि उन याचियों की दशा में, जो कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से भिन्न खनिजों के लिए किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक हैं (या थे) जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय का संदाय करने की प्रभावी तारीख 17 सितम्बर, 2015 होगी ।

कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत के लिए पट्टा धारक

42. कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से संबंधित खनन

---

[1] (2016) 1 एस. सी. सी. 600.

पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारकों द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान में किए जाने वाले अभिदाय के संबंध में स्थिति खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के अन्य धारकों की स्थिति से पूर्णतः भिन्न है । इसका कारण तारीख 20 अक्तूबर, 2015 की अधिसूचना के पैरा 3 के पाठ में पाया जाता है जो कि पूर्णतः सुस्पष्ट है । इसमें यह उपबंधित है कि अभिदाय, यद्यपि संदेय है तथापि वह अधिसूचना की तारीख (20 अक्तूबर, 2015) से या संबंधित राज्य में जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना की तारीख से, इनमें से जो भी पश्चात्वर्ती हो, संदत्त किया जाएगा । अतः, केवल मध्य प्रदेश, ओडिशा और तेलंगाना राज्य खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारकों से तारीख 20 अक्तूबर, 2015 से अभिदाय प्राप्त करने के हकदार होंगे चूंकि उनके जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना काफी पहले कर दी गई थी । जहां तक अन्य सभी राज्यों का संबंध है, खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक जिला खनिज प्रतिष्ठान को किए जाने वाले संदाय को तब तक स्थगित करने का दावा कर सकते हैं जब राज्य सरकार द्वारा जारी की गई अधिसूचना के अनुसार उसकी स्थापना की गई थी ।

43. यह सही है कि जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने वाली अनेक अधिसूचनाओं में यह उपबंध किया गया है कि स्थापना की तारीख 12 जनवरी, 2015 है किन्तु जैसा कि इससे पूर्व उल्लेख किया गया है, एम.एम.डी.आर. अधिनियम के अधीन केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार की नियम बनाने की शक्ति में अधीनस्थ विधान का भूतलक्षी प्रवर्तन अनुज्ञात नहीं है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अभिदाय नियमों में आवश्यक विवक्षा द्वारा भूतलक्षी प्रवर्तन विद्यमान है । यह अवसर भी उद्भूत नहीं होता है । इसके अलावा, जैसा कि ऊपर अभिनिर्धारित किया गया है, वह दर, जिस पर अभिदाय का संदाय किया जाना था, केवल 20 अक्तूबर, 2015 को अधिसूचित की गई थी । इसलिए, ऊपर चर्चित विधि को ध्यान में रखते हुए, यह नहीं कहा जा सकता है कि खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारकों द्वारा अभिदाय का संदाय 12 जनवरी, 2015 से किया जाना चाहिए ।

44. विद्वान् अपर महासालिसिटर ने तारीख 31 अगस्त, 2016 की पश्चात्वर्ती अधिसूचना का अवलंब लेने की ईप्सा की, जिसके द्वारा 20 अक्तूबर, 2015 की अधिसूचना के पैरा 3 को इस अपेक्षा के साथ प्रतिस्थापित किया गया था कि अभिदाय "का संदाय 12 जनवरी, 2015 से किया जाएगा ।" हमारे द्वारा पहले दिए गए उन्हीं कारणों के आधार पर

ऐसा पूर्वव्यापी प्रतिस्थापन केन्द्रीय सरकार की नियम बनाने की शक्ति के अधिकारातीत है । स्पष्टतः तारीख 31 अगस्त, 2016 की अधिसूचना केन्द्रीय सरकार की नियम बनाने के शक्ति के परे है और इसे विखंडित किया जाना चाहिए और हम ऐसा करते हैं । इससे यही अभिप्रेत होता है कि तारीख 20 अक्तूबर, 2015 की अधिसूचना को छेड़ा नहीं गया है और उसे उसकी स्पष्ट भाषा के अनुसार पढ़ा और समझा जाना चाहिए । इसका परिणाम यह है कि कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत की बाबत खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे का धारक जिला खनिज प्रतिष्ठान में 20 अक्तूबर, 2015 से या जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना की तारीख से, इनमें से जो भी पश्चात्वर्ती हो, अभिदाय का संदाय करेगा ।

45. अंततः, एक विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह दलील दी गई थी कि एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख एक सशर्त विधान था और यह कि वह केवल कतिपय शर्तों को पूरा करने पर ही प्रवर्तन में आ सकता था । हम इससे सहमत नहीं हैं । एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख द्वारा राज्य सरकारों को किसी पूर्व-शर्त के बिना जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना करने की शक्ति प्रत्यायोजित की गई है । इसी प्रकार, इसके द्वारा केन्द्रीय सरकार को वह दर विहित करने की शक्ति प्रत्यायोजित की गई है जिस पर जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय किया जाना चाहिए । यह भी किसी पूर्व-शर्त के बिना है । इस दृष्टि से, हम एम.एम.डी.आर. अधिनियम की धारा 9ख को सशर्त विधान के रूप में वर्णित करने में असमर्थ हैं ।

निष्कर्ष

46. याचियों द्वारा और विद्वान् अपर महासालिसिटर द्वारा उठाए गए मुद्दों पर भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य में विचार करने के पश्चात्, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं : (i) मात्र इस कारण कि जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना सुसंगत अधिसूचनाओं के जारी किए जाने से पूर्व की तारीख से की गई है या की गई समझी गई है, उनका प्रवर्तन भूतलक्षी नहीं हो जाता है । (ii) किसी भी दशा में, तारीख 12 जनवरी, 2015 से जिला खनिज प्रतिष्ठानों की स्थापना से (मान लीजिए कि स्थापना भूतलक्षी है) किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के किसी धारक पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है । (iii) केन्द्रीय सरकार द्वारा तारीख 12 जनवरी, 2015 को वह दर, जिस पर जिला खनिज प्रतिष्ठान में अभिदाय किए जाने अपेक्षित हैं, विहित करने में हुई असफलता को ध्यान में रखते हुए, जिला खनिज प्रतिष्ठान में तारीख 12 जनवरी, 2015 से

अभिदाय किए जाने पर जोर नहीं दिया जा सकता है । जिला खनिज प्रतिष्ठान में किए जाने वाले अभिदाय की अधिकतम दर नियत करना **वाटिका** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान पीठ द्वारा अधिकथित विधि का अपर्याप्त अनुपालन है । (iv) कोयला, लिग्नाइट और भराई के लिए रेत से भिन्न खनिजों की दशा में, किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान में तारीख 17 सितम्बर, 2015 से, जब केन्द्रीय सरकार द्वारा दरें विहित की गई थीं, अभिदाय किए जाने अपेक्षित हैं । (v) कोयला लिग्नाइट और भराई के लिए रेत की दशा में खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के धारक द्वारा जिला खनिज प्रतिष्ठान में तारीख 20 अक्तूबर, 2015 से, जब केन्द्रीय सरकार द्वारा दरें विहित की गई थीं या उस तारीख से, जिसको राज्य सरकार द्वारा, अधिसूचना द्वारा, जिला खनिज प्रतिष्ठान की स्थापना की गई थी, इनमें से जो भी पश्चात्वर्ती हो, अभिदाय किए जाने अपेक्षित हैं । (vi) केन्द्रीय सरकार द्वारा जारी की गई तारीख 31 अगस्त, 2016 की अधिसूचना अविधिमान्य है और उसे विखंडित किया जाता है क्योंकि वह एम.एम.डी.आर. अधिनियम के अधीन केन्द्रीय सरकार की नियम बनाने की शक्ति के अधिकारातीत है ।

47. हम उग्रता से यह आशा करते हैं कि राज्य सरकारें अपने उत्तरदायित्वों को समझें और जिला खनिज निधि में किए जा रहे अभिदायों का उपयोग तुरंत और उस उद्देश्य के लिए करें जिसके लिए उनकी स्थापना की गई है, विशेष रूप से इसलिए क्योंकि इसमें अंतर्वलित रकमें बहुत बड़ी हैं ।

48. हम खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के उन धारकों को जिन्होंने जिला खनिज निधियों में पूरा अभिदाय नहीं किया है, अभिदाय करने के लिए 31 दिसम्बर, 2017 तक का समय अनुदत्त करते हैं जिसके न हो सकने पर वे नियत तारीख से 15 प्रतिशत वार्षिक दर पर ब्याज सहित अभिदाय करने के लिए दायी होंगे । हम यह भी स्पष्ट करते हैं कि यदि किसी खनन पट्टे या किसी पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे के किसी धारक ने गलती से जिला खनिज निधि में उस तारीख से जो कि हमने निर्धारित की है, पूर्व वाली किसी तारीख से अभिदाय किए हैं, खनन पट्टे या पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति-सह-खनन पट्टे का ऐसा धारक किसी प्रतिदाय का हकदार नहीं होगा बल्कि वह उस अभिदाय को किसी ब्याज के फायदे के बिना, भावी अभिदायों में समायोजित करा सकेगा ।

49. उपर्युक्त निष्कर्षों के साथ 2017 की अंतरण याचिका सं. 74-76 मंजूर की जाती है, अंतरित मामले (2017 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 74-76 से उद्भूत), 2016 के अंतरित मामले (सिविल) सं. 43 और 51 तथा याचिकाओं के समूह का निपटारा किया जाता है । अन्य सभी लंबित आवेदनों का भी निपटारा किया जाता है ।

तद्नुसार निपटारा किया गया ।

ग्रो.

[2018] 3 उम. नि. प. 36

नरेन्द्र और अन्य

बनाम

अजबराव मार्फत विधिक प्रतिनिधिगण

26 अक्तूबर, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100] – प्रतिकूल कब्जा – अनुज्ञेय कब्जा – प्रतिवादी द्वारा प्रतिकूल कब्जे के आधार पर वाद गृह के एक भाग पर हक और कब्जा होने का दावा करना – वादी द्वारा उसके हक और कब्जे से इस आधार पर इनकार करना कि प्रतिवादी को मात्र अनुज्ञेय कब्जा प्राप्त है – यदि अभिलेख पर यह साबित कर दिया जाए कि वाद गृह पर प्रतिवादी का मात्र अनुज्ञेय कब्जा है न कि प्रतिकूल कब्जा है तो उस वाद गृह में प्रतिवादी का कोई हक और कब्जे का अधिकार सृजित नहीं होगा और अपीलार्थी द्वारा अनुज्ञेय कब्जे के लिए दी गई अनुज्ञा वापस ली जा सकती है । अनुज्ञा वापस किए जाने पर वाद गृह का कब्जा अपीलार्थी को सौंपना होगा ।

वर्तमान मामले में, विवाद्यक खटिकपुरा टिमकी, नागपुर में स्थित वार्ड सं. 29 (पुराना) और 51 (नया) सर्किल 17/23 में निगम सं. 989 (पुराना) और 989/0-4 (नया) के गृह के एक भाग (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'वाद गृह' कहा गया है) से संबंधित है । वाद गृह मूल रूप से श्री नारायण

जंगलूजी कार्टरे, डोकावडू नारायण कार्टरे, अजबराव नारायण कार्टरे और कमलाकर नारायण कार्टरे द्वारा संयुक्त रूप से स्वामित्व और कब्जे में धारित था । ये सभी चारों व्यक्ति वादियों के दादा, पिता और दो चाचा थे । इन चारों व्यक्तियों ने श्री लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल को 30,000/- रुपए के एवज में वाद गृह का तारीख 21 अक्तूबर, 1970 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय-विलेख द्वारा विक्रय किया । तथापि, अपीलार्थियों (वादियों) ने लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल से 55,000/- रुपए के एवज में वाद गृह को तारीख 11 अक्तूबर, 1985 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा क्रय किया । मूल प्रतिवादी, प्रतिवादियों द्वारा वाद गृह का क्रय करने के पूर्व भी वाद गृह के दो कमरों में रह रहा था । अपीलार्थियों ने वाद गृह का क्रय करने के पश्चात् अजबराव से वाद गृह के उस भाग को खाली करने के लिए निवेदन किया, जो उसके कब्जे में था । अजबराव ने कमरों को खाली करने से इनकार कर दिया और इसके बजाय उसने वाद गृह पर अपीलार्थियों के हक से इनकार किया । इससे व्यथित होकर अपीलार्थियों ने अजबराव के विरुद्ध तारीख 29 अगस्त, 1986 को 1986 की सिविल वाद सं. 1510 फाइल की । वाद, संपूर्ण वाद गृह पर अपीलार्थियों की हक की घोषणा और वाद गृह के उस भाग पर कब्जे जो अजबराव के कब्जे में थी, के लिए फाइल किया गया था । वाद, अन्य बातों के साथ इन अभिकथनों पर आधारित था कि अपीलार्थी, तारीख 11 अक्तूबर, 1985 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल से वाद गृह का क्रय करने के नाते वाद गृह के स्वामी हैं । यह अभिकथित किया गया था कि अजबराव वाद गृह को अपीलार्थियों द्वारा क्रय किए जाने के पूर्व वाद गृह के उस भाग पर अनुज्ञेय कब्जे में था । अपीलार्थियों ने अनुज्ञा अभिखंडित कर दी थी और अजबराव से वाद गृह के उस भाग को खाली करने का निवेदन किया जिसे उसने खाली नहीं किया, इसलिए, अपीलार्थी अपने हक के आधार पर अजबराव से वाद गृह के उस भाग के कब्जे का दावा करने का हकदार है । अजबराव के विरुद्ध वाद गृह के उस भाग का उपयोग और अधिभोग करने की क्षतिपूर्ति के लिए रु. 100/- प्रतिमाह की दर से क्षतिपूर्ति के अनुतोष का भी दावा किया गया । प्रतिवादी ने अपना लिखित कथन फाइल किया । उसने अपीलार्थियों के हक से इनकार किया और यह दावा किया कि वह वाद गृह को अपीलार्थियों द्वारा क्रय करने के काफी समय पूर्व लगभग 40 वर्षों से वाद गृह के उस भाग के कब्जे में हैं । उसने यह अभिकथित किया कि अपीलार्थियों के हक-उत्तराधिकारी ने कभी भी लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल को वाद गृह का विक्रय नहीं

किया अपितु उन्होंने लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल के पास वाद गृह का बंधक रखा था । उन्होंने यह भी अभिकथित किया कि 40 वर्षों से अधिक समय से लंबे और निरंतर कब्जे के कारण उनका कब्जा अपीलार्थियों और लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल के विरुद्ध प्रतिकूल कब्जा हो गया है । उन्होंने आवश्यक पक्षकारों के असंयोजन के आधार पर वाद को कायम रखने का अभिवाक् भी उद्भूत किया । विचारण न्यायालय ने विवाद्यक विरचित किए । पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किया । विचारण न्यायालय ने तारीख 22 मार्च, 1988 के निर्णय/डिक्री द्वारा वाद खारिज कर दिया । यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी, वाद गृह के उस भाग के सिवाय वाद गृह के स्वामी है, जो अजबराव के कब्जे में है । यह अभिनिर्धारित किया कि अजबराव ने प्रतिकूल कब्जे द्वारा उस भाग पर अपना हक सुनिश्चित कर लिया है जो उसके कब्जे में है । अपीलार्थियों ने इससे व्यथित होकर सातवें अपर जिला न्यायाधीश के समक्ष प्रथम अपील फाइल की । अपर जिला न्यायाधीश ने तारीख 22 अक्तूबर, 1991 के निर्णय/डिक्री द्वारा अपील मंजूर कर ली और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अपास्त कर दिया तथा वादी का वाद डिक्री कर दिया । प्रथम अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी उस भाग को सम्मिलित करते हुए जिस पर अजबराव का कब्जा था, वाद गृह के स्वामी हैं । यह भी अभिनिर्धारित किया कि अजबराव, उस भाग पर अपना कब्जा साबित करने में असफल रहा जिस पर उसने प्रतिकूल कब्जे द्वारा अपने कब्जे का दावा किया है । यह भी अभिनिर्धारित किया कि उसे मात्र अनुज्ञेय कब्जा प्राप्त था और ऐसे अनुज्ञेय कब्जे को अपीलार्थियों द्वारा वापस ले लिया गया है, इसलिए, उसे वाद गृह के उक्त भाग को खाली करना था । प्रथम अपील न्यायालय ने वाद गृह के उस भाग का उपयोग और अधिभोग करने के लिए क्षतिपूर्ति के रूप में 1000/- रुपए के साथ वाद फाइल करने की तारीख से इसके उद्ग्रहण की तारीख तक छह प्रतिशत प्रतिमाह की दर पर ब्याज और नोटिस प्रभार के बारे में रु. 100/- के लिए डिक्री भी पारित किया । इससे व्यथित होकर, अजबराव ने सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष द्वितीय अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा अपील मंजूर कर ली और प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय और डिक्री को अपास्त कर दिया और विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री को प्रतिस्थापित कर दिया । दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय के आदेश का प्रभाव यह है कि अपीलार्थियों (वादियों) का वाद खारिज कर दिया । उच्च न्यायालय के

निर्णय से व्यथित होकर, वादियों ने इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से इन अपीलों को फाइल किया । न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – न्यायालय यह पाता है कि उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील को संहिता, 1908 की धारा 96 के अधीन प्रथम अपील की तरह विनिश्चित किया क्योंकि उच्च न्यायालय ने संपूर्ण मौखिक साक्ष्यों का मूल्यांकन किया और प्रतिकूल कब्जे के प्रश्न पर प्रथम अपील न्यायालय के तथ्य के निष्कर्ष को उलट दिया । न्यायालय की राय में, उच्च न्यायालय का ऐसा दृष्टिकोण विधि में अनुज्ञेय नहीं है । द्वितीयतः, उच्च न्यायालय यह देखने में असफल रहा कि प्रतिकूल कब्जे का अभिवाक् आवश्यक रूप से तथ्य पर आधारित एक अभिवाक् था और जब एक बार दोनों न्यायालयों ने साक्ष्यों का विवेचन करने के पश्चात् उलटे जाने के निष्कर्ष अभिलिखित कर दिए तो ऐसा निष्कर्ष द्वितीय अपील न्यायालय पर आबद्धकर होता है । इतना ही नहीं, इस मामले में किसी भी प्रकार से विधि का कोई प्रश्न, कम से कम विधि का सारवान् प्रश्न अंतर्वलित नहीं है । विधि के इस पहलू की भी उच्च न्यायालय द्वारा अनदेखी की गई है । तृतीयतः, उच्च न्यायालय को समुचित मामलों में तथ्य के निष्कर्ष में हस्तक्षेप करने की अधिकारिता है, परंतु ऐसा निष्कर्ष पूर्णतया इस सीमा तक प्रतिकूल पाया जाता है कि कोई भी न्यायिक व्यक्ति ऐसा निष्कर्ष कभी भी अभिलिखित नहीं कर सकता है अथवा जब इसे किसी सुस्थिर विधि के सिद्धांत या अभिवचनों या साक्ष्यों के विरुद्ध पाया जाता है । ऐसी त्रुटियां, विधि का प्रश्न गठित करती है और उच्च न्यायालय को हस्तक्षेप करने की शक्ति देती है । तथापि, हम यहां ऐसी कोई त्रुटि नहीं पाते हैं । चतुर्थतः, उच्च न्यायालय यह देखने में असफल रहा कि प्रतिकूल कब्जे के अभिवाक् को प्रत्यर्थियों द्वारा न तो समुचित तौर पर अभिवाक् किया गया है और न ही इसे बनाया गया है । मूल प्रतिवादी की ओर से वाद संपत्ति या इसके किसी भाग पर संपूर्ण विश्व, जिसमें इसके असली स्वामी सम्मिलित हैं, को अपवर्जित करते हुए, स्वामित्व के दावे का कोई प्राख्यान नहीं किया गया है । द्वितीयतः, यह अभिवाक् नहीं किया गया है कि कब और किस तरीके से ऐसा प्राख्यान आरंभ हुआ । दूसरे शब्दों में, यह अभिवाक् नहीं किया गया है कि किस तारीख से न्यायालय 12 वर्ष या 40 वर्ष की अवधि की गणना करने में समर्थ है, जैसा कि प्रतिवादी द्वारा दावा किया गया है । उसके प्राख्यान का आरंभ ही 12 वर्ष के व्यतीत होने पर वाद गृह पर स्वामित्व के उसके संपूर्ण

अधिकार के रूप में परिवर्तित हो जाता है । तृतीयतः, यह भी अभिवाक् नहीं किया गया है कि क्या स्वामित्व के अधिकार का प्राख्यान लोक के विरुद्ध था या असली स्वामी अर्थात् (अपीलार्थियों के हक-पूर्वाधिकारी) के विरुद्ध था अथवा/और अपीलार्थियों के विरुद्ध था और क्या उन्हें इसकी जानकारी थी और यदि ऐसा था तो यह 12 वर्षों से अधिक अवधि से खुला, प्रतिकूल, अभिव्यक्त, निरंतर, शांतिपूर्ण और बिना किसी भी बाधा के था जिनमें इसके असली स्वामी सम्मिलित थे । अंततः, अजबराव (मूल प्रतिवादी) के ऊपर यह भार था कि वह प्रतिकूल कब्जे का अभिवाक् करता और इसे साबित करता, जिसमें वह किसी भी दस्तावेजी साक्ष्य द्वारा ऐसे भार का निर्वहन करने में असफल रहा । न्यायालय की सुविचारित राय में, यह स्पष्टतः अनुज्ञेय कब्जे का मामला था जहां अजबराव को अपीलार्थी के पूर्वाधिकारी द्वारा वाद गृह में दो कमरों में रहने के लिए मंजूर किया गया था, जब वे वाद गृह के स्वामी थे, तो उन्होंने वाद गृह या/और उसके कब्जे के लिए अजबराव के किसी भी प्रकार के अधिकार, हक और हित की पुष्टि नहीं की थी । जब अपीलार्थी स्वामी हो गए तो उन्होंने अनुज्ञा वापस ले ली, जो उन्होंने तारीख 11 अक्तूबर, 1985 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख के आधार पर स्वामी होने के नाते अधिकार का दावा किया था । इसलिए, वाद गृह के एक भाग में अजबराव का कब्जा अनधिकृत हो गया । इसलिए, वह अपीलार्थियों को उसका कब्जा प्रतिस्थापित करने के लिए दायी था । (पैरा 17, 18, 19, 20, 26, 27, 28, 29 और 30)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2010] (2010) 14 एस. सी. सी. 316 :
चट्टी कोनाटि राव और अन्य बनाम
पाटले वेंकटा सुब्बा राव ; 24

[2006] (2006) 7 एस. सी. सी. 570 :
टी. अंजनप्पा और अन्य बनाम
सोमालिंगप्पा और एक अन्य । 23

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2008 की सिविल अपील सं. 3533-3534.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से	सर्वश्री विवेक सोलशे और अमोल बी. करनडे, अधिवक्तागण
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री सचिन पाहवा और चन्द्रशेखर आसरी, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – अपीलार्थियों द्वारा ये अपीलें, मुंबई उच्च न्यायालय, नागपुर खंड न्यायपीठ, नागपुर द्वारा 1992 की द्वितीय अपील सं. 48 में पारित तारीख 24 अप्रैल, 2003 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई हैं, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) की धारा 100 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करते हुए मूल प्रतिवादी द्वारा फाइल अपील को मंजूर कर लिया था और अपील न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और आदेश को अपास्त कर दिया था तथा विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री की पुष्टि कर दी थी और 1992 की द्वितीय अपील सं. 48 में पारित तारीख 28 अप्रैल, 2003 के निर्णय/आदेश से उद्भूत 2003 की पुनर्विलोकन आवेदन सं. 235 में पारित तारीख 25 अगस्त, 2005 जिससे पुनर्विलोकन आवेदन किया गया था, को भी एकल न्यायाधीश द्वारा खारिज कर दिया गया था ।

2. इन अपीलों में अंतर्वलित विवाद्यक के लिए संक्षिप्त रूप से मामले के तथ्य अत्यधिक संक्षिप्त हैं । तथापि, अपील में अंतर्वलित विवाद्यक की विवेचना करने पर सुसंगत तथ्यों का उल्लेख करना आवश्यक है ।

3. अपीलार्थी, वादी हैं जबकि प्रत्यर्थी मूल प्रतिवादी-अजबराव के विधिक प्रतिनिधि हैं जिसकी उच्च न्यायालय के समक्ष अपील लंबित रहने के दौरान मृत्यु हो गई थी, उस सिविल वाद में जिनसे ये अपीलें उद्भूत हुई हैं ।

4. विवाद्यक खटिकपुरा टिमकी, नागपुर में स्थित वार्ड सं. 29 (पुराना) और 51 (नया) सर्किल 17/23 में निगम सं. 989 (पुराना) और 989/0-4 (नया) के गृह के एक भाग (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'वाद गृह' कहा गया है) से संबंधित है ।

5. वाद गृह मूल रूप से श्री नारायण जंगलूजी कार्टरे, डोकावडू नारायण कार्टरे, अजबराव नारायण कार्टरे और कमलाकर नारायण कार्टरे द्वारा संयुक्त रूप से स्वामित्व और कब्जे में धारित था । ये सभी चारों व्यक्ति वादियों के दादा, पिता और दो चाचा थे । इन चारों व्यक्तियों ने श्री

लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल को 30,000/- रुपए के एवज में वाद गृह का तारीख 21 अक्तूबर, 1970 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा विक्रय किया । तथापि, अपीलार्थियों (वादियों) ने लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल से 55,000/- रुपए के एवज में वाद गृह को तारीख 11 अक्तूबर, 1985 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा क्रय किया ।

6. मूल प्रतिवादी, प्रतिवादियों द्वारा वाद गृह का क्रय करने के पूर्व भी वाद गृह के दो कमरों में रह रहा था । अपीलार्थियों ने वाद गृह का क्रय करने के पश्चात् अजबराव से वाद गृह के उस भाग को खाली करने के लिए निवेदन किया, जो उसके कब्जे में था । अजबराव ने कमरों को खाली करने से इनकार कर दिया और इसके बजाय उसने वाद गृह पर अपीलार्थियों के हक से इनकार किया ।

7. इससे व्यथित होकर अपीलार्थियों ने अजबराव के विरुद्ध तारीख 29 अगस्त, 1986 को 1986 की सिविल वाद सं. 1510 फाइल की । वाद, संपूर्ण वाद गृह पर अपीलार्थियों की हक की घोषणा और वाद गृह के उस भाग पर कब्जे जो अजबराव के कब्जे में थी, के लिए फाइल किया गया था ।

8. वाद, अन्य बातों के साथ इन अभिकथनों पर आधारित था कि अपीलार्थी, तारीख 11 अक्तूबर, 1985 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल से वाद गृह का क्रय करने के नाते वाद गृह के स्वामी हैं । यह अभिकथित किया गया था कि अजबराव वाद गृह को अपीलार्थियों द्वारा क्रय किए जाने के पूर्व वाद गृह के उस भाग पर अनुज्ञेय कब्जे में था । अपीलार्थियों ने अनुज्ञा अभिखंडित कर दी थी और अजबराव से वाद गृह के उस भाग को खाली करने का निवेदन किया जिसे उसने खाली नहीं किया, इसलिए, अपीलार्थी अपने हक के आधार पर अजबराव से वाद गृह के उस भाग के कब्जे का दावा करने का हकदार है । अजबराव के विरुद्ध वाद गृह के उस भाग का उपयोग और अधिभोग करने की क्षतिपूर्ति के लिए 100/- रुपए प्रतिमाह की दर से क्षतिपूर्ति के अनुतोष का भी दावा किया गया ।

9. प्रतिवादी ने अपना लिखित कथन फाइल किया । उसने अपीलार्थियों के हक से इनकार किया और यह दावा किया कि वह वाद गृह को अपीलार्थियों द्वारा क्रय करने के काफी समय पूर्व लगभग 40 वर्षों से वाद गृह के उस भाग के कब्जे में हैं । उसने यह अभिकथित किया कि अपीलार्थियों के हक-उत्तराधिकारी ने कभी भी लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल को वाद गृह का विक्रय नहीं किया अपितु उन्होंने लक्ष्मी

नारायण बालाजी जायसवाल के पास वाद गृह का बंधक रखा था । उन्होंने यह भी अभिकथित किया कि 40 वर्षों से अधिक समय से लंबे और निरंतर कब्जे के कारण उनका कब्जा अपीलार्थियों और लक्ष्मी नारायण बालाजी जायसवाल के विरुद्ध प्रतिकूल कब्जा हो गया है । उन्होंने आवश्यक पक्षकारों के असंयोजन के आधार पर वाद को कायम रखने का अभिवाक् भी उद्भूत किया ।

10. विचारण न्यायालय ने विवाद्यक विरचित किए । पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किया । विचारण न्यायालय ने तारीख 22 मार्च, 1988 के निर्णय/डिक्री द्वारा वाद खारिज कर दिया । यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी, वाद गृह के उस भाग के सिवाय वाद गृह के स्वामी है, जो अजबराव के कब्जे में है । यह अभिनिर्धारित किया कि अजबराव ने प्रतिकूल कब्जे द्वारा उस भाग पर अपना हक सुनिश्चित कर लिया है जो उसके कब्जे में है ।

11. अपीलार्थियों ने इससे व्यथित होकर सातवें अपर जिला न्यायाधीश के समक्ष प्रथम अपील फाइल की । अपर जिला न्यायाधीश ने तारीख 22 अक्तूबर, 1991 के निर्णय/डिक्री द्वारा अपील मंजूर कर ली और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अपास्त कर दिया तथा वादी का वाद डिक्री कर दिया । प्रथम अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी उस भाग को सम्मिलित करते हुए जिस पर अजबराव का कब्जा था, वाद गृह के स्वामी हैं । यह भी अभिनिर्धारित किया कि अजबराव, उस भाग पर अपना कब्जा साबित करने में असफल रहा जिस पर उसने प्रतिकूल कब्जे द्वारा अपने कब्जे का दावा किया है । यह भी अभिनिर्धारित किया कि उसे मात्र अनुज्ञेय कब्जा प्राप्त था और ऐसे अनुज्ञेय कब्जे को अपीलार्थियों द्वारा वापस ले लिया गया है, इसलिए, उसे वाद गृह के उक्त भाग को खाली करना था । प्रथम अपील न्यायालय ने वाद गृह के उस भाग का उपयोग और अधिभोग करने के लिए क्षतिपूर्ति के रूप में रु. 1000/- के साथ वाद फाइल करने की तारीख से इसके उद्ग्रहण की तारीख तक छह प्रतिशत प्रतिमाह की दर पर ब्याज और नोटिस प्रभार के बारे में 100/- रुपए के लिए डिक्री भी पारित की ।

12. इससे व्यथित होकर, अजबराव ने सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष द्वितीय अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा अपील मंजूर कर ली और प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय और डिक्री को अपास्त कर दिया और विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री को प्रतिस्थापित कर दिया । दूसरे

शब्दों में, उच्च न्यायालय के आदेश का प्रभाव यह है कि अपीलार्थियों (वादियों) का वाद खारिज कर दिया ।

13. उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर, वादियों ने इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से इन अपीलों को फाइल किया ।

14. अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल श्री विवेक सोलशे और प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल श्री सचिन पाहवा को सुना ।

15. पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल को सुनने और मामले के अभिलेखों का परिशीलन करने के पश्चात्, हम इन अपीलों को मंजूर करने और आक्षेपित आदेश को अपास्त करने तथा प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय/डिक्री, जो प्रत्यर्थियों के विरुद्ध अपीलार्थियों के सिविल वाद को सही ही डिक्री किया गया है, को प्रतिस्थापित करने के लिए आबद्ध हैं ।

16. हमारे सुविचारित राय में, द्वितीय अपील को विनिश्चित करने में उच्च न्यायालय का दृष्टिकोण जिसके परिणामस्वरूप अपीलार्थियों का वाद खारिज कर दिया गया था, पूर्णतया प्रतिकूल है और द्वितीय अपील में लागू विधि की सुस्थिर सिद्धांतों तथा मामले में अंतर्वलित तथ्यात्मक संविवाद के विरुद्ध जो हमारे द्वारा इसमें नीचे दिए गए कारणों से स्पष्ट है ।

17. प्रथमतः, हम यह पाते हैं कि उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील को संहिता, 1908 की धारा 96 के अधीन प्रथम अपील की तरह विनिश्चित किया क्योंकि उच्च न्यायालय ने संपूर्ण मौखिक साक्ष्यों का मूल्यांकन किया और प्रतिकूल कब्जे के प्रश्न पर प्रथम अपील न्यायालय के तथ्य के निष्कर्ष को उलट दिया । हमारी राय में, उच्च न्यायालय का ऐसा दृष्टिकोण विधि में अनुज्ञेय नहीं है ।

18. द्वितीयतः, उच्च न्यायालय यह देखने में असफल रहा कि प्रतिकूल कब्जे का अभिवाक् आवश्यक रूप से तथ्य पर आधारित एक अभिवाक् था और जब एक बार दोनों न्यायालयों ने साक्ष्यों का विवेचन करने के पश्चात् उलटे जाने के निष्कर्ष अभिलिखित कर दिए तो ऐसा निष्कर्ष द्वितीय अपील न्यायालय पर आबद्धकर होता है । इतना ही नहीं, इस मामले में किसी भी प्रकार से विधि का कोई प्रश्न, कम से कम विधि का सारवान् प्रश्न अंतर्वलित नहीं है । विधि के इस पहलू की भी उच्च न्यायालय द्वारा अनदेखी की गई है ।

19. तृतीयतः, उच्च न्यायालय को समुचित मामलों में तथ्य के निष्कर्ष में हस्तक्षेप करने की अधिकारिता है, परंतु ऐसा निष्कर्ष पूर्णतया इस सीमा तक प्रतिकूल पाया जाता है कि कोई भी न्यायिक व्यक्ति ऐसा निष्कर्ष कभी भी अभिलिखित नहीं कर सकता है अथवा जब इसे किसी सुस्थिर विधि के सिद्धांत या अभिवचनों या साक्ष्यों के विरुद्ध पाया जाता है । ऐसी त्रुटियां, विधि का प्रश्न गठित करती हैं और उच्च न्यायालय को हस्तक्षेप करने की शक्ति देती है । तथापि, हम यहां ऐसी कोई त्रुटि नहीं पाते हैं ।

20. चतुर्थतः, उच्च न्यायालय यह देखने में असफल रहा कि प्रतिकूल कब्जे के अभिवाक् को प्रत्यर्थियों द्वारा न तो समुचित तौर पर अभिवाक् किया गया है और न ही इसे बनाया गया है ।

21. लिखित कथन के विनिर्दिष्ट अभिवचनों के पैरा 2 (विशेष इजाजत याचिका का पृष्ठ 44) में मात्र यह प्रकथन पाया गया है जो इस प्रकार है :–

> "कि इसके अतिरिक्त, प्रतिवादी उक्त गृह में पृथक् तौर पर पिछले 40 वर्षों से रह रहा है और उक्त गृह के अपने भाग के निरंतर कब्जे में है, इसलिए, उसका कब्जा स्वामी अर्थात् अपने पिता, उक्त जायसवाल और वर्तमान वादी के प्रतिकूल हो गया है ।"

22. प्रतिकूल कब्जा क्या है और इसे साबित करने के लिए किस पर भार है और अंततः, इसके बारे में न्यायालयों का क्या दृष्टिकोण होना चाहिए जब वे इस न्यायालय के कई मामलों के विषयवस्तु पर ऐसे अभिवाक् पर विचार करते हैं ।

23. **टी. अंजनप्पा और अन्य** बनाम **सोमालिंगप्पा और एक अन्य**[1] वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि मात्र कब्जा चाहे कितनी भी लंबी अवधि का हो, से आवश्यक तौर पर यह अभिप्राय नहीं हो सकता है कि यह असली स्वामी के प्रतिकूल हो गया है और प्रतिकूल कब्जे द्वारा अर्जन की विशिष्ट आवश्यकता यह है कि ऐसे कब्जे, असली स्वामी के हक से इनकार करते हैं ।

24. पूर्वोक्त विनिश्चय का अवलंब लेते हुए इस न्यायालय ने पुनः **चट्टी कोनाटि राव और अन्य** बनाम **पाटले वेंकटा सुब्बा राव**[2] वाले मामले

---

[1] (2006) 7 एस. सी. सी. 570.

[2] (2010) 14 एस. सी. सी. 316.

में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है :–

> "14. इस न्यायालय की विभिन्न प्रमाणिकताओं को ध्यान में रखते हुए, जिनमें से कुछ को उपर्युक्त निर्दिष्ट किया गया है, से सुरक्षित तौर पर यह कहा जा सकता है कि तथापि, लंबे कब्जे से आवश्यक रूप से अभिप्राय यह नहीं होता है कि यह असली स्वामी के विरुद्ध प्रतिकूल हो गया है । इसका अभिप्राय प्रतिकूल कब्जे से है, जो असली स्वामी के हक को अभिव्यक्ततः या विविक्षतः इनकार करता है और कब्जे को प्रतिकूल कब्जे के रूप में गठित होने के लिए पर्याप्त रूप से निरंतरता, प्रचार-प्रसार और इस सीमा तक दर्शित होना चाहिए कि यह असली स्वामी के प्रतिकूल हो गया है । कब्जा, पर्याप्त रूप से इतना खुला और प्रतिकूल होना चाहिए कि इसकी संपत्ति में हितबद्ध पक्षकारों को जानकारी में होनी चाहिए । वादी, 12 वर्षों के भीतर अपने हक के साथ ही कब्जे को साबित करने के लिए आबद्ध है और जब एक बार वादी अपने हक को साबित कर देता है तो प्रतिवादी पर यह सिद्ध करने का भार स्थानांतरित हो जाता है कि उसने प्रतिकूल कब्जे द्वारा सुनिश्चित तौर पर अपना हक प्राप्त कर लिया है । प्रतिकूल कब्जे का दावा करने के लिए दो आधारभूत अवयव हैं, अर्थात् प्रतिवादी का कब्जा वादी के प्रतिकूल होना चाहिए और प्रतिवादी को इसके पश्चात् 12 वर्षों से अधिक अवधि के निरंतर कब्जे में होना चाहिए ।"

25. विधि के पूर्वोक्त सिद्धांतों को वर्तमान मामले के तथ्यों में लागू करते हुए, हम निम्नलिखित कारणों से प्रत्यर्थियों के अभिवाक् में पूर्णतः कोई गुणागुण नहीं पाते हैं ।

26. मूल प्रतिवादी की ओर से वाद संपत्ति या इसके किसी भाग पर संपूर्ण विश्व, जिसमें इसके असली स्वामी सम्मिलित हैं, को अपवर्जित करते हुए, स्वामित्व के दावे का कोई प्राख्यान नहीं किया गया है । द्वितीयतः, यह अभिवाक् नहीं किया गया है कि कब और किस तरीके से ऐसा प्राख्यान आरंभ हुआ । दूसरे शब्दों में, यह अभिवाक् नहीं किया गया है कि किस तारीख से न्यायालय 12 वर्ष या 40 वर्ष की अवधि की गणना करने में समर्थ है, जैसा कि प्रतिवादी द्वारा दावा किया गया है । उसके प्राख्यान का आरंभ ही 12 वर्ष के व्यतीत होने पर वाद गृह पर स्वामित्व के उसके संपूर्ण अधिकार के रूप में परिवर्तित हो जाता है ।

27. तृतीयतः, यह भी अभिवाक् नहीं किया गया है कि क्या स्वामित्व

के अधिकार का प्राख्यान लोक के विरुद्ध था या असली स्वामी अर्थात् (अपीलार्थियों के हक-पूर्वाधिकारी) के विरुद्ध था अथवा/और अपीलार्थियों के विरुद्ध था और क्या उन्हें इसकी जानकारी थी और यदि ऐसा था तो यह 12 वर्षों से अधिक अवधि से खुला, प्रतिकूल, अभिव्यक्त, निरंतर, शांतिपूर्ण और बिना किसी भी बाधा के था जिनमें इसके असली स्वामी सम्मिलित थे ।

28. अंततः, अजबराव (मूल प्रतिवादी) के ऊपर यह भार था कि वह प्रतिकूल कब्जे का अभिवाक् करता और इसे साबित करता, जिसमें वह किसी भी दस्तावेजी साक्ष्य द्वारा ऐसे भार का निर्वहन करने में असफल रहा ।

29. हमारे सुविचारित राय में, यह स्पष्टतः अनुज्ञेय कब्जे का मामला था जहां अजबराव को अपीलार्थी के पूर्वाधिकारी द्वारा वाद गृह में दो कमरों में रहने के लिए मंजूर किया गया था, जब वे वाद गृह के स्वामी थे, तो उन्होंने वाद गृह या/और उसके कब्जे के लिए अजबराव के किसी भी प्रकार के अधिकार, हक और हित की पुष्टि नहीं की थी ।

30. जब अपीलार्थी स्वामी हो गए तो उन्होंने अनुज्ञा वापस ले ली, जो उन्होंने तारीख 11 अक्तूबर, 1985 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय-विलेख के आधार पर स्वामी होने के नाते अधिकार का दावा किया था । इसलिए, वाद गृह के एक भाग में अजबराव का कब्जा अनधिकृत हो गया । इसलिए, वह अपीलार्थियों को उसका कब्जा प्रतिस्थापित करने के लिए दायी था ।

31. इसलिए, हम उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए कारणों और निकाले गए निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं, हमारी राय में, इसे न तो तथ्यतः और न ही वैधतः कायम रखा जा सकता है । इसलिए, यह अपास्त किए जाने योग्य है ।

32. पूर्ववर्ती के चर्चा के प्रकाश में, अपीलें सफल होती हैं और मंजूर की जाती हैं । आक्षेपित आदेशों को अपास्त किया जाता है, जबकि, सातवां अपर जिला न्यायाधीश द्वारा पारित तारीख 22 अक्तूबर, 1991 के प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय/डिक्री को प्रतिस्थापित किया जाता है । परिणामस्वरूप, वादी के वाद को प्रथम अपील न्यायालय द्वारा 1988 की सिविल वाद सं. 132 में पारित तारीख 22 अक्तूबर, 1991 के निर्णय/डिक्री के अनुसार, प्रत्यर्थियों के विरुद्ध डिक्री किया जाता है ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

क.

[2018] 3 उम. नि. प. 48

शिव नारायण नागर और अन्य

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य

13 नवम्बर, 2017

न्यायमूर्ति अरुण मिश्रा और न्यायमूर्ति एल. नागेश्वर राव

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 तथा 34(1)(घ) और 14 और 16 – अपील – संविदा के आधार पर नियुक्ति – नियुक्ति अवैध और तत्समय प्रवृत्त किसी भी विनियम के उल्लंघन में न होना – संविदा के आधार पर निरंतर 10 वर्ष की सेवा करना – पद को नियमित करने से इनकार करना – यदि अभिलेख पर यह सिद्ध हो जाता है कि संविदा के आधार पर कोई नियुक्ति अवैध या तत्समय प्रवृत्त किसी भी विनियमन के विरुद्ध नहीं की गई है और इस प्रकार, नियुक्त व्यक्ति या व्यक्तियों ने निरंतर 10 वर्ष की सेवा कर चुके हैं तो ऐसी नियुक्ति को नियमित करने से मात्र इस आधार पर इनकार नहीं किया जा सकता है कि ऐसी नियुक्ति पिछले दरवाजे से हुई है और नियमितिकरण के लिए कोई पद अस्तित्व में नहीं है ।

वर्तमान मामले में, अपीलार्थी अगस्त, 1993 के माह में दैनिक मजदूरी के आधार पर आरंभतः नियोजित हुए थे । उसके बाद, वे वर्ष 1996 में संविदा आधार पर नियुक्त हुए थे । प्रत्यर्थी सं. 3 ने न्यूनतम वेतनमान पर नियमित कर्मचारी के रूप में उन्हें नियुक्ति आदेश जारी किया था । तारीख 25 जुलाई, 2006 के आदेश द्वारा तारीख 1 अक्तूबर, 2002 को भूतलक्षी प्रभाव से अस्थायी कर्मचारियों के रूप में उनकी पुष्टि कर दी गई थी । उच्च न्यायालय द्वारा जारी निर्देशों के अनुसार उनकी नियमितिकरण के लिए विचार किया जाना था, किन्तु उनकी सेवाएं नियमित नहीं की गई थीं । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने नियमितिकरण की ईप्सा करने वाले रिट याचिका को अंततोगत्वा खारिज कर दिया गया था । उस आदेश की उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ द्वारा पुष्टि कर दी गई थीं । वर्ष 2014 में, अपीलार्थियों की सेवाएं समाप्त कर दी गई थी । इससे व्यथित होकर अपीलार्थियों ने माननीय उच्चतम न्यायालय के समक्ष वर्तमान अपील फाइल की । न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – जब न्यायालय अभिभावी दृश्यलेख पर विचार करता है तो यह उल्लेख करने में पीड़ा महसूस होती है कि उमा देवी वाले मामले के विनिश्चय को समुचित रूप से नहीं समझा गया है और इसके बजाय विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा इसे गलत तौर पर लागू किया गया है । न्यायालय वर्तमान मामले में, यह सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न राज्यों से डाटा मंगवा रहा है कि उनके विभागों में संविदा के आधार पर या तदर्थ आधार पर या दैनिक मजदूरी के आधार पर कितने कर्मचारी कार्य कर रहे हैं । न्यायालय यह न्यायिक नोटिस ले सकता है कि व्यापक तौर पर पूर्वोक्त कार्य निरंतर किए जा रहे हैं । यद्यपि, इस न्यायालय ने इस बात पर जोर दिया है कि पदधारियों को नियमों के अनुसार, नियमित आधार पर नियुक्त किया जाना चाहिए किन्तु संविदा के आधार पर नियुक्ति करने के नए उपाय को अंगीकृत किया गया है, नियोजन, शोषण के प्रारूप में, दैनिक मजदूरी, इत्यादि के आधार पर प्रस्थापित किए जाते हैं । इस स्थिति को, उमा देवी वाले मामले में, परिकल्पित नहीं किया गया था । उक्त विनिश्चय का मुख्य अर्थान्वयन यह है कि नियोजक प्रक्रिया को ऋजु साधनों द्वारा किया जाना चाहिए न कि पिछले दरवाजे की प्रविष्टि द्वारा किया जाना चाहिए और उपलब्ध वेतनमान में किया जाना चाहिए । उमा देवी वाले मामले की इस भावना की अवहेलना की गई है और कतिपय राज्य सरकारों/प्राधिकारियों द्वारा अपनी सुविधा के अनुसार, इसकी अनदेखी की गई है । न्यायालय दृढ़ता से यह मत व्यक्त करता है कि उमा देवी वाले मामले के विनिश्चय को उसकी सही भावना के रूप में लागू नहीं किया गया है और इसके सार और तत्व का अनुसरण नहीं किया गया है । पदधारियों की सेवाओं को नियमित नहीं करने के उपकरण के रूप में इसका मात्र उपयोग किया जाना है । वे सम्यक् वेतन का संदाय किए बिना सेवा में निरंतर बने हुए हैं, जिसे वे संविधान, 1950 के अनुच्छेद 34(1)(घ) के साथ पठित अनुच्छेद 14, 16 के आधार पर पाने के हकदार हैं, क्योंकि उन्हें डी. एस. नकारा बनाम भारत संघ वाले मामले में यथापरिकल्पित सांविधानिक संरक्षण प्राप्त नहीं है । वे जीवन के यौवनकाल में, जीविका की कोई गारंटी के बिना शोषित निबंधनों पर निरंतर सेवा कर रहे हैं और बुढ़ापे में, वे निःसहाय होने जा रहे हैं, उनके लिए पेंशन, सेवानिवृत्तिक लाभ इत्यादि के लिए कोई उपबंध नहीं है । यह सांविधानिक उपबंधों और निम्न पददलित वर्ग की आकांक्षाओं का स्पष्ट उल्लंघन है । उन्हें समान अधिकार है और उनके साथ समान व्यवहार करने की आवश्यकता है जिसके लिए उन्हें संरक्षण अपेक्षित है और उनके साथ मनमाना नहीं किया

जा सकता है । उनके साथ किया गया व्यवहार न केवल दूषित है अपितु समान रूप से असांविधानिक है और उनके अधिकारों से इनकार करना है । न्यायालय को उमा देवी वाले मामले की विचारधारा के वस्तुतः प्रवर्तन में संतुलन कायम रखना है । इस प्रकार, उस परिस्थिति को समय के साथ रोकना है जहां उमा देवी वाले मामले की अवज्ञा करने की अनुमति दी जा सकती है, जबकि इस न्यायालय ने वर्ष 2006 में ऐसे पिछले नियोजन को निषेध लगा रखा है । नियोजन, शोषित निबंधनों पर नहीं हो सकता है, जबकि उमा देवी वाले मामले में यह अधिकथित किया गया है कि पिछले दरवाजे से प्रविष्टि नहीं होनी चाहिए और प्रत्येक पद को नियमित नियोजन द्वारा भरा जाना चाहिए किन्तु संविधा/तदर्थ आधार अथवा अन्यथा के आधार पर निकृष्ट व्यवस्था के संदाय पर नियुक्ति करने के लिए नए उपाय अपनाए जाते हैं । इस प्रकार की कार्रवाई अनुज्ञेय नहीं है जब न्यायालय उमा देवी वाले मामले की सही भावना में सार और तत्व पर विचार करता है । वर्तमान मामले के तथ्यों पर विचार करते हैं, अपीलार्थियों के नियमितिकरण पर विचार करने के लिए वर्ष 1999 में, पूर्व में निर्देश जारी किए गए थे । तथापि, नियमितिकरण नहीं किया गया था । प्रत्यर्थियों ने न्यूनतम वेतनमान देने का निश्चय किया था, जो वर्ष 2000 में पूर्व से नियमित कर्मचारियों को उपलब्ध था और एक आदेश पारित करते हुए, अपीलार्थियों को भी तारीख 2 अक्तूबर, 2000 से तत्काल भूतलक्षी प्रभाव के साथ वर्ष 2006 में अस्थायी प्रास्थिति प्रदान किया गया था । प्रत्यर्थियों के अनुसार, कर्मचारियों को अस्थायी प्रास्थिति का चुनाव करने के लिए उन्हें स्वयं अवसर दिया गया था, क्योंकि ऐसा करना कार्य और पद की अपेक्षा थी जो उस विशिष्ट समय पर भी उपलब्ध थी जब आदेश पारित किया गया था । इस प्रकार, प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा यह निवेदन किया गया कि पद उपलब्ध नहीं थे, जैसा कि उनकी कार्रवाई से परिलक्षित है । सुस्पष्टतः, अपीलार्थियों द्वारा की गई लंबी सेवा अवधि पर विचार करने के लिए एक आदेश पारित किया गया था जो शोषित निबंधनों पर लिए गए थे । उच्च न्यायालय ने उमा देवी वाले मामले के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए, रिट आवेदन खारिज कर दिया । किन्तु, अपीलार्थी वर्ष 1993 में मूलतः नियोजित हुए थे, वे तीन वर्षों की सेवाएं दे चुके थे, जबसे उन्हें संविदा के आधार पर सेवा की प्रास्थापना की गई थी, यह पिछले दरवाजे से प्रविष्टि का मामला नहीं था और उन्हें इस प्रकार की नियुक्ति की प्रास्थापना करने से किसी नियम का उल्लंघन नहीं होता है । इस प्रकार, नियुक्ति को अवैध और नियमों के उल्लंघन में नहीं कहा जा सकता

है क्योंकि उस समय पर ऐसा कोई सुसंगत नियम उपलब्ध नहीं था जब उनकी अस्थायी प्रास्थिति की तारीख 2 अक्तूबर, 2002 के तत्काल प्रभाव से पुष्टि की गई थी । अपीलार्थियों को पुराने मापदंड के अनुसार, नियमित आधार पर नियुक्त किए जाने की आवश्यकता है जैसा कि उमा देवी वाले मामले के पैराग्राफ 53 में अधिकथित है । चूंकि अपीलीर्थियों ने 10 वर्ष की सेवा पूरी कर ली और उन्हें तारीख 2 अक्तूबर, 2002 के भूतलक्षी प्रभाव से प्रत्यर्थियों द्वारा अस्थायी प्रास्थिति प्रदान किया गया था, इसलिए, न्यायालय यह निर्देश देता है कि अपीलार्थियों की सेवाएं उक्त तारीख अर्थात् तारीख 2 अक्तूबर, 2002 से नियमित की जाएं, पारिणामिक, लाभों और वेतन बकायों का भी आज से तीन माह की अवधि के भीतर अपीलार्थियों को संदाय किया जाए । (पैरा 8, 9 और 10)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2006]	(2006) 4 एस. सी. सी. 1 : **सचिव, कर्नाटक राज्य और अन्य** बनाम **उमा देवी और अन्य** ;	4,6,7,8,10
[1983]	ए. आई. आर. 1983 एस. सी. 130 : **डी. एस. नकारा** बनाम **भारत संघ** ।	8

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 18510.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से	सर्वश्री प्रदीप कांत, ज्येष्ठ अधिवक्ता, दिव्यांशु सहाय, रोहित कुमार सिंह और संजय गोयल, अधिवक्तागण
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री आरोही भल्ला, (सुश्री) साक्षी कक्कड़, (अर्द्धेन्दुमौली प्रसाद के लिए), लव कुमार अग्रवाल और कुन्दन कुमार लाल, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अरुण मिश्रा ने दिया ।

न्या. मिश्रा – इजाजत दी जाती है ।

2. पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल को सुना ।

3. अपीलार्थी, अगस्त, 1993 के माह में दैनिक मजदूरी के आधार पर आरंभतः नियोजित हुए थे । उसके बाद, वे वर्ष 1996 में संविदा आधार पर नियुक्त हुए थे । प्रत्यर्थी सं. 3 ने न्यूनतम वेतनमान पर नियमित कर्मचारी के रूप में उन्हें नियुक्ति आदेश जारी किया था । तारीख 25 जुलाई, 2006 के आदेश द्वारा तारीख 1 अक्तूबर, 2002 को भूतलक्षी प्रभाव से अस्थायी कर्मचारियों के रूप में उनकी पुष्टि कर दी गई थी । उच्च न्यायालय द्वारा जारी निर्देशों के अनुसार उनकी नियमितिकरण के लिए विचार किया जाना था, किन्तु उनकी सेवाएं नियमित नहीं की गई थीं । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने नियमितिकरण की ईप्सा करने वाली रिट याचिका को अंततोगत्वा खारिज कर दिया गया था । उस आदेश की उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ द्वारा पुष्टि कर दी गई थी ।

4. वर्ष 2014 में, अपीलार्थियों की सेवाएं समाप्त कर दी गई थी । नियमितिकरण के लिए अपीलार्थियों के मामले पर विचार करते समय उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 27 अक्तूबर, 2014 के आदेश द्वारा अभिलिखित इन निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए, कि उनकी नियुक्ति अवैध थी और नियमित भी नहीं थी । इस न्यायालय ने विशेष इजाजत याचिका ग्रहण करते हुए, तारीख 23 मार्च, 2015 को निम्नलिखित आदेश पारित किया :–

> "नोटिस जारी किया जाता है ।
>
> प्रथमदृष्ट्या यह प्रतीत होता है कि याचियों ने सेवाओं का नियमितिकरण के लिए अभिवाक् के साथ उच्च न्यायालय में याचिका फाइल की थी । यद्यपि, इस अभिवाक् को आक्षेपित आदेश द्वारा उनके पक्ष में नहीं पाया गया था । तथापि, रिट याचिका खारिज करने के इस आदेश पर कार्रवाई करते हुए, प्रत्यर्थियों ने याचियों की सेवाएं समाप्त करने का विनिश्चय लिया था । इन दोनों के बीच में कोई प्रायिक संबंध नहीं है । तथापि, यह सामान्य पक्षकथन है कि याची पिछले 4 महीने से कार्य नहीं कर रहे हैं । हम, प्रत्यर्थियों को इस बात के लिए सावधान करते हैं कि यदि यह न्यायालय आक्षेपित आदेश को कायम नहीं रखता है तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि याची पिछले पूर्ण मजदूरियों के साथ पुनः बहाल होने के हकदार हो जाएंगे, इसलिए, प्रत्यर्थियों के लिए यह प्रज्ञा की बात होगी कि वे याचियों की सेवाएं जारी रखें । यह भी प्रतीत होता है कि याचियों की पिछले दरवाजे से कोई नियोजन या प्रविष्टि नहीं हुई थी ताकि वे उस बात के लिए अहकदार हो जाएं जो कि सचिव,

कर्नाटक राज्य और अन्य **बनाम** उमा देवी (3) और अन्य [(2006) 4 एस. सी. सी. 1] वाले मामले के पैराग्राफ 53 में परिकल्पित है ।

यदि, प्रत्यर्थी याचियों को अपनी सेवाओं में वापस आने की अनुज्ञा देते हैं तो यह वर्तमान कार्यवाहियों में याचियों के अधिकारों के प्रतिकूल नहीं होगा ।"

इस न्यायालय द्वारा यह मत व्यक्त किया गया था कि सेवा में अपीलार्थियों का नियोजन या प्रविष्टि पिछले दरवाजे से नहीं हुई थी, जिससे कि उन्हें **सचिव, कर्नाटक राज्य और अन्य** बनाम **उमा देवी और अन्य**[1] वाले मामले में, इस न्यायालय के विनिश्चय के पैराग्राफ 53 में यथापरिकल्पित नियमितिकरण का फायदे पाने से वंचित नहीं किया जा सके । इसे निम्नलिखित उद्धृत किया जाता है :–

"एक पहलू को स्पष्टीकृत किए जाने की आवश्यता है । ऐसे मामले हो सकते हैं जहां अनियमित नियुक्तियां (न कि अवैध नियुक्तियां) जैसा कि मैसूर राज्य **बनाम** एस. वी. नारायणप्पा [(1967) 1 एस. सी. आर. 128], आर. एन. ननजुंनदप्पा **बनाम** टी. तिमैय्या [(1972) 1 एस. सी. सी. 409] और बी. एन. नागराजन् **बनाम** कर्नाटक राज्य [(1979) 4 एस. सी. सी. 547] वाले मामलों में स्पष्टीकृत की गई हैं और उपर्युक्त के पैराग्राफ 15 में निर्दिष्ट की गई हैं, सम्यक् रूप से मंजूर रिक्त पदों में सम्यक् रूप से अर्ह व्यक्तियों की, की गई हों और कर्मचारियों ने न्यायालयों या अधिकरणों के आदेशों के हस्तक्षेप के बिना दस वर्ष या उससे अधिक समय से निरंतर कार्य कर रहे हों । ऐसे कर्मचारियों की सेवाओं के नियमितिकरण के प्रश्न पर, उपर्युक्त निर्दिष्ट मामलों में इस न्यायालय द्वारा सुस्थिर सिद्धांतों के प्रकाश में और इस निर्णय के प्रकाश में, गुणागुणों के आधार पर विचार किया जा सकता है । उक्त संदर्भ में, भारत संघ, राज्य सरकारें और उनके उपकरणों को एक समयबद्ध मापक के रूप में नियमितिकरण के लिए कदम उठाना चाहिए, ऐसे अनियमित तौर पर नियुक्त कर्मचारियों की सेवाएं, जिन्होंने सम्यक् रूप से मंजूर पदों पर 10 वर्ष या उससे अधिक अवधि तक कार्य किया है, किन्तु न्यायालयों या अधिकरणों के आदेशों के अध्यधीन नहीं है और यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि नियमित करने

---

[1] (2006) 4 एस. सी. सी. 1.

की आवश्यकताएं उन रिक्त मंजूर पदों को भरे जाने के लिए वचनबद्ध होने चाहिए कि आवश्यकताएं पूरी की जा सकें, उन मामलों में जहां अस्थायी कर्मचारियों या दैनिक मजदूरों को अब नियुक्त किया जाना है । प्रक्रिया को इस निर्णय की तारीख से छह माह की अवधि के भीतर आरंभ किया जाना चाहिए । हम यह भी स्पष्ट करते हैं कि नियमितिकरण, यदि कोई पहले ही किया जा चुका है, किन्तु न्यायाधीन नहीं है तो उन्हें इस निर्णय के आधार पर पुनः खोले जाने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सांविधानिक आवश्यकताओं से बाहर जाकर और जो सांविधानिक स्कीम के अनुसार, सम्यक् रूप से नियुक्त नहीं किए गए हैं, उन्हें नियमित करने या स्थायी करने के लिए कोई कार्रवाई नहीं करनी चाहिए ।"

5. इसके पश्चात्, अपीलार्थियों को सेवा में वापस ले लिया गया और वे निरंतर सेवा कर रहे हैं । अब, वे लगभग 24 वर्ष की सेवा कर चुके हैं, सिवाय अक्तूबर, 2014 से मार्च, 2015 के बीच कुछ माह की अवधि के अंतराल को छोड़कर ।

6. अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा यह निवेदन किया गया कि अपीलार्थियों की सेवाएं नियमित की जानी चाहिए । यह पिछले दरवाजे से प्रविष्टि या अवैध नियुक्ति का मामला नहीं है, अपितु मात्र अनियमित नियुक्ति का मामला है और वे नियमितकरण के हकदार हैं । विद्वान् काउंसेल ने अंतरिम आदेश में की गई मताभिव्यक्तियों के साथ ही **उमा देवी** (उपर्युक्त) के मामले के विनिश्चय का भी अवलंब लिया है । यह भी निवेदन किया गया कि जब वर्ष 2006 में प्रत्यर्थी सं. 3 द्वारा अस्थायी प्रास्थिति मंजूर किया गया था तो मात्र यह प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या उसी तारीख से नियमितिकरण किए जाने की आवश्यकता है, वेतनमान में न्यूनतम वेतन को वर्ष 2000 में मंजूर किया गया था और इसके पश्चात्, तारीख 25 जुलाई, 2006 को मंजूर किया गया था, अस्थायी प्रास्थिति भी तारीख 1 अक्तूबर, 2002 के तत्काल प्रभाव से मंजूर किया गया था, इस प्रकार उनकी सेवाएं समाप्त नहीं की जा सकती हैं और उन्हें नियमित किए जाने की आवश्यकता है ।

7. प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय के पैराग्राफ 44 का अवलंब लेते हुए, यह दलील दी है कि यह अनियमित नियुक्ति का मामला नहीं है, अपितु अवैध नियुक्ति का मामला है, कोई रिक्ति उपलब्ध नहीं है, जिससे कि अपीलार्थियों की

सेवाओं को नियमित किया जा सकता है और नियुक्ति, आरक्षण नीति के उल्लंघन में भी है, इस प्रकार, सेवा समाप्ति का आदेश सही ही जारी किया गया है और ऐसा कोई मामला नहीं बनता है जिससे कि अपीलार्थी अपनी सेवाओं को नियमित कराने के हकदार हो जाते हैं ।

8. जब हम अभिभावी दृश्यलेख पर विचार करते हैं तो यह उल्लेख करने में पीड़ा महसूस होती है कि **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय को समुचित रूप से नहीं समझा गया है और इसके बजाय विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा इसे गलत तौर पर लागू किया गया है । हम वर्तमान मामले में, यह सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न राज्यों से डाटा मंगवा रहे हैं कि उनके विभागों में संविदा के आधार पर या तदर्थ आधार पर या दैनिक मजदूरी के आधार पर कितने कर्मचारी कार्य रहे हैं । हम यह न्यायिक नोटिस ले सकते हैं कि व्यापक तौर पर पूर्वोक्त कार्य निरंतर किए जा रहे हैं । यद्यपि, इस न्यायालय ने इस बात पर जोर दिया है कि पदधारियों को नियमों के अनुसार, नियमित आधार पर नियुक्त किया जाना चाहिए किन्तु संविदा के आधार पर नियुक्ति करने के नए उपाय को अंगीकृत किया गया है, नियोजन, शोषण के प्ररूप में, दैनिक मजदूरी, इत्यादि के आधार पर प्रस्थापित किए जाते हैं । इस स्थिति को, **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले में, परिकल्पित नहीं किया गया था । उक्त विनिश्चय का मुख्य अर्थान्वयन यह है कि नियोजक प्रक्रिया को ऋजु साधनों द्वारा किया जाना चाहिए न कि पिछले दरवाजे की प्रविष्टि द्वारा किया जाना चाहिए और उपलब्ध वेतनमान में किया जाना चाहिए । **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले की इस भावना की अवहेलना की गई है और कतिपय राज्य सरकारों/प्राधिकारियों द्वारा अपनी सुविधा के अनुसार, इसकी अनदेखी की गई है । हम दृढ़ता से यह मत व्यक्त करते हैं कि **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय को उसकी सही भावना के रूप में लागू नहीं किया गया है और इसके सार और तत्व का अनुसरण नहीं किया गया है । पदधारियों की सेवाओं को नियमित नहीं करने के उपकरण के रूप में इसका मात्र उपयोग किया जाना है । वे सम्यक् वेतन का संदाय किए बिना सेवा में निरंतर बने हुए हैं, जिसे वे संविधान, 1950 के अनुच्छेद 34(1)(घ) के साथ पठित अनुच्छेद 14, 16 के आधार पर पाने के हकदार हैं, क्योंकि उन्हें **डी. एस. नकारा** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में यथापरिकल्पित सांविधानिक संरक्षण प्राप्त नहीं है । वे जीवन के यौवनकाल

---

[1] ए. आई. आर. 1983 एस. सी. 130.

में, जीविका की कोई गारंटी के बिना शोषित निबंधनों पर निरंतर सेवा कर रहे हैं और बुढ़ापे में, वे निःसहाय होने जा रहे हैं, उनके लिए पेंशन, सेवानिवृत्तिक लाभ इत्यादि के लिए कोई उपबंध नहीं है । यह सांविधानिक उपबंधों और निम्न पददलित वर्ग की आकांक्षाओं का स्पष्ट उल्लंघन है । उन्हें समान अधिकार है और उनके साथ समान व्यवहार करने की आवश्यकता है जिसके लिए उन्हें संरक्षण अपेक्षित है और उनके साथ मनमाना नहीं किया जा सकता है । उनके साथ किया गया व्यवहार न केवल दूषित है अपितु समान रूप से असांविधानिक है और उनके अधिकारों से इनकार करना है । हमें **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले की विचारधारा के वस्तुतः प्रवर्तन में संतुलन कायम रखना है । इस प्रकार, उस परिस्थिति को समय के साथ रोकना है जहां **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले की अवज्ञा करने की अनुमति दी जा सकती है, जबकि इस न्यायालय ने वर्ष 2006 में ऐसे पिछले नियोजन को निषेध लगा रखा है । नियोजन, शोषित निबंधनों पर नहीं हो सकता है, जबकि **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले में यह अधिकथित किया गया है कि पिछले दरवाजे से प्रविष्टि नहीं होनी चाहिए और प्रत्येक पद को नियमित नियोजन द्वारा भरा जाना चाहिए किन्तु संविधा/तदर्थ आधार अथवा अन्यथा के आधार पर निकृष्ट व्यवस्था के संदाय पर नियुक्ति करने के लिए नए उपाय अपनाए जाते हैं । इस प्रकार की कार्रवाई अनुज्ञेय नहीं है जब हम **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले की सही भावना सार और तत्व पर विचार करते हैं ।

9. वर्तमान मामले के तथ्यों पर विचार करते हैं, अपीलार्थियों के नियमितिकरण पर विचार करने के लिए वर्ष 1999 में, पूर्व में निर्देश जारी किए गए थे । तथापि, नियमितिकरण नहीं किया गया था । प्रत्यर्थियों ने न्यूनतम वेतनमान देने का निश्चय किया था, जो वर्ष 2000 में पूर्व से नियमित कर्मचारियों को उपलब्ध था और एक आदेश पारित करते हुए, अपीलार्थियों को भी तारीख 2 अक्तूबर, 2000 के तत्काल भूतलक्षी प्रभाव के साथ वर्ष 2006 में अस्थायी प्रास्थिति प्रदान किया गया था । प्रत्यर्थियों के अनुसार, कर्मचारियों को अस्थायी प्रास्थिति का चुनाव करने के लिए उन्हें स्वयं अवसर दिया गया था, क्योंकि ऐसा करना कार्य और पद की अपेक्षा थी जो उस विशिष्ट समय पर भी उपलब्ध थी जब आदेश पारित किया गया था । इस प्रकार, प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा यह निवेदन किया गया कि पद उपलब्ध नहीं थे, जैसा कि उनकी कार्रवाई से परिलक्षित है । सुस्पष्टतः, अपीलार्थियों द्वारा की गई लंबी सेवा अवधि पर विचार करने के लिए एक आदेश पारित किया गया था जो शोषित निबंधनों

पर लिए गए थे ।

10. उच्च न्यायालय ने **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए, रिट आवेदन खारिज कर दिया । किन्तु, अपीलार्थी वर्ष 1993 में मूलतः नियोजित हुए थे, वे तीन वर्षों की सेवाएं दे चुके थे, जबसे उन्हें संविदा के आधार पर सेवा की प्रास्थापना की गई थी, यह पिछले दरवाजे से प्रविष्टि का मामला नहीं था और उन्हें इस प्रकार की नियुक्ति की प्रास्थापना करने से किसी नियम का उल्लंघन नहीं होता है । इस प्रकार, नियुक्ति को अवैध और नियमों के उल्लंघन में नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उस समय पर ऐसा कोई सुसंगत नियम उपलब्ध नहीं था जब उनकी अस्थायी प्रास्थिति की तारीख 2 अक्तूबर, 2002 के तत्काल प्रभाव से पुष्टि की गई थी । अपीलार्थियों को पुराने मापदंड के अनुसार, नियमित आधार पर नियुक्त किए जाने की आवश्यकता है जैसा कि **उमा देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले के पैराग्राफ 53 में अधिकथित है । चूंकि अपीलीर्थियों ने 10 वर्ष की सेवा पूरी कर ली और उन्हें तारीख 2 अक्तूबर, 2002 के भूतलक्षी प्रभाव से प्रत्यर्थियों द्वारा अस्थायी प्रास्थिति प्रदान किया गया था, इसलिए, हम यह निर्देश देते हैं कि अपीलार्थियों की सेवाएं उक्त तारीख अर्थात् तारीख 2 अक्तूबर, 2002 से नियमित की जाएं, पारिणामिक, लाभों और वेतन बकायों का भी आज से तीन माह की अवधि के भीतर अपीलार्थियों को संदाय किया जाए ।

11. तद्द्वारा, आक्षेपित निर्णय और आदेश तथा सेवाएं समाप्त करने के आदेश भी अभिखंडित किए जाते हैं । तद्नुसार, अपील मंजूर की जाती है । लंबित आवेदन, यदि कोई हों, भी निपटाए जाते हैं ।

अपील मंजूर की जाती है ।

क.

[2018] 3 उम. नि. प. 58

कॉमन काज़

बनाम

भारत संघ और अन्य

28 नवम्बर, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम, 1946 (1946 का 25) – धारा 4ग – केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के पद पर नियुक्ति की वैधता को चुनौती – चूंकि धारा 4ग के अधीन गठित चयन समिति का विनिश्चय सर्वसम्मत था और विनिश्चय किए जाने से पूर्व केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक ने उस विचार-विमर्श में भाग लिया था और वह विनिश्चय सुसंगत सामग्री और विचारणाओं पर आधारित था इसलिए केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक का पद पर नियुक्ति किसी अवैधता से ग्रस्त नहीं है ।

याची, कॉमन काज़ ने, जो कि एक रजिस्ट्रीकृत सोसाइटी है, प्रस्तुत लोक हित मुकदमेबाजी (पी.आई.एल.) के माध्यम से कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग में मंत्रिमंडलीय नियुक्ति समिति के सचिवालय द्वारा जारी तारीख उस आदेश की विधिमान्यता को, जिसके द्वारा इस मामले में के प्रत्यर्थी सं. 2 को, विशेष निदेशक, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के रूप में नियुक्त किया गया था, इस आधार पर प्रश्नगत किया है कि यह नियुक्ति अवैध, मनमाने, असद्भाविक रूप में की गई है और उससे त्रुटिहीन और संस्थागत सत्यनिष्ठा के सिद्धांतों का अतिक्रमण हुआ है । याची की ओर से विद्वान् काउंसेल और भारत संघ की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् महान्यायवादी की सुनवाई की गई । दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम में, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक तथा पुलिस अधीक्षक के पद से ऊपर वाले अधिकारियों की नियुक्ति के लिए एक प्रक्रिया का उपबंध करने के लिए लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013 द्वारा और संशोधन किया गया था । चूंकि प्रस्तुत याचिका में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष निदेशक के चयन और नियुक्ति को चुनौती दी गई है न कि केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक की नियुक्ति को चुनौती दी गई है, इसलिए 2013 के अधिनियम द्वारा यथा-प्रतिस्थापित केवल धारा 4ग पर विचार किया जाना है । दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम की धारा 4ग में

पुलिस अधीक्षक और उससे ऊपर वाले अधिकारियों की नियुक्ति के लिए प्रक्रिया का उपबंध किया गया है । याची के काउंसेल ने इंडिया टूडे में तारीख 22 अक्तूबर, 2017 और "दि पायनियर" और "दि हिन्दू" में तारीख 23 अक्तूबर, 2017 को प्रतिवेदित समाचार रिपोर्टों और "दि पायनियर" में प्रकाशित तारीख 24 अक्तूबर, 2017 की समाचारपत्र रिपोर्ट का अवलंब लेते हुए यह निवेदन किया कि चयन समिति द्वारा तारीख 21 अक्तूबर, 2017 को आयोजित उसकी बैठक में प्रत्यर्थी सं. 2 को केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के पद पर नियुक्ति के संबंध में कोई विनिश्चय नहीं किया गया था इसलिए मंत्रिमंडलीय नियुक्ति समिति (ए.सी.सी.) द्वारा जारी किया गया तारीख 22 अक्तूबर, 2017 का आदेश पूर्णतः अवैध और विधि की दृष्टि से प्रतिकूल है । उच्चतम न्यायालय द्वारा रिट याचिका खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – इस संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता है कि यदि कानून में किसी पद पर नियुक्ति की सिफारिश करने से पूर्व किसी व्यक्ति से परामर्श करने का उपबंध किया गया है तो उस व्यक्ति से परामर्श किया जाना होगा । उस व्यक्ति द्वारा, जिससे परामर्श किया जाना है, व्यक्त राय को प्रमुखता देने का प्रश्न विभिन्न कारकों पर निर्भर करेगा । यदि कोई चयन समिति नहीं है और नियुक्ति प्राधिकारी को किसी अन्य सांविधानिक/कानूनी प्राधिकारी से परामर्श करना पड़ता है तो उस व्यक्ति द्वारा, जिससे परामर्श किया जाना है, व्यक्त राय को प्रमुखता देने का प्रश्न विद्यमान रहता है । तथापि, ऐसे मामलों में, जहां एक ऐसी चयन समिति का गठन किया गया है जिसमें उच्च पदाधिकारी शामिल हैं और उस विभाग के, जिसके लिए नियुक्ति के संबंध में सिफारिश की जानी है, एक अन्य व्यक्ति से परामर्श किया जाना होता है, उस दशा में परामर्श केवल विचार-विमर्श करने की ऐसी प्रक्रिया है जिसे चयन समिति द्वारा सिफारिश करते समय विचार में लिया जाना होता है । इसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उसे प्रमुखता प्राप्त है । (पैरा 13 और 14)

चयन समिति द्वारा किए गए विनिश्चय को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है, जो कि सर्वसम्मत है और विनिश्चय किए जाने से पूर्व केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक ने उस विचार-विमर्श में भाग लिया था और यह सुसंगत सामग्री और विचारणाओं पर आधारित है । इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा फाइल की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में भी प्रत्यर्थी सं. 2 के नाम का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं किया गया है । इस प्रकार, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का दर्ज किया जाना, प्रत्यर्थी सं. 2 के सेवा

अभिलेख और कार्य तथा अनुभव पर विचार करने के पश्चात् विशेष निदेशक के पद पर उसके नाम पर विचार करने के मार्ग में रुकावट नहीं होगा । चयन समिति की बैठक के कार्यवृत्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रिंट और इलैक्ट्रानिक मीडिया में प्रतिवेदित ये समाचार मदें कि चयन समिति की तारीख 21 अक्तूबर, 2017 को आयोजित बैठक में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के पद पर नियुक्ति की बाबत कोई विनिश्चय नहीं लिया गया था, तथ्यात्मक रूप से गलत है । इसी प्रकार, इंडिया एक्सप्रेस में प्रतिवेदित लंदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का कथन ऐसी समाचार रिपोर्टों पर आधारित प्रतीत होता है जो कि तथ्यात्मक रूप से गलत पाई गई हैं और इसलिए इसमें कोई सार नहीं है । पूर्वगामी विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, न्यायालय की यह सुविचारित राय है कि इस मामले में के प्रत्यर्थी सं. 2 की केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के पद पर नियुक्ति किसी अवैधता से ग्रस्त नहीं है । (पैरा 17 और 18)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2011] (2011) 4 एस. सी. सी. 1 :
सेंटर फॉर पी.आई.एल. और एक अन्य बनाम
भारत संघ और एक अन्य ; 9

[2009] (2009) 8 एस. सी. सी. 273 :
महेश चन्द्र गुप्ता बनाम **भारत संघ और अन्य** ; 17

[1998] (1998) 1 एस. सी. सी. 226 :
विनीत नारायण और अन्य बनाम **भारत संघ**
और एक अन्य ; 3,4

[1993] (1993) 4 एस. सी. सी. 441 :
उच्चतम न्यायालय अभिलेख अधिवक्ता एसोसिएशन
और अन्य बनाम **भारत संघ** । 8

आरंभिक (सिविल) अधिकारिता : 2017 की रिट याचिका (सिविल) सं. 1088.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका

याची की ओर से सर्वश्री प्रशांत भूषण, (सुश्री) नेहा राठी, एमी शुक्ला, प्रणव सचदेवा और शक्ति वी. शर्मा

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री के. के. वेणुगोपाल, महान्यायवादी, तुषार मेहता, अपर महासालिसिटर, आर. बालासुब्रमण्यम, (सुश्री) आरती शर्मा, संतोष कुमार विश्वकर्मा, एस. एस. शमशेरी, आर. बाला, रजत नायर, एम. के. मरोड़िया, सौरभ शमशेरी और (सुश्री) टाटिनी बसु

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल ने दिया ।

न्या. अग्रवाल – याची, कॉमन काज़ ने, जो कि एक रजिस्ट्रीकृत सोसाइटी है, अपने अध्यक्ष श्री कमल कांत जसवाल की मार्फत प्रस्तुत लोक हित मुकदमेबाजी (पी. आई. एल.) के माध्यम से कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग में मंत्रिमंडलीय नियुक्ति समिति के सचिवालय द्वारा जारी तारीख 22 अक्तूबर, 2017 के उस आदेश की विधिमान्यता को, जिसके द्वारा श्री राकेश कुमार अस्थाना को, जो कि इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 2 है, विशेष निदेशक, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के रूप में नियुक्त किया गया था, इस आधार पर प्रश्नगत किया है कि यह नियुक्ति अवैध, मनमाने, असद्भाविक रूप में की गई है और उससे त्रुटिहीन और संस्थागत सत्यनिष्ठा के सिद्धांतों का अतिक्रमण हुआ है ।

2. हमने याची की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री प्रशांत भूषण और भारत संघ की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् महान्यायवादी श्री के. के. वेणुगोपाल की सुनवाई की है ।

3. विद्वान् काउंसेल श्री प्रशांत भूषण ने यह दलील दी है कि इस न्यायालय ने **विनीत नारायण और अन्य** बनाम **भारत संघ और एक अन्य**[1] वाले मामले में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक की नियुक्ति के लिए प्रक्रिया अधिकथित की है, जो कि निम्न प्रकार है :–

> "58.6, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक की नियुक्ति के लिए सिफारिशें केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त की अध्यक्षता वाली समिति द्वारा की जाएंगी, जिसमें गृह सचिव और सचिव (कार्मिक) सदस्य के रूप में होंगे । समिति द्वारा सर्वोत्तम चयन करने के लिए पदधारी निदेशक की राय पर विचार किया जाएगा । समिति, भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों की ज्येष्ठता, सत्यनिष्ठा, अन्वेषण और भ्रष्टाचार-विरोधी कार्य में उनके अनुभव के आधार पर एक पैनल तैयार करेगी । चयन

[1] (1998) 1 एस. सी. सी. 226.

समिति द्वारा सिफारिश किए गए पैनल में से मंत्रिमंडलीय नियुक्ति समिति (ए. सी. सी.) द्वारा अंतिम चयन किया जाएगा । यदि पैनल में से कोई भी व्यक्ति उपयुक्त नहीं पाया जाता है तो उसके कारण लेखबद्ध किए जाएंगे और समिति को नया पैनल तैयार करने के लिए कहा जाएगा ।"

4. विद्वान् काउंसेल ने आगे यह दलील दी कि केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो की स्थापना दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम, 1946 के अधीन की गई है और **विनीत नारायण** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिए गए निदेशों को कानूनी प्रभाव देने के लिए वर्ष 2003 में केन्द्रीय सतर्कता आयोग अधिनियम, 2003 द्वारा दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम में यह उपबंध करने के लिए संशोधन किया गया था कि केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक और पुलिस अधीक्षक के पद से ऊपर वाले अधिकारियों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त, सतर्कता आयुक्तों और भारत सरकार के दो सचिवों की सिफारिशों के आधार पर की जाएगी ।

5. दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम में, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक तथा पुलिस अधीक्षक के पद से ऊपर वाले अधिकारियों की नियुक्ति के लिए एक प्रक्रिया का उपबंध करने के लिए लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013 द्वारा और संशोधन किया गया था । चूंकि प्रस्तुत याचिका में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष निदेशक के चयन और नियुक्ति को चुनौती दी गई है न कि केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक की नियुक्ति को चुनौती दी गई है, इसलिए 2013 के अधिनियम द्वारा यथा-प्रतिस्थापित केवल धारा 4ग पर विचार किया जाना है । दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन अधिनियम की धारा 4ग में पुलिस अधीक्षक और उससे ऊपर वाले अधिकारियों की नियुक्ति के लिए प्रक्रिया का उपबंध किया गया है और वह निम्न प्रकार है :–

"4ग. पुलिस अधीक्षक और उससे ऊपर वाले पदों पर नियुक्ति, उनके कार्यकाल में विस्तार और कमी –

(1) केन्द्रीय सरकार, निदेशक के सिवाय पुलिस अधीक्षक के स्तर के पदों पर अधिकारियों की नियुक्ति और दिल्ली विशेष पुलिस स्थापन में ऐसे अधिकारियों के कार्यकाल में विस्तार या कमी की सिफारिश भी एक समिति की सिफारिश पर करेगी, जो निम्नलिखित से मिलकर बनेगी –

(क) केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त अध्यक्ष

(ख) सतर्कता आयुक्त सदस्य

(ग) सचिव, भारत सरकार, गृह मंत्रालय का भारसाधक सदस्य, और

(घ) सचिव, भारत सरकार, कार्मिक विभाग का भारसाधक सदस्य

परन्तु समिति, केन्द्रीय सरकार को अपनी सिफारिश प्रस्तुत करने से पूर्व निदेशक से परामर्श करेगी ।

(2) केन्द्रीय सरकार, उपधारा (1) के अधीन सिफारिश प्राप्त होने पर, ऐसे आदेश पारित करेगी, जो वह उक्त सिफारिश को प्रभावी रूप देने के लिए उपयुक्त समझे ।"

6. इस प्रकार, पुलिस अधीक्षक और उससे ऊपर के पदों पर नियुक्ति चयन समिति द्वारा केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक के परामर्श से की जानी है । श्री प्रशांत भूषण ने इंडिया टूडे में तारीख 22 अक्तूबर, 2017 और "दि पायनियर" और "दि हिन्दू" में तारीख 23 अक्तूबर, 2017 को प्रतिवेदित समाचार रिपोर्टों और "दि पायनियर" में प्रकाशित तारीख 24 अक्तूबर, 2017 की समाचारपत्र रिपोर्ट का अवलंब लेते हुए यह निवेदन किया कि चयन समिति द्वारा तारीख 21 अक्तूबर, 2017 को आयोजित उसकी बैठक में श्री राकेश अस्थाना – प्रत्यर्थी सं. 2 को केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के पद पर नियुक्ति के संबंध में कोई विनिश्चय नहीं किया गया था इसलिए मंत्रिमंडलीय नियुक्ति समिति (ए. सी. सी.) द्वारा जारी किया गया तारीख 22 अक्तूबर, 2017 का आदेश पूर्णतः अवैध और विधि की दृष्टि से प्रतिकूल है ।

7. याची की ओर से विद्वान् काउंसेल ने स्टर्लिंग बॉयोटैक एंड संदेसरा ग्रुप ऑफ कंपनीज़ के परिसरों में मारे गए छापे में अभिगृहीत डायरियों और अन्य कागजपत्रों का अवलंब लेते हुए, जिसमें डायरी के कुछ पृष्ठों पर श्री राकेश अस्थाना – इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 2, का नाम विद्यमान है तथा केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा फाइल की गई तारीख 30 अगस्त, 2017 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में, ज्ञात/संदेहास्पद/अज्ञात अभियुक्त की पूर्ण विशिष्टियों सहित ब्यौरे वाले स्तंभ में, "अन्य अज्ञात लोक सेवक और प्राइवेट व्यक्तियों" के संबंध में उल्लेख किया गया है, यह दलील दी

कि किसी भी दशा में प्रत्यर्थी सं. 2 की केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के रूप में नियुक्ति के लिए सिफारिश नहीं की जा सकती थी क्योंकि मामला अन्वेषणाधीन है ।

8. उसने यह दलील देने के लिए **उच्चतम न्यायालय अभिलेख अधिवक्ता एसोसिएशन और अन्य** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के नौ न्यायाधीशों की न्यायपीठ के विनिश्चय का अवलंब लिया कि परामर्श प्रभावी होना चाहिए और परामर्श किए गए व्यक्तियों के विचारों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए ।

9. याची की ओर से विद्वान् काउंसेल ने आगे अपने इस निवेदन के समर्थन में कि व्यक्ति से संस्था अधिक महत्वपूर्ण है और सिफारिश करने संबंधी विनिश्चय, इस बात को ध्यान में रखते हुए कि संस्था को एक महत्वपूर्ण कृत्य का पालन करना होता है, एक सूचनात्मक विनिश्चय होना चाहिए, **सेंटर फॉर पी. आई. एल. और एक अन्य** बनाम **भारत संघ और एक अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लिया ।

10. विद्वान् काउंसेल ने आगे यह दलील दी कि प्रत्यर्थी सं. 2 के पुत्र, अर्थात्, श्री अंकुश अस्थाना ने 2 वर्ष, 11 मास तक मैसर्स स्टर्लिंग बॉयोटैक (जिस कंपनी के कागज़ात और डायरियां अभिगृहीत की गई थीं) में सहायक प्रबंधक के रूप में कार्य किया है और प्रत्यर्थी सं. 2 की पुत्री के विवाह की कॉकटेल पार्टी मैसर्स संदेसरा ग्रुप ऑफ कंपनीज़ के फार्म हाउस में आयोजित की गई थी । उसने इंडियन एक्सप्रेस में तारीख 21 नवम्बर, 2017 में प्रतिवेदित एक समाचार का भी अवलंब लिया, जिसमें लंदन विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर ने इस बात को सिद्ध करने के लिए श्री राकेश अस्थाना – प्रत्यर्थी सं. 2 की विशेष निदेशक के रूप में नियुक्ति बिल्कुल भी नहीं हो सकती थी, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के अपर निदेशक के प्रोन्नति पाने के हाल ही के प्रयास से संबंधित सतर्कता आयोग के कार्यकरण के बारे में संदेह और चिन्ता अभिव्यक्त की थी ।

11. भारत के विद्वान् महान्यायवादी ने केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त के कार्यालय में तारीख 21 अक्तूबर, 2017 को आयोजित चयन समिति की बैठक के कार्यवृत्त हमारे समक्ष रखे और यह निवेदन किया कि चयन समिति ने केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक द्वारा प्रस्तुत किए गए तारीख

---

[1] (1993) 4 एस. सी. सी. 441.

[2] (2011) 4 एस. सी. सी. 1.

21 अक्तूबर, 2017 के गोपनीय पत्र पर विचार किया था और उस पर बैठक में विचार-विमर्श हुआ था । चयन समिति ने केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक द्वारा प्रस्तुत किए गए पत्र की अंतर्वस्तु को स्वीकार न करने के संबंध में उचित कारण दिए थे और श्री राकेश अस्थाना की केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष निदेशक के रूप में नियुक्ति की सिफारिश की थी । उसने आगे यह निवेदन किया कि स्वयं केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो ने तारीख 6 जुलाई, 2017 को केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष निदेशक का पद धारण करने के लिए उपयुक्त अभ्यर्थी के रूप में श्री राकेश अस्थाना की नियुक्ति करने का प्रस्ताव पेश किया था । उनके अनुसार, श्री राकेश अस्थाना केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष निदेशक के रूप में नियुक्ति किए जाने से पूर्व केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में अपर निदेशक का पद धारण किए हुए था और वह 11 क्षेत्रों के कृत्यों का पर्यवेक्षण कर रहा था, अर्थात्, एस. टी. एफ. क्षेत्र, एम. डी. एम. ए. क्षेत्र, दिल्ली क्षेत्र, लखनऊ क्षेत्र, पटना क्षेत्र, ई. ओ. ज़ैड-II क्षेत्र, मुम्बई, ई. ओ. ज़ैड-III क्षेत्र, कोलकाता क्षेत्र, पूर्वोत्तर क्षेत्र, चेन्नई क्षेत्र और चंडीगढ़ क्षेत्र । वह उपरोक्त हैसियत में घोटाले संबंधी अनेक मामलों में अन्वेषण/विचारण का पर्यवेक्षण कर रहा है, जिसके अंतर्गत अगस्ता वैस्टलैंड वाला मामला, एम्बुलेंस घोटाले वाला मामला, किंगफिशर के मामले, हसन अली खान का मामला, मोइन कुरैशी का मामला, जे. पी. सिंह रिश्वत वाला मामला, पैरामाउंट एयरवेज़ का मामला, कोयला घोटाले के मामले, बिहार और झारखंड के ए. एच. डी. और बिटुमैन घोटाले के मामले भी हैं । वह दिल्ली सरकार के मंत्रियों/पदाधिकारियों के विरुद्ध मामलों के अतिरिक्त अनेक विशेष अपराध के मामलों का भी पर्यवेक्षण कर रहा है जो कि न्यायालयों के आदेशों या राज्य सरकारों के अनुरोध पर रजिस्ट्रीकृत किए गए थे । इसलिए, उसने यह निवेदन किया कि चयन समिति द्वारा की गई सिफारिशों में कोई त्रुटि नहीं पाई जा सकती है । प्रत्यर्थी सं. 1 ने श्री राकेश अस्थाना की केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष निदेशक के रूप में नियुक्ति करने संबंधी सिफारिश को स्वीकार करके ठीक किया है ।

12. हमने पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों द्वारा किए गए विभिन्न अभिवाकों पर सावधानीपूर्वक विचार किया है ।

13. इस संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता है कि यदि कानून में किसी पद पर नियुक्ति की सिफारिश करने से पूर्व किसी व्यक्ति से परामर्श करने का उपबंध किया गया है तो उस व्यक्ति से परामर्श किया जाना होगा । उस व्यक्ति द्वारा, जिससे परामर्श किया जाना है, व्यक्त राय को

प्रमुखता देने का प्रश्न विभिन्न कारकों पर निर्भर करेगा । यदि कोई चयन समिति नहीं है और नियुक्ति प्राधिकारी को किसी अन्य सांविधानिक/कानूनी प्राधिकारी से परामर्श करना पड़ता है तो उस व्यक्ति द्वारा, जिससे परामर्श किया जाना है, व्यक्त राय को प्रमुखता देने का प्रश्न विद्यमान रहता है ।

14. तथापि, ऐसे मामलों में, जहां एक ऐसी चयन समिति का गठन किया गया है जिसमें उच्च पदाधिकारी शामिल हैं और उस विभाग के, जिसके लिए नियुक्ति के संबंध में सिफारिश की जानी है, एक अन्य व्यक्ति से परामर्श किया जाना होता है, उस दशा में परामर्श केवल विचार-विमर्श करने की ऐसी प्रक्रिया है जिसे चयन समिति द्वारा सिफारिश करते समय विचार में लिया जाना होता है । इसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उसे प्रमुखता प्राप्त है ।

15. चयन समिति की तारीख 21 अक्तूबर, 2017 को हुई बैठक के कार्यवृत्त में, चयन समिति ने केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक द्वारा प्रस्तुत किए गए टिप्पण पर विचार किया था और उसके संबंध में उससे चर्चा भी की थी, जैसा कि इसमें इसके नीचे उद्धृत कार्यवृत्त से स्पष्ट होगा :–

> "**मद सं. 2** : भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों का केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष निदेशक के रूप में अधिष्ठापन ।
>
> कार्यसूची संबंधी कागजपत्रों पर विचार किया गया है । केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक ने बैठक में तारीख 21 अक्तूबर, 2017 का एक गुप्त/गोपनीय पत्र आई. डी. सं. 30/2017/वी. सी. (सी. वी. सी.) 152/1552 प्रस्तुत किया है, जिसके साथ स्टर्लिंग बॉयोटैक लिमिटेड और उससे संबद्ध इकाइयों के संबंध में एक अहस्ताक्षरित टिप्पण संलग्न किया है । केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक द्वारा यह उल्लेख किया गया है कि टिप्पण में की प्रविष्टियों में, अन्य बातों के साथ-साथ श्री राकेश अस्थाना के प्रति निर्देश किया गया है । समिति ने उस टिप्पण पर विचार किया और इस मामले के संबंध में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक से भी चर्चा की गई थी । इस बात को ध्यान में रखते हुए कि इन कागजपत्रों से ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनमें जिस व्यक्ति का उल्लेख किया गया है वह वही व्यक्ति है जो कि नियुक्ति के लिए विचाराधीन है और इस दस्तावेज़ की अंतर्वस्तुओं की सच्चाई के बारे में कोई सबूत नहीं है और इसके अलावा इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो ने

स्वयं तारीख 6 जुलाई, 2017 को प्रस्तुत प्रस्ताव पेश किया था, जिसमें स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि श्री राकेश अस्थाना, भा.पु.से.(गुजरात : 1984) केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक का पद धारण करने के लिए उपयुक्त है और कोई अतिरिक्त सत्यापित सामग्री अभिलेख पर नहीं लाई गई है, समिति ने उसकी केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष निदेशक के रूप में नियुक्ति के लिए सिफारिश करने का विनिश्चय किया । समिति ने इस तथ्य को भी ध्यान में रखा कि सतर्कता आयोग ऐसी शिकायतों पर, जो नियुक्तियों या प्रोन्नतियों के करीब प्राप्त होती हैं, तब तक संज्ञान नहीं लेता जब तक वे साबित अवचार न हों । समिति ने ऐसे दस्तावेजों की बाबत न्यायालयों के विनिश्चयों का भी उल्लेख किया ।"

16. उपर्युक्त कार्यवृत्त के परिशीलन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते हैं :–

(i) केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक ने तारीख 21 अक्तूबर, 2017 का एक गुप्त/गोपनीय पत्र प्रस्तुत किया था, जिसके साथ मैसर्स स्टर्लिंग बॉयोटैक लिमिटेड और उससे संबद्ध इकाइयों के संबंध में एक अहस्ताक्षरित टिप्पण संलग्न किया है और यह कि टिप्पण में की प्रविष्टियों में, अन्य बातों के साथ-साथ श्री राकेश अस्थाना के प्रति निर्देश किया गया था ।

(ii) समिति ने उस टिप्पण पर विचार किया था और इस मामले में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक से भी चर्चा की गई थी ।

(iii) समिति ने यह निष्कर्ष निकाला कि इन कागजपत्रों से ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनमें जिस व्यक्ति का उल्लेख किया गया है वह वही व्यक्ति है जो कि नियुक्ति के लिए विचाराधीन है और इस दस्तावेज़ की अंतर्वस्तुओं की सच्चाई के बारे में कोई सबूत नहीं है ।

(iv) समिति ने आगे यह निष्कर्ष निकाला कि यह तथ्य कि केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो ने स्वयं तारीख 6 जुलाई, 2017 को प्रस्तुत प्रस्ताव पेश किया था जिसमें स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया कि श्री राकेश अस्थाना, भा. पु. से.(गुजरात : 1984) केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक का पद धारण करने के लिए उपयुक्त है ।

(v) समिति ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि कोई अतिरिक्त

सत्यापित सामग्री अभिलेख पर नहीं लाई गई है और समिति ने केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के रूप में श्री राकेश अस्थाना की नियुक्ति करने की सिफारिश करने का विनिश्चय किया ।

(vi) समिति ने इस तथ्य को भी ध्यान में रखा कि सतर्कता आयोग ऐसी शिकायतों पर, जो नियुक्तियों या प्रोन्नतियों के करीब प्राप्त होती हैं, तब तक संज्ञान नहीं लेता जब तक वे साबित अवचार न हों ।

(vii) चयन समिति द्वारा किया गया विनिश्चय सर्वसम्मत था ।

17. इसके अतिरिक्त, इस न्यायालय ने **महेश चन्द्र गुप्ता** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस तथ्य को उजागर किया है कि न्यायिक पुनर्विलोकन और योग्यता पुनर्विलोकन के बीच महत्वपूर्ण अंतर है । जब कोई परामर्श किया जाता है तब उस परामर्श की अंतर्वस्तु न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र से परे होती है हालांकि प्रभावी परामर्श की कमी न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि के भीतर आ सकेगी ।

18. हम चयन समिति द्वारा किए गए विनिश्चय को प्रश्नगत नहीं कर सकते हैं, जो कि सर्वसम्मत है और विनिश्चय किए जाने से पूर्व केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के निदेशक ने उस विचार-विमर्श में भाग लिया था और यह सुसंगत सामग्री और विचारणाओं पर आधारित है । इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा फाइल की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में भी श्री राकेश अस्थाना के नाम का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं किया गया है । इस प्रकार, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का दर्ज किया जाना, श्री राकेश अस्थाना के सेवा अभिलेख और कार्य तथा अनुभव पर विचार करने के पश्चात् विशेष निदेशक के पद पर उसके नाम पर विचार करने के मार्ग में रुकावट नहीं होगा । हम चयन समिति की बैठक के कार्यवृत्त से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रिंट और इलैक्ट्रानिक मीडिया में प्रतिवेदित ये समाचार मदें कि चयन समिति की तारीख 21 अक्तूबर, 2017 को आयोजित बैठक में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के पद पर नियुक्ति की बाबत कोई विनिश्चय नहीं लिया गया था, तथ्यात्मक रूप से गलत है । इसी प्रकार, इंडिया एक्सप्रेस में प्रतिवेदित लंदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का कथन ऐसी समाचार रिपोर्टों पर आधारित प्रतीत होता है जो कि तथ्यात्मक रूप से गलत पाई गई हैं और इसलिए इसमें कोई सार नहीं है ।

---

[1] (2009) 8 एस. सी. सी. 273.

19. पूर्वगामी विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह सुविचारित राय है कि श्री राकेश अस्थाना - इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 2 - की केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो में विशेष निदेशक के पद पर नियुक्ति किसी अवैधता से ग्रस्त नहीं है । रिट याचिका असफल होती है और वह खारिज की जाती है ।

रिट याचिका खारिज की गई ।

ग्रो.

[2018] 3 उम. नि. प. 69

मदन मोहन

बनाम

राजस्थान राज्य और अन्य

14 दिसम्बर, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 397 – उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण अधिकारिता – उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण में सेशन न्यायालय को आवेदकों के जमानत आवेदन पर, उसी दिन जिस दिन यह फाइल किया जाए, विचार करने और मंजूर करने का निदेश दिया जाना – कोई वरिष्ठ न्यायालय अधिक्रम संबंधी अधिकारिता में किसी अधीनस्थ न्यायालय को ऐसा निदेश/परमादेश उन्हें यह आदेश देते हुए जारी नहीं कर सकता कि किसी पक्षकार द्वारा फाइल किए गए किसी आवेदन पर एक विशिष्ट आदेश पारित किया जाए ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 397 – उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण अधिकारिता – पुनरीक्षण में सेशन न्यायालय को आवेदकों के जमानत आवेदन पर विचार करने और उसे मंजूर करने का निदेश दिया जाना – जमानत के लिए आवेदन पर सुनवाई करते समय यह पता लगाने का एकमात्र विवेकाधिकार सेशन न्यायाधीश का है कि जमानत प्रदान

करने के लिए तथ्यों के आधार पर अभियुक्त द्वारा मामला बनाया गया है या नहीं और जमानत प्रदान करने या नामंजूर करने में सेशन न्यायाधीश को अपने स्वतंत्र न्यायिक विवेक का प्रयोग करते हुए विधिक सिद्धांतों को ध्यान में रखकर समुचित सकारण आदेश पारित करना होता है, अतः उच्च न्यायालय का जमानत आवेदन पर विचार करने और उसे मंजूर करने का आदेश देना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है ।

मामले के तथ्यों के अनुसार, दो अभियुक्त, अर्थात् विमलेश कुमार और जनक सिंह एक सेशन विचारण में भारतीय दंड संहिता और लैंगिक अपराधों से बालकों का संरक्षण अधिनियम (पोक्सो ऐक्ट) के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए विचारण का सामना कर रहे हैं । यह मामला जिला और सेशन न्यायाधीश, सवाई माधोपुर के न्यायालय में लंबित है । सेशन मामला शिकायतकर्ता मदन मोहन (अपीलार्थी) द्वारा पुलिस थाना, पिलोदा में दर्ज की गई प्रथम इत्तिला के अनुसरण में आरंभ हुआ था । ऊपर वर्णित दोनों अभियुक्तों के विरुद्ध आरोप पत्र पहले ही फाइल किया जा चुका है । अपीलार्थी ने संहिता की धारा 193 के अधीन सेशन न्यायालय में एक आवेदन यह शिकायत करते हुए फाइल किया कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3, आशीष मीणा और विमल मीणा के नाम आरोप पत्र के साथ फाइल किए गए सभी तात्विक दस्तावेज़ों में यद्यपि प्रमुख रूप से सम्मिलित थे, तो भी किन्हीं उचित कारणों के बिना आरोप पत्र से उनके नाम हटा दिए गए, जबकि केवल दो अभियुक्तों अर्थात् विमलेश और जनक सिंह के नाम विचारण का सामना करने के लिए प्रतिधारित किए गए हैं । अतः, अपीलार्थी ने यह प्रार्थना की कि विमलेश कुमार और जनक सिंह के साथ-साथ प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 को अभियुक्तों के रूप में क्रमांकित करने और विचारण का सामना करने के लिए समन किया जाए क्योंकि, उसके अनुसार, प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 भी अन्य दो अभियुक्तों के साथ अपराध करने में अंतर्वलित हैं । सेशन न्यायाधीश ने प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के विरुद्ध प्रथम दृष्ट्या मामला पाते हुए तारीख 19 नवम्बर, 2016 के आदेश द्वारा आवेदन मंजूर किया और तद्नुसार उनके विरुद्ध गिरफ्तारी के अजमानतीय वारंट जारी करके दोनों को समन किया । प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 ने व्यथित होकर राजस्थान उच्च न्यायालय में संहिता की धारा 197 के अधीन दांडिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । तथापि, इस अपील में अपीलार्थी-शिकायतकर्ता को, जिसकी प्रेरणा पर सेशन न्यायाधीश द्वारा आदेश पारित किया गया था, पुनरीक्षण आवेदन में पक्षकार के रूप में अभियोजित नहीं

किया गया था । एकल न्यायाधीश ने आक्षेपित आदेश द्वारा पुनरीक्षण आवेदन भागतः मंजूर किया और सेशन न्यायाधीश के आदेश के उस भाग को अपास्त कर दिया, जिसमें प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 को समन करते हुए उनकी गिरफ्तारी के लिए अजमानतीय वारंट जारी करने का निदेश किया गया था । उच्च न्यायालय ने यह भी निदेश किया कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 विचारण न्यायालय के समक्ष अभ्यर्पण करें और अपनी नियमित जमानत के लिए आवेदन प्रस्तुत करें, जिस पर उस न्यायालय द्वारा उसी दिन, जिस दिन यह आवेदन प्रस्तुत किया जाता है, "विचार किया जाए और उसे मंजूर किया जाए" । प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 को आरोप विरचित करने के समय दलीलें देने की भी स्वतंत्रता दी गई । शिकायतकर्ता उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय से व्यथित हुआ और उसके विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – एकल न्यायालय द्वारा आक्षेपित आदेश न्यायिक विवेक का प्रयोग किए बिना पारित किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने आदेश पारित करते समय दो सुस्पष्ट गलती की हैं । प्रथम, वे इस बात पर विचार करने में असफल रहे हैं कि जिस शिकायतकर्ता की प्रेरणा पर सेशन न्यायाधीश ने आदेश पारित किया था और संहिता की धारा 193 के अधीन उसका आवेदन मंजूर किया था, वह दांडिक पुनरीक्षण में राज्य के साथ-साथ एक आवश्यक पक्षकार था । इसलिए, उसे पुनरीक्षण में राज्य के साथ प्रत्यर्थी के रूप में पक्षकार बनाया जाना चाहिए था । दूसरे शब्दों में, पुनरीक्षण में शिकायतकर्ता को भी सुने जाने का अधिकार था, क्योंकि सेशन न्यायाधीश द्वारा आक्षेपित आदेश उसके आवेदन पर पारित किया गया था । तथापि, एकल न्यायाधीश द्वारा मामले के इस पहलू पर ध्यान नहीं दिया गया । द्वितीय और अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि एकल न्यायाधीश ने सेशन न्यायाधीश को यह निदेश देकर गंभीर गलती की है कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के जमानत आवेदन पर विचार किया जाए और "उसी दिन" इसे "मंजूर किया जाए" । इस न्यायालय की सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय को जमानत प्रदान करने के लिए आवेदन को "मंजूर करने" के लिए सेशन न्यायाधीश को निदेश देने की अधिकारिता नहीं है । वास्तव में, जब एक बार उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा निदेश जारी कर दिया गया था, तब सेशन न्यायाधीश के पास उच्च न्यायालय के निदेशों का पालन करने और प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 को जमानत प्रदान करने के सिवाय विनिश्चय करने के लिए कुछ शेष नहीं रह गया था । दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय

द्वारा जारी किए गए आज्ञापक निदेशों के अनुपालन में, सेशन न्यायाधीश को जमानत आवेदन मंजूर करने के सिवाय उसे नामंजूर करने की कोई अधिकारिता नहीं थी । कोई वरिष्ठ न्यायालय अधिक्रम संबंधी अधिकारिता में किसी अधीनस्थ न्यायालय को ऐसा निदेश/परमादेश उन्हें यह समादेश देते हुए जारी नहीं कर सकता कि किसी पक्षकार द्वारा फाइल किए गए किसी आवेदन पर एक विशिष्ट आदेश पारित किया जाए । मामलों में आदेश पारित करने की प्रत्येक न्यायालय की न्यायिक स्वतंत्रता सुस्थिर है । इसमें वरिष्ठ न्यायालय सहित किसी न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है । (पैरा 14, 15, 16 और 17)

जमानत के लिए आवेदन पर सुनवाई करते समय यह पता लगाने का एकमात्र विवेकाधिकार सेशन न्यायाधीश का है कि जमानत प्रदान करने के लिए तथ्यों के आधार पर अभियुक्त द्वारा मामला बनाया गया है या नहीं । यदि मामला बनाया गया है, तब जमानत प्रदान की जाए और यदि नहीं बनाया गया है तो जमानत नामंजूर की जाए । दोनों दशाओं में, अर्थात् जमानत प्रदान करने या नामंजूर करने में सेशन न्यायाधीश को अपना स्वतंत्र न्यायिक विवेक प्रयोग करना चाहिए और तद्नुसार मामले में अंतर्वलित तथ्यों और जमानत प्रदान करने/नामंजूर करने के लिए लागू विधिक सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए समुचित सकारण आदेश पारित किया जाना चाहिए । इस मामले में, एकल न्यायाधीश इस विधिक सिद्धांत को अपने ध्यान में रखने में असफल रहे हैं । अतः, यह न्यायालय उच्च न्यायालय द्वारा सेशन न्यायालय को दिए गए इस निदेश को कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 द्वारा 2016 के सेशन विचारण मामला सं. 44 में किए गए जमानत के आवेदन पर उसी दिन, जिस दिन यह आवेदन प्रस्तुत किया जाता है, "विचार किया जाए और मंजूर किया जाए", अपास्त करने के लिए मजबूर है । पैरा (19, 20 और 22)

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2017 की दांडिक अपील सं. 2178.

2017 के दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 477 में राजस्थान उच्च न्यायालय, जयपुर के तारीख 28 अप्रैल, 2017 के आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री राजेश शर्मा, ओम प्रकाश तेहाड़िया, राजीव कुमार और (श्रीमती) शालु शर्मा

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री रितेश अग्रवाल, एस. ऋषभ, अजय कपूर और मिलिंद कुमार

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील शिकायतकर्ता द्वारा 2017 के एकल न्यायपीठ दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 477 में राजस्थान उच्च न्यायालय, जयपुर द्वारा तारीख 28 अप्रैल, 2017 को पारित किए गए उस अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 द्वारा फाइल किए गए दांडिक पुनरीक्षण आवेदन को भागतः मंजूर किया और 2016 के सेशन विचारण सं. 44 में सेशन न्यायाधीश, सवाई माधोपुर द्वारा तारीख 19 नवम्बर, 2016 को पारित आदेश के उस भाग को अपास्त कर दिया, जिसके द्वारा सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी (शिकायतकर्ता) द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) की धारा 193 के अधीन फाइल किए गए आवेदन को मंजूर करते हुए प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के विरुद्ध उनकी गिरफ्तारी के लिए अजमानतीय वारंट जारी किए थे ।

3. इस मामले के तथ्य अति संक्षिप्त हैं और इस अपील में अंतर्वलित विवाद्यक भी संक्षिप्त है । तथापि, उनका नीचे वर्णन करने की आवश्यकता है ।

4. दो अभियुक्त, अर्थात् विमलेश कुमार और जनक सिंह 2016 के सेशन विचारण सं. 44 में भारतीय दंड संहिता, 1860 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "भारतीय दंड संहिता" कहा गया है) की धारा 120ख, 363, 366, 368, 370(4) और 376 के साथ पठित लैंगिक अपराधों से बालकों का संरक्षण अधिनियम (पोक्सो ऐक्ट) की धारा 3/4 तथा 16/17 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए विचारण का सामना कर रहे हैं । यह मामला जिला और सेशन न्यायाधीश, सवाई माधोपुर के न्यायालय में लंबित है । सेशन मामला शिकायतकर्ता मदन मोहन (इस अपील में अपीलार्थी) द्वारा पुलिस थाना, पिलोदा में दर्ज की गई 2014 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 110 के अनुसरण में आरंभ हुआ था । ऊपर वर्णित दोनों अभियुक्तों के विरुद्ध आरोप पत्र पहले ही फाइल किया जा चुका है ।

5. अपीलार्थी ने संहिता की धारा 193 के अधीन सेशन न्यायालय में

एक आवेदन इसमें यह शिकायत करते हुए फाइल किया कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 आशीष मीणा और विमल मीणा के नाम आरोप पत्र के साथ फाइल किए गए सभी तात्विक दस्तावेज़ों में यद्यपि प्रमुख रूप से सम्मिलित थे, तो भी किन्हीं उचित कारणों के बिना आरोप पत्र से उनके नाम हटा दिए गए, जबकि केवल दो अभियुक्तों अर्थात् विमलेश और जनक सिंह के नाम विचारण का सामना करने के लिए प्रतिधारित किए गए हैं ।

6. अतः, अपीलार्थी ने यह प्रार्थना की कि विमलेश कुमार और जनक सिंह के साथ-साथ प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 को अभियुक्तों के रूप में क्रमांकित करने और विचारण का सामना करने के लिए समन किया जाए क्योंकि, उसके अनुसार, प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 भी अन्य दो अभियुक्तों के साथ अपराध करने में अंतर्वलित हैं ।

7. सेशन न्यायाधीश ने प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के विरुद्ध प्रथम दृष्ट्या मामला पाते हुए तारीख 19 नवम्बर, 2016 के आदेश द्वारा आवेदन मंजूर किया और तद्नुसार उनके विरुद्ध गिरफ्तारी के अजमानतीय वारंट जारी करके दोनों को समन किया ।

8. प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 ने व्यथित होकर राजस्थान उच्च न्यायालय में संहिता की धारा 197 के अधीन दांडिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया, जिसमें से यह अपील उद्भूत हुई है । तथापि, इस अपील में अपीलार्थी-शिकायतकर्ता को, जिसकी प्रेरणा पर सेशन न्यायाधीश द्वारा आदेश पारित किया गया था, पुनरीक्षण आवेदन में पक्षकार के रूप में अभियोजित नहीं किया गया था ।

9. एकल न्यायाधीश ने आक्षेपित आदेश द्वारा पुनरीक्षण आवेदन भागतः मंजूर किया और सेशन न्यायाधीश के आदेश के उस भाग को अपास्त कर दिया, जिसमें प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 को समन करते हुए उनकी गिरफ्तारी के लिए अजमानतीय वारंट जारी करने का निदेश किया गया था । उच्च न्यायालय ने यह भी निदेश किया कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 विचारण न्यायालय के समक्ष अभ्यर्पण करें और अपनी नियमित जमानत के लिए आवेदन प्रस्तुत करें, जिस पर उस न्यायालय द्वारा उसी दिन, जिस दिन यह आवेदन प्रस्तुत किया जाता है, विचार किया जाए और उसे मंजूर किया जाए । प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 को आरोप विरचित करने के समय दलीलें देने की भी स्वतंत्रता दी गई ।

10. आक्षेपित आदेश को शब्दशः उद्धृत करना उपयुक्त होगा :–

"1. अभियुक्त/आवेदकों की ओर से विद्वान् काउंसेल को सुना ।

2. यह दांडिक पुनरीक्षण आवेदन अभियुक्त/आवेदकों की ओर से सेशन न्यायाधीश, सवाई माधोपुर द्वारा तारीख 19 नवम्बर, 2016 को पारित किए गए उस आदेश के विरुद्ध फाइल किया गया है, जिसके द्वारा शिकायतकर्ता मदन मोहन मीणा द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 193 के अधीन फाइल किए गए आवेदन को मंजूर किया गया और आवेदक आशीष मीणा और विमल मीणा के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 363 और लैंगिक अपराध से बालकों का संरक्षण अधिनियम की धारा 5/6 और अनुकल्पतः भारतीय दंड संहिता की धारा 376(छ) के अधीन दंडनीय अपराधों के अधीन संज्ञान लिया गया और उन्हें अजमानतीय वारंटों द्वारा बुलाया गया था ।

3. तर्कों के दौरान, आवेदकों की ओर से विद्वान् काउंसेल ने अपनी प्रार्थना इस सीमा तक निर्बंधित की कि अभियुक्त/आवेदकों के अजमानतीय वारंटों द्वारा समन करने वाले आदेश को अभिखंडित किया जाए ।

4. यह तथ्य निर्विवादित है कि पुलिस द्वारा किए गए संपूर्ण अन्वेषण के पश्चात् केवल विमलेश कुमार और जनक सिंह के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 363, 366, 368, 370(4), 376 और 120ख तथा लैंगिग अपराधों से बालकों का संरक्षण अधिनियम की धारा 16/17 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए आरोप पत्र फाइल किया गया था । अभियुक्त/आवेदक आशीष मीणा और विमल मीणा आरोप-पत्रित नहीं किए गए थे । तारीख 19 नवंबर, 2016 के आक्षेपित आदेश द्वारा आवेदकों को ऊपर वर्णित अपराधों के लिए अजमानतीय वारंटों द्वारा समन किया गया था ।

5. मामले के सभी तथ्यों और परिस्थितियों पर समग्र रूप में विचार करने के पश्चात्, यह प्रतीत होता है कि आवेदक आशीष मीणा और विमल मीणा को अजमानतीय वारंटों द्वारा समन करने की सीमा तक यह आदेश न्यायोचित प्रतीत नहीं होता है और अभिखंडित तथा अपास्त किए जाने योग्य है । तथापि, आवेदक आशीष मीणा और विमल मीणा को निदेशित किया जाता है कि विद्वान् विचारण

न्यायालय के समक्ष अभ्यर्पण करें और अपनी नियमित जमानत के लिए आवेदन प्रस्तुत करें, जिस पर उस न्यायालय द्वारा उसी दिन, जिस दिन यह आवेदन प्रस्तुत किया जाता है, विचार किया जाएगा और मंजूर किया जाएगा ।

6. यह भी स्पष्ट किया जाता है कि अभियुक्त/आवेदकों को आरोप विरचित करने के समय विद्वान् विचारण न्यायालय के समक्ष वही दलील देने की स्वतंत्रता होगी जो इस न्यायालय के समक्ष दी गई हैं ।

7. तद्नुसार इस दांडिक पुनरीक्षण आवेदन का निपटारा किया जाता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

11. शिकायतकर्ता उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय से व्यथित हुआ और उसके विरुद्ध इजाजत लेकर इस न्यायालय में विशेष इजाजत याचिका द्वारा यह अपील फाइल की ।

12. पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसेलों को सुना ।

13. पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसेलों को सुनने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात् हम नीचे उल्लिखित सीमा तक इस अपील को मंजूर करने और आक्षेपित आदेश को अपास्त करने के लिए विवश हैं ।

14. हमारी सुविचारित राय में, एकल न्यायालय द्वारा आक्षेपित आदेश न्यायिक विवेक का प्रयोग किए बिना पारित किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने आदेश पारित करते समय दो सुस्पष्ट गलती की हैं । प्रथम, वे इस बात पर विचार करने में असफल रहे कि जिस शिकायतकर्ता की प्रेरणा पर सेशन न्यायाधीश ने आदेश पारित किया था और संहिता की धारा 193 के अधीन उसका आवेदन मंजूर किया था, वह दांडिक पुनरीक्षण में राज्य के साथ-साथ एक आवश्यक पक्षकार था । इसलिए, उसे पुनरीक्षण में राज्य के साथ प्रत्यर्थी के रूप में पक्षकार बनाया जाना चाहिए था । दूसरे शब्दों में, पुनरीक्षण में शिकायतकर्ता को भी सुने जाने का अधिकार था, क्योंकि सेशन न्यायाधीश द्वारा आक्षेपित आदेश उसके आवेदन पर पारित किया गया था । तथापि, एकल न्यायाधीश द्वारा मामले के इस पहलू पर ध्यान नहीं दिया गया ।

15. द्वितीय और अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि एकल न्यायाधीश ने सेशन न्यायाधीश को यह निदेश देकर गंभीर गलती की है कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के जमानत आवेदन पर विचार किया जाए और "उसी दिन" इसे "मंजूर किया जाए" ।

16. हमारी सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय को जमानत प्रदान करने के लिए आवेदन को "मंजूर करने" के लिए सेशन न्यायाधीश को निदेश देने की अधिकारिता नहीं है । वास्तव में, जब एक बार उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा निदेश जारी कर दिया गया था, तब सेशन न्यायाधीश के पास उच्च न्यायालय के निदेशों का पालन करने और प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 को जमानत प्रदान करने के सिवाय विनिश्चय करने के लिए कुछ शेष नहीं रह गया था । दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय द्वारा जारी किए गए आज्ञापक निदेशों के अनुपालन में, सेशन न्यायाधीश को जमानत आवेदन मंजूर करने के सिवाय उसे नामंजूर करने की कोई अधिकारिता नहीं थी ।

17. कोई वरिष्ठ न्यायालय अधिक्रम संबंधी अधिकारिता में किसी अधीनस्थ न्यायालय को ऐसा निदेश/परमादेश उन्हें यह समादेश देते हुए जारी नहीं कर सकता कि किसी पक्षकार द्वारा फाइल किए गए किसी आवेदन पर एक विशिष्ट आदेश पारित किया जाए । मामलों में आदेश पारित करने की प्रत्येक न्यायालय की न्यायिक स्वतंत्रता सुस्थिर है । इसमें वरिष्ठ न्यायालय सहित किसी न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है ।

18. जब कोई आदेश पारित किया जाता है, तो व्यथित पक्षकार द्वारा उसे, यथास्थिति, अपील या पुनरीक्षण में प्रश्नगत किया जा सकता है । फिर अपील/पुनरीक्षणकारी न्यायालय को यह विनिश्चय करना होता है कि अपनी अपीलीय/पुनरीक्षणकारी अधिकारिता का प्रयोग करते हुए कौन-से आदेश पारित किए जाने की आवश्यकता है । यहां तक कि वरिष्ठ न्यायालय अधीनस्थ न्यायालय को मामला प्रतिप्रेषित करते समय भी अधीनस्थ न्यायालय को ऐसा निदेश जारी नहीं कर सकता है कि वह मामले को "मंजूर" करे या इसे "नामंजूर" करे । यदि कोई ऐसे निदेश जारी किए जाते हैं, तो यह उस न्यायालय की शक्तियों को हड़पने और अधीनस्थ न्यायालय की वैवेकिक शक्तियों में हस्तक्षेप करने की कोटि में आएगा । अतः, ऐसा आदेश विधिक रूप से संधार्य नहीं है ।

19. जमानत के लिए आवेदन पर सुनवाई करते समय यह पता लगाने का एकमात्र विवेकाधिकार सेशन न्यायाधीश का है कि जमानत प्रदान करने के लिए तथ्यों के आधार पर अभियुक्त द्वारा मामला बनाया गया है या नहीं । यदि मामला बनाया गया है, तब जमानत प्रदान की जाए और यदि नहीं बनाया गया है तो जमानत नामंजूर की जाए । दोनों दशा में, अर्थात् जमानत प्रदान करने या नामंजूर करने में सेशन न्यायाधीश को अपना स्वतंत्र न्यायिक विवेक प्रयोग करना चाहिए और तद्नुसार मामले में अंतर्वलित तथ्यों और जमानत प्रदान करने/नामंजूर करने के लिए लागू विधिक सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए समुचित सकारण आदेश पारित किया जाना चाहिए । इस मामले में, एकल न्यायाधीश इस विधिक सिद्धांत को अपने ध्यान में रखने में असफल रहे हैं ।

20. हमारे मत में, इसी कारणवश ऐसे निदेश पूर्णतः अनावश्यक हैं और नहीं दिए जाने चाहिएं थे । यह न्यायालय उच्च न्यायालय द्वारा ऐसे निदेश जारी करने का समर्थन नहीं कर सकता है ।

21. हमारे मत में, उच्च न्यायालय अधिक-से-अधिक यह मताभिव्यक्ति कर सकता था कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 (अभियुक्त व्यक्ति) जमानत प्रदान करने के लिए सेशन न्यायाधीश को समावेदन करने के लिए स्वतंत्र हैं और यदि कोई आवेदन फाइल किया जाता है, तो सेशन न्यायाधीश द्वारा उसका इसके गुणागुण के आधार पर और विधि के अनुसार शीघ्रता से, किंतु इसके परे नहीं, विनिश्चय किया जाएगा ।

22. अतः, हम उच्च न्यायालय द्वारा सेशन न्यायालय को दिए गए इस निदेश को कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 द्वारा 2016 के सेशन विचारण मामला सं. 44 में किए गए जमानत के आवेदन पर उसी दिन, जिस दिन यह आवेदन प्रस्तुत किया जाता है, "विचार किया जाए और मंजूर किया जाए", अपास्त करने के लिए मजबूर हैं ।

23. जहां तक उस निदेश का संबंध है, जिसके द्वारा प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के विरुद्ध सेशन न्यायाधीश द्वारा मामले में संज्ञान लिया गया था, एकल न्यायालय ने उसे कायम रखा है । इसे यहां पर प्रश्नगत नहीं किया गया है । इस बात को ध्यान में रखते हुए, प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 स्वयं को सेशन न्यायाधीश की अधिकारिता में सुपुर्द करेंगे और वे अभिवाक् करेंगे जो उन्हें विधि के अनुसार उपलब्ध हैं ।

24. पूर्वगामी चर्चा को देखते हुए, यह अपील सफल होती है और तद्नुसार मंजूर की जाती है । आक्षेपित आदेश ऊपर उपदर्शित सीमा तक अपास्त किया जाता है । यदि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 द्वारा आवेदन किया गया है और यदि अभी तक विनिश्चय नहीं किया गया है तो सेशन न्यायाधीश अब जमानत के लिए आवेदन का इसके गुणागुण के आधार पर और विधि के अनुसार विनिश्चय करेंगे ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

[2018] 3 उम. नि. प. 79

नगय्या और एक अन्य

बनाम

श्रीमती चौदम्मा (मृत) विधिक प्रतिनिधियों के मार्फत और एक अन्य

8 जनवरी, 2018

न्यायमूर्ति अरुण मिश्रा और न्यायमूर्ति मोहन एम. शांतानागौडर

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) – आदेश 32 [सपठित हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4(ख)] – अवयस्क द्वारा वाद – कौटुंबिक संपत्ति में अवयस्क के हक के लिए उसके बड़े भाई द्वारा वाद-मित्र के रूप में उसका प्रतिनिधित्व किया जाना – वाद-मित्र के रूप में उसकी नियुक्ति न्यायालय द्वारा या उसकी अनुज्ञा से न होना – यदि कोई व्यक्ति कुटुम्ब की संपत्ति में अवयस्क के हित या हक को संरक्षित करने के लिए वाद-मित्र के रूप में न्यायालय में वाद फाइल करता है, तो न्यायालय द्वारा या उसकी अनुज्ञा से वाद-मित्र के रूप में उसकी नियुक्ति न होने के बावजूद भी वह विधिमान्य तौर पर उसका प्रतिनिधित्व कर सकता है, चाहे ऐसा व्यक्ति उसका नातेदार ही क्यों न हो बशर्ते उसका हित अवयस्क के हित के प्रतिकूल न हो ।

इस मामले के तथ्यों के अनुसार, इस अपील में अपीलार्थियों (वाद में क्रमशः वादी सं. 1 और 2) द्वारा एक वाद यह घोषणा करने की प्रार्थना करते हुए फाइल किया गया था कि वाद की अनुसूची में की संपत्ति

अपीलार्थियों के साथ-साथ उनके पिता (वाद में प्रतिवादी सं. 1/इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 2) की संयुक्त संपत्ति है और वे उक्त संपत्ति में दो-तिहाई हिस्से के हकदार हैं और उनके पिता द्वारा प्रतिवादी सं. 2/प्रत्यर्थी सं. 1 के पक्ष में निष्पादित विक्रय विलेख वाद की अनुसूची में की संपत्ति में उनके दो-तिहाई हिस्से पर आबद्धकर नहीं है । वाद फाइल करने के समय इस अपील में अपीलार्थी सं. 2 की आयु लगभग 17 वर्ष थी । अपीलार्थी सं. 1/वादी सं. 1 ने अपीलार्थी सं. 2 का बड़ा भाई होने के नाते न केवल अपनी ओर से अपितु द्वितीय अपीलार्थी-द्वितीय वादी (जो अवयस्क था) की ओर से भी वाद फाइल किया । विचारण न्यायालय ने गुणागुण के आधार पर वाद अपास्त कर दिया । प्रथम अपील न्यायालय ने असफल वादियों द्वारा फाइल की गई नियमित अपील मंजूर की और वाद को डिक्रीत किया । असफल प्रतिवादी सं. 2 संपत्ति की विक्रेता ने प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर कर्नाटक उच्च न्यायालय, बंगलौर के समक्ष द्वितीय अपील फाइल की । उच्च न्यायालय द्वारा अपील मंजूर की गई और वाद को मुख्य रूप से इस आधार पर खारिज कर दिया कि वादी सं. 1 बड़ा भाई होने के नाते वादी (प्रतिवादी सं. 1) के पिता के जीवनकाल के दौरान वादी सं. 2 के संरक्षक के रूप में कार्य नहीं कर सकता था, क्योंकि वादी सं. 1/अपीलार्थी सं. 1 को किसी सक्षम न्यायालय द्वारा अवयस्क वादी के संरक्षक रूप में नियुक्त नहीं किया गया था । चूंकि प्रथम प्रतिवादी, वादी सं. 2 का पिता है, इसलिए वह स्वाभाविक संरक्षक था और केवल वह ही वादी सं. 2 का प्रतिनिधित्व कर सकता था, कोई अन्य नहीं । इन वादियों ने उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – वाद-मित्र की न्यायालय द्वारा नियुक्ति करने का न केवल कोई उपबंध है, अपितु न्यायालय की अनुज्ञा लेना भी आवश्यक नहीं है । तथापि, यहां तक कि अवयस्क प्रतिवादियों की बाबत भी, विभिन्न उच्च न्यायालय लगातार यह दृष्टिकोण अपनाते रहे हैं कि वहां भी डिक्री अपास्त नहीं की जा सकती है, जहां प्रतिवादी का प्रतिनिधित्व करने के लिए वादार्थ संरक्षक की नियुक्ति हेतु कतिपय औपचारिकताओं का पालन नहीं किया गया है । उच्च न्यायालयों ने अवयस्क प्रतिवादियों के मामले में यह मत व्यक्त किया है कि जहां संहिता के आदेश 32, नियम 3 के अधीन संबंधित न्यायालय की अनुज्ञा नहीं ली गई है, किंतु डिक्री पारित की गई है, वहां अवयस्क प्रतिवादी पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने पर ऐसी डिक्री को अपास्त

नहीं किया जा सकता है । मुख्य कसौटी यह है कि डिक्री को अपास्त करने के लिए अवयस्क प्रतिवादी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ा होना चाहिए । अब यह सुस्थिर है और संहिता के आदेश 32 के उपबंधों के अनुसार भी है कि जो व्यक्ति स्वस्थचित है, जो वयस्क है, जो अवयस्क का प्रतिनिधित्व और उसके हित की संरक्षा कर सकता है, जो भारत का निवासी है और उसका हित अवयस्क के हित के प्रतिकूल नहीं है, अवयस्क का उसके वाद-मित्र के रूप में प्रतिनिधित्व कर सकेगा । ऐसा व्यक्ति, जो अवयस्क वादी का वाद-मित्र के रूप में प्रतिनिधित्व कर रहा है, उसी वाद में प्रतिवादी के रूप में पक्षकार नहीं होगा । संहिता के आदेश 32, नियम 6 और 7 में विनिर्दिष्ट रूप से यह उपबंधित है कि वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक न्यायालय की इजाजत के बिना कोई भी धन या जंगम संपत्ति प्राप्त नहीं करेगा और न्यायालय की इजाजत के बिना कोई करार या समझौता नहीं करेगा । हिंदू संरक्षकता अधिनियम के अधीन उपबंधित नैसर्गिक संरक्षक के अधिकार और निर्बंधन अवयस्क की ओर से वाद-मित्र द्वारा वाद फाइल करने की प्रक्रिया का विरोध नहीं करते हैं । इसमें न केवल कोई अभिव्यक्त प्रतिषेध है, अपितु संहिता के आदेश 32 के अनुशीलन से यह दर्शित होता है कि विधान-मंडल ने जहां-कहीं वाद-मित्र के अधिकार को निर्बंधित करना समुचित समझा है, उसने संहिता के आदेश 32 के नियम 6 और 7 में इसके बारे में अभिव्यक्त रूप से उपबंध किया है । आदेश 32, के नियम 9 में, अन्य बातों के अतिरिक्त, यह स्पष्ट किया गया है कि जहां वाद-मित्र इस निमित्त सक्षम प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक नहीं है और ऐसे नियुक्त या घोषित संरक्षक द्वारा, जो यह वांछा करता है कि उसे वाद-मित्र के स्थान पर नियुक्त किया जाए, आवेदन किया जाता है, वहां जब तक कि न्यायालय का उन कारणों से जो उसके द्वारा लेखबद्ध किए जाएंगे, यह विचार न हो कि संरक्षक को अवयस्क का वाद-मित्र नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए, वह वाद-मित्र को हटा देगा । संहिता के आदेश 32, नियम 12, 13 और 14 में अवयस्क वादी को, वयस्क होने पर, वाद को आगे चलाने या परित्याग करने का विनिश्चय करने के लिए सशक्त किया गया है । अतः, वयस्क हो जाने पर यदि वादी वाद को आगे चलाने का निर्वाचन करता है, तो वह ऐसा एक आवेदन देकर कर सकता है, जिसके परिणामस्वरूप वाद-मित्र अवयस्क द्वारा वयस्क होने की तारीख से, अवयस्क वादी का प्रतिनिधित्व करना बंद कर देगा । संहिता के आदेश 32, नियम 12 में अवयस्क वादी से इस विकल्प की अपेक्षा की गई है कि वह या तो वाद को आगे चलाए या वाद का परित्याग कर दे और इसमें कतई यह उपबंध नहीं है कि अवयस्क वादी द्वारा वयस्क होने

पर यदि कोई ऐसा निर्वाचन नहीं किया जाता है, तो इस आधार पर वाद को खारिज कर दिया जाना चाहिए । यदि वाद के लंबित रहने के दौरान न्यायालय को यह ज्ञात होता है कि अवयस्क वादी वयस्क हो गया है, तो न्यायालय द्वारा ऐसे वादी से यह कहे जाने की आवश्यकता होती है कि क्या वह वाद को आगे चलाना चाहता है या नहीं । दूसरे शब्दों में, अवयस्क को, जो मामले के लंबित रहने के दौरान वयस्क हो गया है, वाद के लंबित रहने के बारे में अवश्य सूचित किया जाना चाहिए और ऐसी सूचना के अभाव में अवयस्क पर वाद के लंबित रहने की जानकारी होने का अभ्यारोपण नहीं लगाया जा सकता है । अतः ऐसे अवयस्क के विरुद्ध, जो वयस्क हो गया है, कोई प्रतिकूल आदेश किए जाने से पूर्व न्यायालय द्वारा ऐसे व्यक्ति को सूचना दी जानी चाहिए । निस्संदेह, प्रस्तुत मामले में, तथ्यों और परिस्थितियों के अधीन ऐसा अवसर उद्भूत नहीं हुआ था, चूंकि वादी सं. 2 वयस्क हो जाने पर वाद को चलाता रहा है और इससे यह अभिप्रेत है कि उसने वाद को आगे चलाने का निर्वाचन किया था । हो सकता है संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 और हिंदू संरक्षकता अधिनियम से उद्भूत सिद्धांत संहिता के आदेश 32 के अधीन नियुक्त होने वाले वाद-मित्र के लिए प्रासंगिक न हों । प्रतिवादी का प्रतिनिधित्व करने के लिए वादार्थ संरक्षक या किसी वाद में वादी का प्रतिनिधित्व करने के लिए वाद-मित्र की नियुक्ति केवल उस वाद तक ही सीमित होती है और उस वादार्थ संरक्षक/वाद-मित्र का उन्मोचन होने के पश्चात् उस संरक्षक के हिंदू संरक्षकता अधिनियम की धारा 4 की उपधारा (ख) के अधीन यथा परिभाषित अधिकार/कर्तव्य (यदि उसका कोई प्रतिकूल हित नहीं है) स्वयमेव संरक्षक के रूप में जारी रहते हैं । दूसरे शब्दों में, संहिता के आदेश, 32, नियम 1 के अधीन अवयस्क का वाद में प्रतिनिधित्व करने वाला वाद-मित्र हिंदू संरक्षकता अधिनियम के अधीन नियुक्त संरक्षक के अधिकार और कर्तव्य नहीं छीन लेगा, जब तक कि ऐसे संरक्षक का कोई प्रतिकूल हित न हो या ऐसे सम्यक् रूप से नियुक्त संरक्षक को इस अधिनियम के अनुसार हटाया नहीं जाता है । प्रस्तुत मामले में, प्रत्यर्थी सं. 2/प्रतिवादी सं. 1 यद्यपि वादी सं. 2 का पिता है, तो भी वादी सं. 2 का वर्तमान वाद में उसके संरक्षक के रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता था, क्योंकि उसका हित वादी सं. 2 के हित के प्रतिकूल था । वादी सं. 2 द्वारा वाद में विक्रय विलेख की विधिमान्यता को प्रश्नगत करते हुए संपत्ति के विक्रेता अर्थात् नैसर्गिक संरक्षक के विरुद्ध अनेक अभिकथन किए गए हैं । संपत्ति को किसी विधिमान्य कारण और कुटुंब की आवश्यकता के बिना बेचने की प्रत्यर्थी सं. 2 (प्रतिवादी सं. 1) की कार्रवाई वाद की विषयवस्तु है ।

दूसरी ओर, वादी सं. 1 (वादी सं. 2 का बड़ा भाई) ने, जिसका वादी सं. 2 के हित के प्रतिकूल कोई हित नहीं है, वादी सं. 2 का उसके वाद-मित्र के रूप में समुचित रूप से प्रतिनिधित्व किया है । वादी सं. 2 ने वादी सं. 1/अपने वाद-मित्र के विरुद्ध, वयस्क हो जाने पर, एक भी अभिकथन नहीं किया है । अवयस्क-वादी सं. 2 वाद फाइल करने की तारीख से एक वर्ष के भीतर वयस्क हो गया था । पूर्वोल्लिखित वाद तारीख 21 अप्रैल, 1985 को फाइल किया गया था, तब वादी सं. 2 की आयु 17 वर्ष थी । इस प्रकार, वादी सं. 2 तारीख 20 अप्रैल, 1986 को या आस पास वयस्क हो गया था । अभि. सा. 1 (वादियों का प्रथम साक्षी) का साक्ष्य तारीख 15 अक्तूबर, 1992 को अभिलिखित किया गया था, जिसका यह अर्थ है कि किसी भी साक्षी का साक्ष्य अभिलिखित करने से काफी पूर्व वादी सं. 2 वयस्क हो गया था और उसने तब वाद जारी रखने का निर्वाचन किया था । यह उल्लेख करना भी सुसंगत है कि वादी सं. 2 वयस्क होने की तारीख से लेकर इस तारीख तक अपने आप मामले को जारी रखे हुए है । इसलिए, पूर्वोल्लिखित कारणों से उच्च न्यायालय वादी सं. 2 को वाद से बेदखल करने के लिए स्वतंत्र नहीं था । यद्यपि इस न्यायालय के समक्ष यह दर्शित करने के लिए अभिलेख प्रस्तुत नहीं किया गया है कि वादी सं. 2 ने अपने वयस्क हो जाने पर वाद-मित्र को उन्मोचित करने के लिए औपचारिक आवेदन फाइल किया था या नहीं, फिर भी वास्तविकता यह है कि विचारण न्यायालय से लेकर इस न्यायालय तक उसने स्वयं ही कार्यवाहियों को जारी रखा है । इस बात से मुकदमेबाजी को जारी रखने का उसका आशय स्पष्ट रूप से दर्शित होता है । उसने अपने दावे का परित्याग न करके सिविल कार्यवाही को जारी रखने का निर्वाचन किया है । उपरोक्त चर्चा को देखते हुए, इस न्यायालय की यह राय है कि हिंदू संरक्षकता अधिनियम के उपबंधों का अवलंब लेते हुए वादी सं. 2 को वाद चलाने से रोकने वाला आक्षेपित आदेश न्यायोचित नहीं है । (पैरा 8, 11, 12, 13, 14, 15 और 17)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2006]	ए. आई. आर. 2006 केरल 138 : **गोपालस्वामी गौंडर** बनाम **रामास्वामी कौंडर** ;	7
[1983]	ए. आई. आर. 1983 पंजाब 406 : **चतरभुज गोयल** बनाम **गुरप्रीत सिंह** ;	8

[1974] (1974) 1 आई. एल. आर. दिल्ली 825 :
श्री मोहम्मद युसुफ और अन्य बनाम
श्री रफीकुद्दीन सिद्दीकी ; 8

[1973] ए. आई. आर. 1973 मद्रास 12 :
रंगाम्मल बनाम **अवयस्क अप्पासामी और अन्य** ; 8

[1972] ए. आई. आर. 1972 मद्रास 859 :
कालियाम्मल, अवयस्क, संरक्षक पट्टा गोवंडन द्वारा प्रतिनिधित्व बनाम **रामास्वामी गोवंडन** ; 6

[1972] ए. आई. आर. 1972 इलाहाबाद 81 :
के. कुमार बनाम **ओंकार नाथ** ; 6

[1960] ए. आई. आर. 1960 राजस्थान 189 :
आनंदराम और **एक अन्य** बनाम **माधो लाल और अन्य** ; 8

[1954] ए. आई. आर. 1954 इलाहाबाद 599 :
बृज किशोर लाल बनाम **सतनारायण लाल एंड कं.** । 8

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 22969.

2004 की नियमित द्वितीय अपील सं. 1102 में कर्नाटक उच्च न्यायालय, बंगलौर के तारीख 8 जनवरी, 2013 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से श्री निखिल मजीठिया (यादव नरेंद्र सिंह के लिए)

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री निशांत पाटिल, प्रसन्ना मोहन और अनूप जैन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति मोहन एम. शांतानागौडर ने दिया ।

न्या. शांतानागौडर – इस अपील में असफल वादियों द्वारा 2004 की नियमित द्वितीय अपील सं. 1102 में कर्नाटक उच्च न्यायालय, बंगलौर द्वारा तारीख 8 जनवरी, 2013 को पारित किए गए निर्णय को प्रश्नगत किया गया है ।

2. वे तथ्य, जिनसे यह अपील उद्भूत हुई, इस प्रकार हैं । इस अपील में अपीलार्थियों (वाद में क्रमशः वादी सं. 1 और 2) द्वारा 1989 का मूल वाद सं. 228 यह घोषणा करने की प्रार्थना करते हुए फाइल किया

गया था कि वाद की अनुसूची में की संपत्ति अपीलार्थियों के साथ-साथ उनके पिता केमपय्या (वाद में प्रतिवाद सं. 1/इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 2) की संयुक्त संपत्ति है और वे उक्त संपत्ति में दो-तिहाई हिस्से के हकदार हैं और पिता-केमपय्या (वाद में प्रतिवाद सं. 1/इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 2) द्वारा प्रतिवादी सं. 2/प्रत्यर्थी सं. 1 चौदम्मा के पक्ष में निष्पादित विक्रय विलेख वाद की अनुसूची में की संपत्ति में उनके दो-तिहाई हिस्से पर आबद्धकर नहीं है । स्थायी व्यादेश के अनुतोष के लिए भी ईप्सा की गई थी । कतिपय अन्य तथ्य भी अभिवाचित किए गए थे, जो इस अपील के निपटारे के लिए तात्विक नहीं हैं । यह उल्लेख करना सुसंगत है कि वाद फाइल करने के समय अर्थात् 24 जनवरी, 1985 को इस अपील में अपीलार्थी सं. 2 अर्थात् कृष्णा की आयु लगभग 17 वर्ष थी । अपीलार्थी सं. 1/वादी सं. 1 ने अपीलार्थी सं. 2 का बड़ा भाई होने के नाते न केवल अपनी ओर से अपितु द्वितीय अपीलार्थी-द्वितीय वादी (जो अवयस्क था) की ओर से भी वाद फाइल किया ।

3. विचारण न्यायालय ने गुणागुण के आधार पर वाद अपास्त कर दिया । प्रथम अपील न्यायालय ने असफल वादियों द्वारा फाइल की गई नियमित अपील सं. 90 मंजूर की और वाद को डिक्रीत किया । असफल प्रतिवादी सं. 2 चौदम्मा/संपत्ति की विक्रेता ने प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर कर्नाटक उच्च न्यायालय, बंगलौर के समक्ष नियमित द्वितीय अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा अपील मंजूर की और वाद को मुख्य रूप से इस आधार पर खारिज कर दिया कि वादी सं. 1 बड़ा भाई होने के नाते वादी (प्रतिवादी सं. 1 के पिता केमपय्या के जीवनकाल के दौरान वादी सं. 2 के संरक्षक के रूप में कार्य नहीं कर सकता था, क्योंकि वादी सं. 1/अपीलार्थी सं. 1 को किसी सक्षम न्यायालय द्वारा अवयस्क वादी सं. 2 के संरक्षक रूप में नियुक्त नहीं किया गया था । चूंकि प्रथम प्रतिवादी, वादी सं. 2 का पिता है इसलिए वह स्वाभाविक संरक्षक था और इसलिए केवल वह ही वादी सं. 2 का प्रतिनिधित्व कर सकता था, कोई अन्य नहीं । यह उल्लेखनीय है कि विचारण न्यायालय में वाद में वादी सं. 2 का प्रतिनिधित्व करने के लिए वादी सं. 1 की सक्षमता की बाबत कोई विवाद्यक नहीं उठाया गया था । यहां तक कि प्रथम अपील न्यायालय में भी ऐसा प्रश्न नहीं उठाया गया था और इसलिए इस पर विचार नहीं किया गया था । तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील में पहली बार ऐसा प्रश्न उठाने की अनुज्ञा दी थी, चूंकि यह विशुद्ध रूप से एक विधि का प्रश्न है ।

4. अतः, इस अपील में विनिश्चित किया जाने वाला एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या प्रथम वादी, अवयस्क द्वितीय वादी (वाद फाइल करने के समय) का बड़ा भाई होने के कारण अवयस्क की ओर से उसके वाद-मित्र/संरक्षक के रूप में वाद फाइल कर सकता था या नहीं ।

5. उच्च न्यायालय ने इस निष्कर्ष पर पहुंचते हुए कि प्रथम वादी अवयस्क-द्वितीय वादी के संरक्षक के रूप में कार्य नहीं कर सकता था, हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम (जिसे इसमें इसके पश्चात् "हिंदू संरक्षकता अधिनियम" कहा गया है) की धारा 4(ख) का अवलंब लिया । हिंदू संरक्षकता अधिनियम की धारा 4 की उपधारा (ख) निम्नलिखित है :–

(ख) "संरक्षक" से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जिसकी देखरेख में किसी अप्राप्तवय का शरीर या उसकी सम्पत्ति या उसका शरीर और सम्पत्ति दोनों हों और इसके अन्तर्गत आते हैं –

(i) नैसर्गिक संरक्षक,

(ii) अप्राप्तवय के पिता या माता की विल द्वारा नियुक्त संरक्षक;

(iii) न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक; तथा

(iv) किसी प्रतिपाल्य अधिकरण से सम्बन्ध रखने वाली किसी अधिनियमिति के द्वारा या अधीन संरक्षक की हैसियत में कार्य करने के लिए सशक्त व्यक्ति;

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, उच्च न्यायालय ने यह विनिर्णय दिया है कि प्रतिवादी सं. 1 अवयस्क वादी सं. 2 का पिता होने के कारण वादी सं. 2 का स्वाभाविक संरक्षक है और परिणामतः वादी सं. 1 अवयस्क वादी की ओर से संरक्षक के रूप में कार्य नहीं कर सकता था, विशिष्ट रूप से जब उसे किसी सक्षम न्यायालय द्वारा संरक्षक के रूप में नियुक्त नहीं किया गया था । हमारी सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय ऐसा निष्कर्ष निकालते हुए पूर्णतः दिग्भर्मित हुआ है ।

6. इस बारे में कोई विवाद नहीं किया जा सकता है कि वादी सं. 1 हिंदू संरक्षकता अधिनियम की धारा 4 की उपधारा (ख) में यथा विनिर्दिष्ट "संरक्षकता" के अर्थान्तर्गत नहीं आता था और नहीं आता है । किंतु वर्तमान तथ्य हिंदू संरक्षकता अधिनियम के उपबंधों द्वारा शासित नहीं होते हैं, बल्कि वे सिविल प्रक्रिया संहिता (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता"

कहा गया है) के आदेश 32 द्वारा शासित होते हैं । वर्तमान संविवाद का विनिश्चय करने के लिए संहिता के आदेश 32, नियम 1, 3, 6, 7, 9, 12, 13 और 14 (कर्नाटक राज्य में यथासंशोधित, चूंकि मामला कर्नाटक राज्य से है) में यथा अंतर्विष्ट निम्नलिखित उपबंधों का उल्लेख करना सुसंगत होगा :–

1. **अवयस्क वाद-मित्र द्वारा वाद लाएगा** – अवयस्क द्वारा हर वाद उसके नाम में ऐसे व्यक्ति द्वारा संस्थित किया जाएगा जो ऐसे वाद में अवयस्क का वाद-मित्र कहलाएगा ।

स्पष्टीकरण – इस आदेश में "अवयस्क" से वह व्यक्ति जिसने भारतीय अवयस्कता अधिनियम, 1875 (1875 का 9) की धारा 3 के अर्थ में अपनी वयस्कता प्राप्त नहीं की है, अभिप्रेत है जहां वाद उस अधिनियम की धारा 2 के खण्ड (क) और खण्ड (ख) में वर्णित विषयों में से किसी विषय या किसी अन्य विषय के संबंध में हो ।

2. **जहां वाद-मित्र के बिना वाद संस्थित किया जाए वहां वादपत्र फाइल से निकाल दिया जाएगा** – (1) जहां अवयस्क द्वारा या उसकी ओर से वाद, वाद-मित्र के बिना संस्थित किया जाता है वहां प्रतिवादी यह आवेदन कर सकेगा कि वादपत्र फाइल से निकाल दिया जाए और खर्चे उस प्लीडर या अन्य व्यक्ति द्वारा दिया जाएं जिसने उसे उपस्थित किया था ।

(2) ऐसे आवेदन की सूचना ऐसे व्यक्ति को दी जाएगी और उसका आक्षेप (यदि कोई हों) सुनने के पश्चात् न्यायालय उस विषय में ऐसा आदेश कर सकेगा जो वह ठीक समझे ।

3. **वाद-मित्र या संरक्षक होने के लिए अर्हताएं** – (1) जो व्यक्ति स्वस्थचित है और वयस्क है वह अवयस्क के वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक की हैसियत में कार्य कर सकेगा :

परन्तु यह तब जब कि ऐसे व्यक्ति का हित अवयस्क के हित के प्रतिकूल न हो और वाद-मित्र की दशा में वह प्रतिवादी न हो या वादार्थ संरक्षक की दशा में वह वादी न हो ।

(2) नियुक्त या घोषित संरक्षकों को वरीयता दी जाएगी और केवल उन कारणों से अधिक्रांत किया जाएगा जो लेखबद्ध किए जाएंगे – जहां अवयस्क का ऐसा संरक्षक है जो सक्षम प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित किया गया है वहां जब तक कि न्यायालय का उन

कारणों से, जो लेखबद्ध किए जाएंगे, यह विचार न हो कि अवयस्क का इसमें कल्याण है कि दूसरे व्यक्ति को उसके वाद-मित्र की हैसियत में कार्य करने के लिए अनुज्ञात किया जाए या उसको वादार्थ संरक्षक नियुक्त किया जाए, ऐसे संरक्षक से भिन्न कोई व्यक्ति, यथास्थिति, न तो इस प्रकार कार्य करेगा और न इस प्रकार नियुक्त किया जाएगा ।

(3) जहां प्रतिवादी अवयस्क है, वहां न्यायालय उसकी अवयस्कता के तथ्य के बारे में समाधान हो जाने पर उचित व्यक्ति को ऐसे अवयस्क के लिए वादार्थ संरक्षक नियुक्त करेगा । इस उप-नियम के अधीन संरक्षक के रूप में नियुक्त व्यक्ति, यदि उसकी नियुक्ति का पर्यवसान निवृत्ति या इस प्रयोजन के लिए किए गए आवेदन पर न्यायालय के आदेश द्वारा हटाए जाने या उसकी मृत्यु के कारण न हो गया हो तो, वह उस वाद या वाद में उद्भूत होने वाली सभी कार्यवाहियों के पूरे दौरान में, जिनके अंतर्गत अपील या पुनरीक्षण की कार्यवाहियां और किसी डिक्री के निष्पादन की कार्यवाहियां आती हैं, उसी हैसियत में बना रहेगा और ऐसी किन्हीं कार्यवाहियों में उक्त संरक्षक पर किसी आदेशिका की तामीली यदि सम्यक् रूप से की जाती है तो ऐसी कार्यवाहियों के प्रयोजनों के लिए उचित तामीली समझी जाएगी ।

(4) वादार्थ संरक्षक की नियुक्ति के लिए आदेश अवयस्क के नाम में और उसकी ओर से या वादी द्वारा किए गए आवेदन पर अभिप्राप्त किया जा सकेगा । जहां आवेदन वादी द्वारा किया गया है, जहां कहीं आवश्यक हो, ऐसे व्यक्तियों की सूची उनकी उपयुक्तता के क्रम में उपवर्णित करेगा जो अवयस्क वादार्थ प्रतिवादी के लिए संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए सक्षम और अर्हित हों ।

(5) पिछले पूर्ववर्ती उप-नियम में निर्दिष्ट आवेदन, चाहे वादी द्वारा किया गया हो या अवयस्क प्रतिवादी की ओर से किया गया हो, इस तथ्य को सत्यापित करने वाले शपथ-पत्र द्वारा समर्थित होगा कि जो बातें वाद में विवादग्रस्त हैं उनमें जो हित अवयस्क का है, उस हित के प्रतिकूल हित प्रस्थापित संरक्षक या प्रस्थापित संरक्षकों में से किसी संरक्षक का नहीं है और प्रस्थापित संरक्षक या संरक्षकों ऐसे नियुक्त किए जाने के लिए ठीक व्यक्ति हैं । शपथ-पत्र में प्रत्येक मामले की परिस्थितियों के अनुसार सक्षम प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या

घोषित किसी विद्यमान संरक्षक, यदि कोई है, की विशिष्टियों, उस व्यक्ति का, यदि कोई है, नाम और पता, जो अवयस्क का वस्तुतः संरक्षक है, उन व्यक्तियों के नाम और पते, यदि कोई हैं, जो, या तो नैसर्गिक या वस्तुतः संरक्षक या सक्षम प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक की स्थिति में जो नातेदारी या हित होने के कारण या वाद में अवयस्क के लिए संरक्षकों के रूप में कार्य करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति हैं, कार्य करने के लिए अनुज्ञात नहीं है, का भी उल्लेख किया जाएगा ।

(6) अवयस्क के वाद के लिए संरक्षक की नियुक्ति के लिए आवेदन के साथ किसी मृत पक्षकार के विधिक प्रतिनिधि को अभिलेख पर लाने वाले आवेदन के साथ संबद्ध नहीं किया जाएगा ।

(7) कोई भी आदेश उपरोक्त उप-नियम (4) के अधीन किए गए आवेदन पर तब तक के सिवाय नहीं किया जाएगा जब तक कि अवयस्क और उसके किसी ऐसे संरक्षक को जो ऐसे प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित किया गया है जो इस निमित्त सक्षम है या जहां ऐसा संरक्षक नहीं है वहां अवयस्क के पिता को या जहां पिता नहीं है वहां माता को या जहां पिता या माता नहीं है वहां अन्य नैसर्गिक संरक्षक को या जहां पिता, माता या अन्य नैसर्गिक संरक्षक नहीं है वहां उस व्यक्ति को जिसकी देखरेख में अवयस्क है, सूचना दी गई है और जिस किसी व्यक्ति पर इस उप-नियम के अधीन सूचना की तामील की गई है, उस व्यक्ति की ओर से किया गया कोई भी आक्षेप सुन लिया गया है । इस उप-नियम द्वारा अपेक्षित सूचना आवेदन की सुनवाई के लिए सूचना में नामित दिन से कम-से-कम ठीक सात दिन पूर्व तामील की जाएगी ।

(8) जहां पिछले पूर्ववर्ती उप-नियम में वर्णित व्यक्तियों में से कोई भी व्यक्ति संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए रजामंद नहीं है, वहां न्यायालय संरक्षक के रूप में नियुक्ति के लिए प्रस्थापित अन्य व्यक्ति को या व्यक्तियों में से कुछ को या सभी को या तो साथ-साथ या एक के पश्चात् दूसरे को, जैसा न्यायालय मामले की परिस्थितियों में समीचीन या वाछंनीय समझे, सूचना देगा । न्यायालय उन व्यक्तियों में से, जिन्होंने अपनी सहमति प्रज्ञापित की है, ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करेगा, जो वह उचित समझता है, और नियुक्त किए गए व्यक्ति को रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा, यदि वह नियुक्ति के समय

व्यक्तिगत रूप में या प्लीडर के माध्यम से मौजूद न हो, ऐसी नियुक्ति के तथ्य को सूचित करेगा ।

(9) कोई भी व्यक्ति उसकी सहमति के बिना वादार्थ संरक्षक नियुक्त नहीं किया जाएगा और उन मामलों के सिवाय जहां आवेदक स्वयं संरक्षक के रूप में अपनी नियुक्ति के लिए प्रार्थना करता है, जारी की गई सूचनाओं में पक्षकार से स्पष्ट रूप से यह अपेक्षा की जाएगी कि वह संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए अपनी सहमति या इनकारी प्रज्ञापित करे ।

(10) जहां न्यायालय वादार्थ संरक्षक की हैसियत में कार्य करने के लिए किसी व्यक्ति को योग्य या रजामंद नहीं पाता है, वहां न्यायालय अपने अधिकारियों में से किसी को या न्यायालय के प्लीडर को संरक्षक होने के लिए नियुक्त कर सकेगा और निदेश दे सकेगा कि ऐसे संरक्षक की हैसियत में अपने कर्तव्यों के पालन में ऐसे अधिकारी या प्लीडर द्वारा उपगत खर्चे या तो वाद के पक्षकारों द्वारा या पक्षकारों में से किसी एक या अधिक के द्वारा न्यायालय में की किसी निधि में से जिसमें अवयस्क हितबद्ध है, दिए जाएंगे और ऐसे खर्चों के प्रतिसंदाय या उनके अनुज्ञात किए जाने के लिए ऐसे निदेश दे सकेगा जो न्याय और मामले की परिस्थितियों में अपेक्षित हों ।

(11) जब अवयस्क प्रतिवादी के लिए वादार्थ संरक्षक नियुक्त किया जाता है और न्यायालय के ध्यान में यह बात लाई जाती है कि प्रतिवादी की ओर से वाद चलाने के लिए संरक्षक के कब्जे में कोई या पर्याप्त निधि नहीं है और तद्द्वारा अपनी प्रतिरक्षा करने में प्रतिवादी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, तो न्यायालय वादी को समय-समय पर संरक्षक को अपनी प्रतिरक्षा करने के प्रयोजन के लिए धन उधार देने के लिए आदेश देगा और इस प्रकार उधार दी गई सभी धन राशियां वाद में वादी के खर्चों का भाग होंगी । ऐसे आदेश में निदेश दिया जाएगा कि जब-जब न्यायालय द्वारा अपेक्षा की जाए, संरक्षक उसके द्वारा इस प्रकार प्राप्त धन-राशियों का लेखा-जोखा न्यायालय में फाइल करेगा ।

6. **अवयस्क की ओर से वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक को डिक्री के अधीन सम्पत्ति की प्राप्ति** – (1) वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक न्यायालय की इजाजत के बिना न तो –

(क) डिक्री या आदेश के पूर्व समझौते के तौर पर, और

(ख) अवयस्क के पक्ष में डिक्री या आदेश के अधीन,

किसी भी धन या अन्य जंगम सम्पत्ति को अवयस्क की ओर से प्राप्त करेगा ।

(2) जहां वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक अवयस्क की सम्पत्ति का संरक्षक होने के लिए सक्षम प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित नहीं किया गया है या ऐसे नियुक्त या घोषित किए जाने पर धन या अन्य जंगम सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए ऐसी किसी निर्योग्यता के अधीन है जो न्यायालय को ज्ञात है वहां, यदि न्यायालय सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए उसे इजाजत देता है तो, वह ऐसी प्रतिभूति अपेक्षित करेगा और ऐसे निदेश देगा जिनसे न्यायालय की राय में सम्पत्ति की दुर्व्यय से पर्याप्त रूप से संरक्षा होगी और उसका उचित उपयोजन सुनिश्चित होगा :

परन्तु न्यायालय वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक को डिक्री या आदेश के अधीन धन या अन्य जंगम सम्पत्ति प्राप्त करने की इजाजत देते समय ऐसे कारणों से जो लेखबद्ध किए जाएंगे, ऐसी प्रतिभूति देने से उस दशा में अभिमुक्त कर सकेगा जिसमें ऐसा वाद-मित्र या संरक्षक –

(क) हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का कर्ता है और डिक्री या आदेश कुटुम्ब की सम्पत्ति या कारबार के सम्बन्ध में है; अथवा

(ख) अवयस्क का माता या पिता है ।

परंतु न्यायालय अपने विवेकानुसार ऐसे मामलों में प्रतिभूति से अभिमुक्ति दे सकेगा जहां वाद के लिए वाद-मित्र या संरक्षक किसी अविभक्त कुटुंब या किसी थारवाड़ के कर्णावान या आलियासंथन कुटुंब के इजामन का प्रबंधक है और डिक्री, यथास्थिति, ऐसे अविभक्त कुटुंब या थारवाड़ या आलियासंथन कुटुंब के पक्ष में पारित की जाती है ।

7. **वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक द्वारा करार या समझौता** – (1) कोई भी वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक अवयस्क की ओर से कोई करार या समझौता उस वाद के बारे में जिसमें वाद-मित्र या संरक्षक की हैसियत में वह कार्य करता है, न्यायालय की इजाजत के बिना नहीं करेगा जो इजाजत कार्यवाहियों में स्पष्ट रूप से अभिलिखित की जाएगी ।

(2) जहां कोई करार या समझौता करने की इजाजत के लिए या समझौते के अनुसरण में किसी वाद को प्रत्याहृत करने के लिए या किसी अवयस्क या निर्योग्यता के अधीन अन्य व्यक्ति की ओर से कोई अन्य इसी प्रकार की कार्रवाई करने के लिए न्यायालय में आवेदन किया जाता है, तो आवेदन के समर्थन में दिए गए शपथ-पत्र में वह रीति उपवर्णित की जाएगी जिसमें प्रस्थापित समझौता, करार या अन्य कार्रवाई से अवयस्क या निर्योग्यता के अधीन अन्य व्यक्ति के हितों पर प्रभाव पड़ने की संभावना है और कारण भी उपवर्णित किए जाएंगे कि ऐसा समझौता, करार या अन्य कार्रवाई कैसे अवयस्क या निर्योग्यता के अधीन अन्य व्यक्ति के फायदे के लिए प्रत्याशित है, जहां ऐसे किसी मामले में अवयस्क या निःशक्तता से ग्रस्त अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व काउंसेल या प्लीडर द्वारा किया जाता है तो उक्त काउंसेल या प्लीडर आवेदन के साथ-साथ इस आशय का एक प्रमाणपत्र भी फाइल करेगा कि प्रस्थापित करार या समझौता या कार्रवाई उसकी राय में अवयस्क या निःशक्तता से ग्रस्त अन्य व्यक्ति के फायदे के लिए है । यदि न्यायालय इस नियम के उप-नियम (1) के अधीन इजाजत दे देता है, तो न्यायालय की डिक्री या आदेश में अभिव्यक्त रूप से यथा पूर्वोक्त समझौता, करार या अन्य कार्रवाई की बाबत शपथ-पत्र और ऊपर वर्णित प्रमाणपत्र पर विचार करने के पश्चात् न्यायालय से इप्सित इजाजत प्रदान करने का उल्लेख होगा और या तो स्वयं डिक्री में या उससे से संलग्न अनुसूची में समझौते या करार या अन्य कार्रवाई की विशिष्टियों को उपवर्णित किया जाएगा ।

(3) न्यायालय की इस प्रकार अभिलिखित इजाजत के बिना किया गया कोई भी करार या समझौता अवयस्क से भिन्न सभी पक्षकारों के विरुद्ध शून्यकरणीय होगा ।

9. **वाद-मित्र का हटाया जाना** – (1) जहां अवयस्क के वाद-मित्र का हित अवयस्क के हित के प्रतिकूल है या जहां उस प्रतिवादी से जिसका हित अवयस्क के हित के प्रतिकूल है, उसकी ऐसी संसक्ति है जिससे यह असंभाव्य हो जाता है कि अवयस्क के हित की संरक्षा वह उचित रूप से करेगा या जहां वह अपना कर्तव्य नहीं करता है या वाद के लम्बित रहने के दौरान भारत के भीतर निवास करना छोड़ देता है वहां या किसी भी अन्य पर्याप्त कारण से उसके हटाए जाने के लिए आवेदन अवयस्क की ओर से या किसी

प्रतिवादी द्वारा किया जा सकेगा और यदि समनुदिष्ट हेतुक की पर्याप्तता के बारे में न्यायालय का समाधान हो जाता है तो, वह वाद-मित्र के तद्नुसार हटाए जाने के लिए आदेश कर सकेगा और खर्चों के संबंध में ऐसा अन्य आदेश कर सकेगा जो वह ठीक समझे ।

(2) जहां वाद मित्र या निमित्त सक्षम प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक नहीं है और ऐसे नियुक्त या घोषित संरक्षक द्वारा जो यह वांछा करता है कि वह वाद-मित्र के स्थान में नियुक्त किया जाए, आवेदन किया जाता है वहां जब तक कि न्यायालय का उन कारणों से जो उसके द्वारा लेखबद्ध किए जाएंगे, यह विचार न हो कि संरक्षक को अवयस्क का वाद-मित्र नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए, वह वाद-मित्र को हटा देगा और तब वाद-मित्र होने के लिए उसके स्थान में आवेदक की नियुक्ति वाद में पहले उपगत खर्चों के संबंध में ऐसे निबन्धनों पर करेगा जो वह ठीक समझे ।

12. **अवयस्क वादी या आवेदक द्वारा वयस्क होने पर अनुसरण की जाने वाली चर्या** – (1) अवयस्क वादी या वह अवयस्क जो वाद में पक्षकार तो नहीं है किन्तु जिसकी ओर से आवेदन लम्बित है, वयस्क होने पर यह निर्वाचित करेगा कि वह वाद या आवेदन आगे चलाया या नहीं ।

(2) जहां वह वाद या आवेदन आगे चलाने का निर्वाचन करता है वहां वह वाद-मित्र के उन्मोचन के आदेश के लिए और स्वयं अपने नाम से आगे कार्यवाही चलाने की इजाजत के लिए आवेदन करेगा ।

(3) ऐसी दशा में उस वाद या आवेदन का शीर्षक इस भांति शुद्ध किया जाएगा कि उसका रूप तत्पश्चात् निम्न प्रकार का हो जाए –

> "क ख, भूतपूर्व अवयस्क अपने वाद-मित्र ग घ, द्वारा, किंतु जो अब वयस्क है ।"

(4) जहां वह वाद या आवेदन का परित्याग करने का निर्वाचन करता है वहां, यदि वह एकमात्र वादी या एकमात्र आवेदक है तो, वह इस आदेश के लिए आवेदन करेगा कि जो खर्चा प्रतिवादी या विरोधी पक्षकार द्वारा उपगत किया गया है या जो उसके वाद-मित्र द्वारा दिया गया है, उस खर्च के प्रतिसंदाय पर वाद या आवेदन खारिज कर दिया जाए ।

(5) इस नियम के अधीन कोई आवेदन एक पक्षीय किया जा सकेगा, किंतु वाद-मित्र को उन्मोचित करने वाला और अवयस्क वादी को स्वयं अपने नाम से आगे कार्यवाही करने के लिए अनुज्ञा देने वाला कोई भी आवेदन वाद-मित्र को सूचना दिए बिना नहीं किया जाएगा ।

13. **जहां अवयस्क सहवादी, वयस्क होने पर वाद का निराकरण करने की वांछा करता है** – (1) जहां अवयस्क सहवादी वयस्क होने पर वाद का निराकरण करने की वांछा करता है वहां वह यह आवेदन करेगा कि सहवादी की हैसियत से उसका नाम काट दिया जाए और यदि न्यायालय का यह निष्कर्ष हो कि वह आवश्यक पक्षकार नहीं है तो न्यायालय खर्चों के संबंध में या अन्यथा ऐसे निबन्धनों पर जो वह ठीक समझे, उसे वाद से खारिज कर देगा ।

(2) आवेदन की सूचना की तामील वाद-मित्र पर, किसी सह-वादी पर और प्रतिवादी पर की जाएगी ।

(3) ऐसे आवेदन के सभी पक्षकारों के और वाद में कि तब तक की गई सभी या किन्हीं कार्यवाहियों के खर्चे ऐसे व्यक्तियों द्वारा दिए जाएंगे जिन्हें न्यायालय निदिष्ट करे ।

(4) जहां आवेदक वाद का आवश्यक पक्षकार है वहां न्यायालय उसे प्रतिवादी बनाए जाने का निदेश दे सकेगा ।

14. **अयुक्तियुक्त या अनुचित वाद** – (1) यदि अवयस्क एक मात्र वादी है तो वह वयस्क होने पर आवेदन कर सकेगा कि उसके नाम में उसके वाद-मित्र द्वारा संस्थित वाद इस आधार पर खारिज कर दिया जाए कि वह अयुक्तियुक्त या अनुचित था ।

(2) इस आवेदन की सूचना की तामील संबद्ध सभी पक्षकारों पर की जाएगी और ऐसी अयुक्तियुक्तता या अनौचित्य के बारे में अपना समाधान हो जाने पर न्यायालय आवेदन को मंजूर कर सकेगा और आवेदन के संबंध में सभी पक्षकारों के खर्चों का और वाद में की गई किसी वाद में हुए खर्चों को देने के लिए आदेश वाद-मित्र को दे सकेगा या ऐसा अन्य आदेश दे सकेगा जो वह ठीक समझे ।

14-क. जब कोई अवयस्क प्रतिवादी वयस्क हो जाता है तो वह या वाद में उसके लिए नियुक्त संरक्षक या वादी उक्त प्रतिवादी को वयस्क घोषित करने और संरक्षक को उन्मोचित करने के लिए

न्यायालय में आवेदन कर सकेगा और उसकी सूचना ऐसे सभी व्यक्तियों को दी जाएगी जो आवेदक नहीं है । जब न्यायालय आदेश करके उक्त प्रतिवादी को अवयस्क घोषित करता है, तो वह उसी आदेश द्वारा संरक्षक को उन्मोचित करेगा और उसके पश्चात् वाद उक्त प्रतिवादी के विरुद्ध वयस्क के रूप में चलाया जाएगा ।

संहिता की धारा 32, नियम 1 के पठन मात्र से पूरी तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि अवयस्क द्वारा हर वाद उसके नाम में ऐसे व्यक्ति द्वारा संस्थित किया जाएगा, जो ऐसे वाद में अवयस्क का "वाद-मित्र" कहलाएगा । इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वाद-मित्र हिंदू संरक्षकता अधिनियम की धारा 4 की उपधारा (ख) के अधीन विनिर्दिष्ट अनुसार आवश्यक रुप से एक सम्यक्तः नियुक्त संरक्षक हो । "वाद-मित्र" ऐसे "अवयस्क" या अन्य व्यक्ति के फायदे के लिए कार्य करता है, जो हिंदू संरक्षकता अधिनियम के अनुसार नियमित रूप से नियुक्त संरक्षक न होने के कारण अपने स्वयं के हितों की देख-रेख करने या अपने वाद का प्रबंध करने के लिए असमर्थ (विधितः असक्षम व्यक्ति) है । वह ऐसे अवयस्क या निःशक्त व्यक्ति के हितों की देख-रेख करने के लिए, जिसका वह किसी विशिष्ट मामले में प्रतिनिधित्व करता है, विशेष रूप से हाजिर होकर न्यायालय के अधिकारी के रूप में कार्य करता है । पूर्वोक्त उपबंध में वाद-मित्र द्वारा अवयस्क की ओर से वाद फाइल करना प्राधिकृत किया गया है । यदि अवयस्क द्वारा वाद-मित्र के बिना कोई वाद संस्थित किया जाता है, तो संहिता के आदेश 32 के नियम 2 के अनुसार वाद-पत्र फाइल से निकाल दिया जाएगा । संहिता के आदेश 32, नियम 1 और 3 में साथ-साथ वाद-मित्र और वादार्थ संरक्षक अर्थात् (क) जहां वाद किसी अवयस्क की ओर से फाइल किया जाता है, और (ख) जहां वाद किसी अवयस्क के विरुद्ध फाइल किया जाता है, के बीच विभेद है । यदि, जहां वाद अवयस्क की ओर से फाइल किया जाता है, वहां वाद-मित्र को वाद संस्थित करने के लिए न्यायालय की अनुज्ञा या इजाजत लेना आवश्यक नहीं है, जबकि यदि वाद किसी अवयस्क के विरुद्ध फाइल किया जाता है, तो वादी के लिए यह आबद्धकर है कि वह ऐसे अवयस्क के लिए न्यायालय द्वारा समुचित वादार्थ संरक्षक नियुक्त करवाए । "वादार्थ संरक्षक" ऐसे न्यायालय द्वारा, जिसमें कोई विशिष्ट मुकदमेबाजी लंबित है, उसी विशिष्ट मुकदमेबाजी में किसी अवयस्क/बालक आदि का प्रतिनिधित्व करने के लिए न्यायालय द्वारा नियुक्त एक विशेष संरक्षक होता है और वादार्थ संरक्षक की प्रास्थिति उसी मुकदमेबाजी में विद्यमान रहती है जिसमें उसकी नियुक्ति की जाती है । विभिन्न उच्च न्यायालयों ने भी इस दृष्टिकोण को अपनाया है ।

कालियाम्मल, अवयस्क, संरक्षक पट्टा गोवंडन द्वारा प्रतिनिधित्व बनाम **रामास्वामी गोवंडन**[1] वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि वाद चलाने हेतु वाद-मित्र के लिए, यदि वह असमर्थ नहीं हो गया है, न्यायालय की मंजूरी की आवश्यकता नहीं है । **के. कुमार** बनाम **ओंकार नाथ**[2] वाले मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया था ।

7. **गोपालस्वामी गौंडर** बनाम **रामास्वामी कौंडर**[3] वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय ने इस मत की अति स्पष्ट शब्दों में पुष्टि की है । उस मामले में, उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि कोई व्यक्ति, जिसका अवयस्क के हित के प्रतिकूल कोई हित नहीं है, उसके वाद-मित्र के रूप में हाजिर हो सकता है । न्यायालय ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है :–

> "विधि में ऐसे किसी अवयस्क के लिए, जो या तो वादी के रूप में या याची के रूप में कोई विधिक कार्यवाही संस्थित करता है, वाद-मित्र की नियुक्ति अनुध्यात नहीं है । किसी वाद-मित्र के माध्यम से अवयस्क का प्रतिनिधित्व करने का उद्देश्य विरोधी पक्षकार को केवल इस बात के लिए समर्थ बनाना है कि यदि अवयस्क के विरुद्ध खर्चे के लिए कोई आदेश किया जाता है, तो वह वाद-मित्र को इस पर कार्यवाही करने के लिए कह सके..... ।
>
> जहां अवयस्क कोई कार्यवाही वादी या आवेदक के रूप में संस्थित करता है, तो कोई भी व्यक्ति जिसका उस अवयस्क के हित के प्रतिकूल कोई हित न हो, उसके वाद-मित्र के रूप में नियुक्त हो सकता है । केवल इस तथ्य से, कि अवयस्क की माता सेल्वी को उन निष्पादन कार्यवाहियों में अवयस्क के संरक्षक के रूप में नियुक्त किया गया था, जिनमें अवयस्क को एक अतिरिक्त प्रत्यर्थी के रूप में पक्षकार बनाया गया था, गोपालस्वामी गौंडर सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 90 के अधीन याचिकाएं फाइल करने के प्रयोजन के लिए स्वयं को वाद-मित्र के रूप में प्रस्तुत करने के लिए असमर्थ नहीं हो जाएगा । वाद-मित्र को अपनी वाद-मित्र के रूप में नियुक्ति करवाने की कतई कोई आवश्कयता नहीं थी और न ही

---

[1] ए. आई. आर. 1972 मद्रास 859.

[2] ए. आई. आर. 1972 इलाहाबाद 81.

[3] ए. आई. आर. 2006 केरल 138.

निचले न्यायालय ने उक्त आवेदन को खारिज करके न्यायोचित किया था । यहां तक कि ऐसे मामले में भी, जहां अवयस्क द्वारा अपने वाद-मित्र के माध्यम से कार्यवाहियां संस्थित की जाती हैं, वहां वास्तविक वादी या आवेदक स्वयं अवयस्क ही होता है न कि वाद-मित्र ।"

8. वाद-मित्र की न्यायालय द्वारा नियुक्ति करने का न केवल कोई उपबंध है, अपितु न्यायालय की अनुज्ञा लेना भी आवश्यक नहीं है । तथापि, यहां तक कि अवयस्क प्रतिवादियों की बाबत भी, विभिन्न उच्च न्यायालय लगातार यह दृष्टिकोण अपनाते रहे हैं कि वहां भी डिक्री अपास्त नहीं की जा सकती है, जहां प्रतिवादी का प्रतिनिधित्व करने के लिए वादार्थ संरक्षक की नियुक्ति हेतु कतिपय औपचारिकताओं का पालन नहीं किया गया है । उच्च न्यायालयों ने अवयस्क प्रतिवादियों के मामले में यह मत व्यक्त किया है कि जहां संहिता के आदेश 32, नियम 3 के अधीन संबंधित न्यायालय की अनुज्ञा नहीं ली गई है, किंतु डिक्री पारित की गई है, वहां अवयस्क प्रतिवादी पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने पर ऐसी डिक्री को अपास्त नहीं किया जा सकता है । मुख्य कसौटी यह है कि डिक्री को अपास्त करने के लिए अवयस्क प्रतिवादी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ा होना चाहिए । संदर्भ के लिए, **बृज किशोर लाल** बनाम **सतनारायण लाल एंड कं.**[1], **आनंदराम और एक अन्य** बनाम **माधो लाल और अन्य**[2], **रंगाम्मल** बनाम **अवयस्क अप्पासामी और अन्य**[3], **चतरभुज गोयल** बनाम **गुरप्रीत सिंह**[4] और **श्री मोहम्मद युसुफ और अन्य** बनाम **श्री रफीकुद्दीन सिद्दीकी**[5] वाले मामले देखें ।

प्रस्तुत मामले में, वाद अवयस्क की ओर से फाइल किया गया था और इसलिए वाद-मित्र अवयस्क का प्रतिनिधित्व करने के लिए सक्षम था । इसके अतिरिक्त, स्वीकृततः, वादी सं. 2 पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था ।

9. हिंदू संरक्षकता अधिनियम के अधीन यथापरिभाषित "संरक्षक" की धारणा "वाद-मित्र" या "वादार्थ संरक्षक" की धारणा से एक अलग धारणा है । अवयस्क वादी का "वाद-मित्र" द्वारा या अवयस्क प्रतिवादी का "वादार्थ

---

[1] ए. आई. आर. 1954 इलाहाबाद 599.
[2] ए. आई. आर. 1960 राजस्थान 189.
[3] ए. आई. आर. 1973 मद्रास 12.
[4] ए. आई. आर. 1983 पंजाब 406.
[5] (1974) 1 आई. एल. आर. दिल्ली 825.

संरक्षक" द्वारा प्रतिनिधित्व पूरी तरह से अस्थाई होता है, और वह भी उसी विशिष्ट वाद के प्रयोजन के लिए होता है ।

10. किसी नैसर्गिक संरक्षक या हिंदू संरक्षकता अधिनियम के अधीन यथा परिभाषित सम्यक् रूप से नियुक्त संरक्षक के लिए किसी वाद में अवयस्क वादी या प्रतिवादी का प्रतिनिधित्व करने के लिए कोई बाधा नहीं है । किंतु ऐसे संरक्षक का अवयस्क के विरुद्ध प्रतिकूल हित नहीं होना चाहिए । यदि नैसर्गिक संरक्षक या सम्यक् रूप से नियुक्त संरक्षक का वाद में अवयस्क के विरुद्ध प्रतिकूल हित है, तब, यथास्थिति, वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक सिविल मुकदमेबाजी में अवयस्क का प्रतिनिधित्व नहीं करेगा ।

11. अब यह सुस्थिर और संहिता के आदेश 32 के उपबंधों के अनुसार भी है कि जो व्यक्ति स्वस्थचित है, जो वयस्क है, जो अवयस्क का प्रतिनिधित्व और उसके हित की संरक्षा कर सकता है, जो भारत का निवासी है और उसका हित अवयस्क के हित के प्रतिकूल नहीं है, अवयस्क का उसके वाद-मित्र के रूप में प्रतिनिधित्व कर सकेगा । ऐसा व्यक्ति, जो अवयस्क वादी का वाद-मित्र के रूप में प्रतिनिधित्व कर रहा है, उसी वाद में प्रतिवादी के रूप में पक्षकार नहीं होगा । संहिता के आदेश 32, नियम 6 और 7 में विनिर्दिष्ट रूप से यह उपबंधित है कि वाद-मित्र या वादार्थ संरक्षक न्यायालय की इजाजत के बिना कोई भी धन या जंगम संपत्ति प्राप्त नहीं करेगा और न्यायालय की इजाजत के बिना कोई करार या समझौता नहीं करेगा । हिंदू संरक्षकता अधिनियम के अधीन उपबंधित नैसर्गिक संरक्षक के अधिकार और निर्बंधन अवयस्क की ओर से वाद-मित्र द्वारा वाद फाइल करने की प्रक्रिया का विरोध नहीं करते हैं । इसमें न केवल कोई अभिव्यक्त प्रतिषेध है, अपितु संहिता के आदेश 32 के अनुशीलन से यह दर्शित होता है कि विधान-मंडल ने जहां-कहीं वाद-मित्र के अधिकार को निर्बंधित करना समुचित समझा है, उसने संहिता के आदेश 32, के नियम 6 और 7 में इसके बारे में अभिव्यक्त रूप से उपबंध किया है । आदेश 32, के नियम 9 में, अन्य बातों के अतिरिक्त, यह स्पष्ट किया गया है कि जहां वाद-मित्र इस निमित्त सक्षम प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक नहीं है और ऐसे नियुक्त या घोषित संरक्षक द्वारा, जो यह वांछा करता है कि उसे वाद-मित्र के स्थान पर नियुक्त किया जाए, आवेदन किया जाता है, वहां जब तक कि न्यायालय का उन कारणों से जो उसके द्वारा लेखबद्ध किए जाएंगे, यह विचार न हो कि संरक्षक को अवयस्क का वाद-मित्र नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए, वह वाद-मित्र को हटा देगा । संहिता के आदेश 32, नियम 12, 13 और 14 में अवयस्क वादी को,

वयस्क होने पर, वाद को आगे चलाने या परित्याग करने का विनिश्चय करने के लिए सशक्त किया गया है । अतः, वयस्क हो जाने पर यदि वादी वाद को आगे चलाने का निर्वाचन करता है, तो वह ऐसा एक आवेदन देकर कर सकता है, जिसके परिणामस्वरूप वाद-मित्र अवयस्क द्वारा वयस्क होने की तारीख से, अवयस्क वादी का प्रतिनिधत्व करना बंद कर देगा । संहिता के आदेश 32, नियम 12 में अवयस्क वादी से इस विकल्प की अपेक्षा की गई है कि वह या तो वाद को आगे चलाए या वाद का परित्याग कर दे और इसमें कतई यह उपबंध नहीं है कि अवयस्क वादी द्वारा वयस्क होने पर यदि कोई ऐसा निर्वाचन नहीं किया जाता है, तो इस आधार पर वाद को खारिज कर दिया जाना चाहिए । यदि वाद के लंबित रहने के दौरान न्यायालय को यह ज्ञात होता है कि अवयस्क वादी वयस्क हो गया है, तो न्यायालय द्वारा ऐसे वादी से यह कहे जाने की आवश्यकता होती है कि क्या वह वाद को आगे चलाना चाहता है या नहीं । दूसरे शब्दों में, अवयस्क को, जो मामले के लंबित रहने के दौरान वयस्क हो गया है, वाद के लंबित रहने के बारे में अवश्य सूचित किया जाना चाहिए और ऐसी सूचना के अभाव में अवयस्क पर वाद के लंबित रहने की जानकारी होने का अभ्यारोपण नहीं लगाया जा सकता है । अतः ऐसे अवयस्क के विरुद्ध, जो वयस्क हो गया है, कोई प्रतिकूल आदेश किए जाने से पूर्व न्यायालय द्वारा ऐसे व्यक्ति को सूचना दी जानी चाहिए । निस्संदेह, प्रस्तुत मामले में, तथ्यों और परिस्थितियों के अधीन ऐसा अवसर उद्भूत नहीं हुआ था, चूंकि वादी सं. 2 वयस्क हो जाने पर वाद को चलाता रहा है और इससे यह अभिप्रेत है कि उसने वाद को आगे चलाने का निर्वाचन किया था ।

12. हो सकता है संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 और हिंदू संरक्षकता अधिनियम से उद्भूत सिद्धांत संहिता के आदेश 32 के अधीन नियुक्त होने वाले वाद-मित्र के लिए प्रासंगिक न हों । प्रतिवादी का प्रतिनिधित्व करने के लिए वादार्थ संरक्षक या किसी वाद में वादी का प्रतिनिधित्व करने के लिए वाद-मित्र की नियुक्ति केवल उस वाद तक ही सीमित होती है और उस वादार्थ संरक्षक/वाद-मित्र का उन्मोचन होने के पश्चात् उस संरक्षक के हिंदू संरक्षकता अधिनियम की धारा 4 की उपधारा (ख) के अधीन यथा परिभाषित अधिकार/कर्तव्य (यदि उसका कोई प्रतिकूल हित नहीं है) स्वयमेव संरक्षक के रूप में जारी रहते हैं । दूसरे शब्दों में, संहिता के आदेश, 32, नियम 1 के अधीन अवयस्क का वाद में प्रतिनिधित्व करने वाला वाद-मित्र हिंदू संरक्षकता अधिनियम के अधीन नियुक्त संरक्षक के अधिकार और कर्तव्य नहीं छीन लेगा, जब तक कि ऐसे संरक्षक का

कोई प्रतिकूल हित न हो या ऐसे सम्यक् रूप से नियुक्त संरक्षक को इस अधिनियम के अनुसार हटाया नहीं जाता है ।

13. प्रस्तुत मामले में, प्रत्यर्थी सं. 2/प्रतिवादी सं. 1 यद्यपि वादी सं. 2 का पिता है, तो भी वादी सं. 2 का वर्तमान वाद में उसके संरक्षक के रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता था, क्योंकि उसका हित वादी सं. 2 के हित के प्रतिकूल था । वादी सं. 2 द्वारा वाद में विक्रय विलेख की विधिमान्यता को प्रश्नगत करते हुए संपत्ति के विक्रेता अर्थात् नैसर्गिक संरक्षक के विरुद्ध अनेक अभिकथन किए गए हैं । संपत्ति को किसी विधिमान्य कारण और कुटुंब की आवश्यकता के बिना बेचने की प्रत्यर्थी सं. 2 (प्रतिवादी सं. 1) की कार्रवाई वाद की विषयवस्तु है । दूसरी ओर, वादी सं. 1 (वादी सं. 2 का बड़ा भाई) ने, जिसका वादी सं. 2 के हित के प्रतिकूल कोई हित नहीं है, वादी सं. 2 का उसके वाद-मित्र के रूप में समुचित रूप से प्रतिनिधित्व किया है । वादी सं. 2 ने वादी सं. 1/अपने वाद-मित्र के विरुद्ध, वयस्क हो जाने पर, एक भी अभिकथन नहीं किया है ।

14. अवयस्क-वादी सं. 2 वाद फाइल करने की तारीख से एक वर्ष के भीतर वयस्क हो गया था । पूर्वोल्लिखित वाद तारीख 21 अप्रैल, 1985 को फाइल किया गया था, तब वादी सं. 2 की आयु 17 वर्ष थी । इस प्रकार, वादी सं. 2 तारीख 20 अप्रैल, 1986 को या आस-पास वयस्क हो गया था । अभि. सा. 1 (वादियों का प्रथम साक्षी) का साक्ष्य तारीख 15 अक्तूबर, 1992 को अभिलिखित किया गया था, जिसका यह अर्थ है कि किसी भी साक्षी का साक्ष्य अभिलिखित करने से काफी पूर्व वादी सं. 2 वयस्क हो गया था और उसने तब वाद जारी रखने का निर्वाचन किया था । यह उल्लेख करना भी सुसंगत है कि वादी सं. 2 वयस्क होने की तारीख से लेकर इस तारीख तक अपने आप मामले को जारी रखे हुए है । इसलिए, पूर्वोल्लिखित कारणों से उच्च न्यायालय वादी सं. 2 को वाद से बेदखल करने के लिए स्वतंत्र नहीं था ।

15. यद्यपि, हमारे समक्ष यह दर्शित करने के लिए अभिलेख प्रस्तुत नहीं किया गया है कि वादी सं. 2 ने अपने वयस्क हो जाने पर वाद-मित्र को उन्मोचित करने के लिए औपचारिक आवेदन फाइल किया था या नहीं, फिर भी वास्तविकता यह है कि विचारण न्यायालय से लेकर इस न्यायालय तक उसने स्वयं ही कार्यवाहियों को जारी रखा है । इस बात से मुकदमेबाजी को जारी रखने का उसका आशय स्पष्ट रूप से दर्शित होता है । उसने अपने दावे का परित्याग न करके सिविल कार्यवाही को जारी

रखने का निर्वाचन किया है ।

16. सारतः, वाद-मित्र द्वारा अवयस्क की ओर से कोई वाद फाइल करना या वाद में किसी अवयस्क प्रतिवादी का वादार्थ संरक्षक द्वारा प्रतिनिधित्व करना एक समय-समय पर परखी हुई प्रक्रिया है, जो सिविल मुकदमेबाजी में अवयस्क के हितों की संरक्षा करने के लिए है । "वाद-मित्र" और "वादार्थ संरक्षक" के बीच व्यवहारिक फर्क केवल यह है कि वाद-मित्र वह व्यक्ति होता है जो ऐसे अवयस्क का प्रतिनिधित्व करता है जो कोई वाद प्रारंभ करता है, और वादार्थ संरक्षक ऐसे अवयस्क का, जो वाद में प्रतिवादी है, प्रतिनिधित्व करने के लिए न्यायालय द्वारा नियुक्त व्यक्ति होता है । किसी अवयस्क द्वारा वाद प्रारंभ करने से पूर्व, ऐसे योग्य वयस्क (वाद-मित्र) संबंधी एक भानपूर्वक विनिश्चय किया जाता है, जिसके माध्यम से वाद संस्थित किया जाएगा । वादार्थ संरक्षक न्यायालय द्वारा नियुक्त किया जाता है, जबकि वाद-मित्र न्यायालय द्वारा नियुक्त नहीं किया जाता है । वाद-मित्र और वादार्थ संरक्षक की एक जैसी शक्तियां और उत्तरदायित्व होते हैं । दोनों न्यायालय के नियंत्रणाधीन होते हैं और न्यायालय द्वारा हटाए जा सकते हैं यदि अवयस्क के सर्वोत्तम हित में ऐसा करना अपेक्षित हो ।

17. उपरोक्त चर्चा को देखते हुए, हमारी यह राय है कि हिंदू संरक्षकता अधिनियम के उपबंधों का अवलंब लेते हुए वादी सं. 2 को वाद चलाने से रोकने वाला आक्षेपित आदेश न्यायोचित नहीं है । मामले के तथ्यों और परिस्थितियों की समग्रता को ध्यान में रखते हुए, मामले का विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर नए सिरे से विनिश्चय करने के लिए इसे उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करना न्यायसंगत और समुचित होगा । तद्नुसार, यह अपील पूर्वोक्त सीमा तक मंजूर की जाती है, उच्च न्यायालय का निर्णय अपास्त किया जाता है और यह मामला उच्च न्यायालय को विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर नए सिरे से विनिश्चय करने के लिए प्रतिप्रेषित किया जाता है । यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि हमने मामले के गुणागुण के आधार पर कोई राय व्यक्त नहीं की है । खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाएगा ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

हिमाचल प्रदेश राज्य

बनाम

राज कुमार

8 जनवरी, 2018

न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती और न्यायमूर्ति उदय उमेश ललित

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 [सपठित भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 106] – हत्या – पारिस्थितिक साक्ष्य – अभियुक्त और मृतका का संयुक्त परिवार में साथ-साथ रहना, अभियुक्त द्वारा उसके साथ मारपीट करने के पश्चात् अपने साथ ले जाना – उसे अंतिम बार अभियुक्त के साथ देखा जाना और फिर उसका गायब हो जाना और मृत पाया जाना तथा अभियुक्त द्वारा उसकी गुमशुदगी के बारे में पुलिस में रिपोर्ट तक दर्ज न कराना और उसकी मृत्यु कैसे हुई, इसके बारे में युक्तियुक्त स्पष्टीकरण न देना, ऐसी परिस्थितियां हैं जिन पर संचयी रूप से विचार करने पर एक पूर्ण शृंखला बनती है और यह इंगित होता है कि हत्या अभियुक्त द्वारा कारित की गई थी, किसी अन्य द्वारा नहीं ।

मामले के तथ्य इस प्रकार हैं कि मृतका मीना देवी के पति का घटना से लगभग 11 वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो गया था और वह अविभक्त कुटुंब के मकान में अपने पुत्र (अभि. सा. 1), पुत्री (अभि. सा. 2) और अभियुक्त राजकुमार (देवर) के साथ रह रही थी । तारीख 23 अगस्त, 2007 को जब मीना देवी अपने परिवार के साथ भोजन कर रही थी, तब प्रत्यर्थी-अभियुक्त शराब के नशे में वहां आया और मीना देवी तथा उसके बालकों को किसी कारण के बिना गालियां देने लगा और उन्हें जान से मारने की धमकी दी । अभि. सा. 1 की दादी-बर्फी देवी, जो मकान में मौजूद थी, जीवन लाल (अभि. सा. 1) को पास ही के शयन कक्ष में ले गई और कमरे की बाहर से कुंडी लगा दी । उसने मृतका की पुत्री रेखा देवी (अभि. सा. 2) को अपने मामा अनंत राम (अभि. सा. 3) के मकान पर जाने के लिए कहा । अभि. सा. 1 जब कमरे के अंदर था, तब उसने अपनी माता मीना देवी की चिल्लाने की आवाज सुनी और उसने खिड़की से प्रत्यर्थी-अभियुक्त को अपनी माता को एक अन्य अभियुक्त के मकान की ओर ले जाते हुए

देखा । कुछ घंटों के पश्चात्, अभियुक्त ने दरवाजा खोला और उसे बताया कि उसकी माता घर से भाग गई है और वह इस बात को अपने मामा अनंत राम (अभि. सा. 3) को बताए । प्रत्यर्थी-अभियुक्त और एक अन्य अभियुक्त रमेश कुमार की इस धमकी के कारण अभि. सा. 1 ने अपने मामा (अभि. सा. 3) को बताया कि उसकी माता घर से भाग गई है । अनंत राम अभियुक्त के मकान पर आया । उसके पश्चात्, अभि. सा. 1 और अभि. सा. 3 धर्मपुर पुलिस थाने गए और मीना देवी के गुम हो जाने के बारे में पुलिस को सूचित किया । अनंत राम (अभि. सा. 3) को नेक राम से यह सूचना देते हुए एक फोन कॉल प्राप्त हुई कि मृतका मीना देवी का शव घाट बाहु जंगल में एक पेड़ से लटका हुआ पाया है । उसके पश्चात्, अभि. सा. 1 और अभि. सा. 3 पुलिस दल के साथ घटनास्थल पर गए और यह पाया कि मीना देवी का शव उसके गले में बंधी एक प्लास्टिक की रस्सी के साथ एक देवदार के पेड़ की शाखा से लटका हुआ था । अभि. सा. 1 का कथन अभिलिखित किया गया, जिसके आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 और 201 के अधीन मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया । मामले के अन्वेषण के दौरान अभियुक्त राजकुमार को अभिरक्षा में लिया गया और उससे परिप्रश्न किए गए । अभियुक्त का संस्वीकृति कथन अभिलिखित किया गया । अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात्, अभियुक्त राजकुमार, रमेश कुमार, ओम प्रकाश और बर्फी देवी के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 और 201 के अधीन आरोप-पत्र फाइल किया गया । सेशन न्यायालय में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन किए गए प्रश्नो में अभियुक्त ने अपराध में आलिप्त करने वाली सभी परिस्थितियों और साक्ष्य से इनकार किया और यह अभिवाक् किया कि वह निर्दोष है । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि मृतका मीना देवी की मृत्यु के लिए अभियुक्त द्वारा कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है, जो प्रत्यर्थी-अभियुक्त के साथ संयुक्त रुप से रह रही थी । इन निष्कर्षों के आधार पर विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी-अभियुक्त को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित 302 और 201 के अधीन दोषसिद्ध किया और उसे आजीवन कारावास भोगने का दंडादेश दिया । अन्य अभियुक्त रमेश कुमार और प्रकाश को दोषमुक्त कर दिया गया । अभियुक्त बर्फी देवी भगौड़ा रही । अभियुक्त द्वारा फाइल की गई अपील में उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि मृतका के पुत्र जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने न्यायालय के समक्ष साक्षी के रूप में अभिसाक्ष्य देते समय सम्पूर्ण घटना का वर्णन करते हुए

सुधार किए थे और इसलिए अभि. सा. 1 विश्वसनीय साक्षी नहीं है और उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त करते हुए कि अभियोजन का पक्षकथन गंभीर खामियों से ग्रस्त है, प्रत्यर्थी-अभियुक्त द्वारा फाइल की गई दांडिक अपील मंजूर की और तद्द्वारा दोषसिद्धि और उस पर अधिरोपित आजीवन कारावास के दंडादेश को अपास्त कर दिया । राज्य ने उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – मीना देवी (मृतका) अपने बालकों सहित अपने देवर/अभियुक्त के साथ रह रही थी । यदि मीना देवी गुम हो गई थी, तो अभियुक्त का स्वाभाविक आचरण यह था कि वह पुलिस के साथ-साथ अनंत राम (अभि. सा. 3) को भी सूचित करता । किंतु ऐसा नहीं किया गया था । साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 को देखते हुए, यह भार अभियुक्त पर चला जाता है कि वह गृह-वासी होने के कारण तर्कपूर्ण स्पष्टीकरण देता कि मीना देवी की मृत्यु कैसे हुई । अभियुक्त द्वारा कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है कि उसने क्यों न तो शिकायत दर्ज की और न ही मीना देवी के गुम होने के बारे में सूचित किया । प्रत्यर्थी-अभियुक्त गृह-वासी होने के कारण मात्र चुप्पी साध कर और कोई स्पष्टीकरण न देकर बच नहीं सकता है । यह प्रत्यर्थी के विरुद्ध अपराध में आलिप्त करने वाली एक मजबूत प्रतिकूल परिस्थिति है जिससे यह उपदर्शित होता है कि वह अपराध करने के लिए उत्तरदायी था । अभियुक्त से संबद्ध हेतु यह है कि वह प्रायिक तौर पर मृतका के साथ झगड़ा करता रहता था और उस पर हमला करता रहता था । किसी स्वामी नामक व्यक्ति कि भूमि से संबंधित विवाद को भी इंगित किया गया है, जो अपनी संपत्ति एकमात्र रुप से मृतका मीना देवी को देना चाहता था और यह बात अभियुक्त को स्वीकार्य नहीं थी । इसके अलावा, अभियुक्त से संबंद्ध एक अन्य हेतु उसका 1,20,000/- रुपए की सावधि जमा, जो तारीख 13 अगस्त, 2007 को मृतका को देय हो गई थी, के लिए लालच था । मृतका की ननद, अभि. सा. 15-बिंद्रा देवी ने अपने साक्ष्य में स्पष्ट रुप से यह कथन किया कि जब कभी मीना देवी उसके घर आती थी, तो मीना देवी उसे अभियुक्त राजकुमार द्वारा उसे दी गई यातना के बारे में बताती थी । बिंद्रा देवी (अभि. सा. 15) ने अभियुक्त से संबंद्ध हेतु के बारे में स्पष्ट रुप से कथन किया है । अभि. सा. 15 के साक्ष्य से यह पता चलता है कि अभियुक्त राजकुमार एक पुराना शराबी है । पहले भी प्रत्यर्थी-अभियुक्त ने

मीना देवी की पिटाई की थी और उसका मीना देवी के साथ उसे यह आश्वासन देते हुए एक समझौता हुआ था कि वह भविष्य में उसके साथ मारपीट नहीं करेगा । अभियुक्त से संबंद्ध हेतु के बारे में अभि. सा. 15 के साक्ष्य का उच्च न्यायालय द्वारा उचित रुप से मूल्यांकन नहीं किया गया है । जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने अभियुक्त द्वारा 23 अगस्त, 2007 की रात्रि में मीना देवी पर हमला करने और उसके पश्चात् अभियुक्त तथा ओम प्रकाश नामक व्यक्ति द्वारा अभि. सा. 1 को धमकी देने के बारे में स्पष्ट रुप से कथन किया है । विचारण न्यायालय ने, जिसके पास साक्षियों को देखने और उनके हाव-भाव का अवलोकन करने का अवसर था, यह अभिनिर्धारित किया है कि जीवन लाल (अभि. सा. 1) एक विश्वसनीय साक्षी है । जबकि उच्च न्यायालय ने जीवन लाल (अभि. सा. 1) के वृत्तांत पर इस आधार पर संदेह करके ठीक नहीं किया है कि अभि. सा. 1 ने अपने वृत्तांत में सुधार किए हैं । जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने तारीख 25 अगस्त, 2007 के अपने कथन (प्रदर्श पी/ए) में अपराध कारित करने में अभियुक्त सं. 2 और 3 अर्थात् रमेश कुमार और ओम प्रकाश के भागीदार होने के संबंध में प्रकटन नहीं किया है । जीवन लाल (अभि. सा. 1) के साक्ष्य पर केवल इस कारण संदेह नहीं किया जा सकता है कि तारीख 25 अगस्त, 2007 को पेड़ से लटके मीना देवी के शव को उतारने के तुरंत पश्चात् अभिलिखित किए गए उसके कथन में रमेश कुमार और ओम प्रकाश के नामों का उल्लेख नहीं है । उस समय अभि. सा. 1 जिन परिस्थितियों में था, उन्हें ध्यान में रखा जाना चाहिए । अभि. सा. 1 की आयु केवल 19 वर्ष थी । तारीख 23 अगस्त, 2007 की रात्रि में उसने अपनी माता के चिल्लाने की आवाजें सुनी थी जब उसकी पिटाई की गई थी । अभि. सा. 1 और अभि. सा. 3 चौबीस घंटे से भी अधिक समय से अर्थात् तारीख 24 अगस्त, 2007 से 25 अगस्त, 2007 तक उसकी तलाश कर रहे थे और उन्हें उसे केवल मृत्त पाया था । अभि. सा. 1 को अभियुक्त ओम प्रकाश द्वारा पहले ही यह धमकी दी गई थी कि अनंत राम (अभि. सा. 3) को यह सूचित करे कि मीना देवी भाग गई है । तारीख 25 अगस्त, 2007 को जब अभि. सा. 1 का कथन अभिलिखित किया गया था, तब वह अवश्य ही सदमे और भय की मनोवृत्ति में होगा । ऐसी परिस्थितियों में, अपने कथन में ओम प्रकाश और रमेश कुमार के नामों का उल्लेख करने में हुए लोप से अभि. सा. 1 का साक्ष्य अविश्वसनीय नहीं हो जाता है । विचारण न्यायालय ने साक्ष्य का उचित मूल्यांकन करने के

उपरांत यह मत व्यक्त किया है कि अभि. सा. 1 के साक्ष्य से न्यायालय का विश्वास प्रेरित होता है । जबकि, इस न्यायालय के मत में, उच्च न्यायालय को अभि. सा. 1 के वृत्तांत और उसकी विश्वसनीयता पर संदेह नहीं करना चाहिए था । किसी साक्षी के साक्ष्य का मूल्यांकन करते समय, अवश्य ही यह दृष्टिकोण होना चाहिए कि साक्षी का साक्ष्य, समग्र रुप से परिशीलन करने पर, मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में विश्वासप्रद प्रतीत होता है या नहीं । जब एक बार यह धारणा बन जाती है, तब न्यायालय के लिए यह आवश्यक है कि वह साक्ष्य की संवीक्षा, विशिष्ट रुप से साक्ष्य में उल्लिखित त्रुटियों और कमियों को ध्यान में रखते हुए, करे और यह पता लगाने के लिए उनका मूल्यांकन करे कि क्या यह अभियोजन पक्ष के साधारण पक्षकथन के विरुद्ध तो नहीं है । जीवन लाल (अभि. सा. 1) मृतका मीना देवी का पुत्र है जो उसके और अभियुक्त के साथ उसी मकान में रह रहा था और वह घटना के बारे में कथन करने के लिए एक स्वाभाविक साक्षी है । अभि. सा. 1 का साक्ष्य निश्चयात्मक और स्वाभाविक है और अभियोजन पक्षकथन के संगत है । उच्च न्यायालय ने अभि. सा. 1 के साक्ष्य पर उसके द्वारा किए गए अभिकथित सुधारों के आधार पर संदेह करके और इस आधार पर उसके साक्ष्य को नामंजूर करके ठीक नहीं किया है कि उसमें कई सुधार किए गए हैं । जैसा कि सेशन न्यायाधीश द्वारा उल्लेख किया गया है, मृतका मीना देवी अंतिम बार अभियुक्त राजकुमार के साथ जीवित देखी गई थी और अभियुक्त ने मृतका मीना देवी की गुमशुदगी के बारे में समाधानप्रद रुप से स्पष्टीकरण नहीं दिया है और यह बात अभियुक्त के विरुद्ध एक मजबूत प्रतिकूल परिस्थिति है । मीना देवी, जो अभियुक्त के साथ उसी मकान में रह रही थी, और अंतिम बार अभियुक्त के साथ जीवित देखी गई थी, इसलिए उसको यह स्पष्ट करना चाहिए था कि मृतका की मृत्यु कैसे हुई । अभियुक्त के पास कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं था कि मीना देवी का शव पेड़ से लटकते हुए क्यों पाया गया था । प्रस्तुत मामले में, अभियोजन पक्ष ने तकपूर्ण और विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा इन परिस्थितियों को सिद्ध किया है – (i) हेतु (अभि. सा. 15 का साक्ष्य) ; (ii) अभियुक्त ने मृतका की पिटाई की थी और कहीं ले गया था (अभि. सा. 1 का साक्ष्य) ; (iii) मीना देवी की मृत्यु मानव-वध है (अभि. सा. 24 का साक्ष्य) ; (iv) मृतका मीना देवी की गुमशुदगी के बारे में पुलिस को रिपोर्ट न करने में अभियुक्त का आचरण ; और (v) मृतका की मृत्यु के बारे में अभियुक्त के स्पष्टीकरण का अभाव ।

अभियोजन पक्ष द्वारा अवलंब ली गई परिस्थितियां तर्कपूर्ण और विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा साबित की गई हैं । परिस्थितियों पर संचयी रुप से विचार करने पर एक पूर्ण श्रृंखला बनती है, जिससे इंगित होता है कि हत्या अभियुक्त द्वारा कारित की गई थी, किसी अन्य द्वारा नहीं । अपील में, उच्च न्यायालय ने साक्ष्य, अभियोजन साक्षियों के परिसाक्ष्य के अंतनिर्हित महत्व और अभियोजन पक्ष द्वारा सिद्ध की गई प्रबल परिस्थितियों का उचित रुप से मूल्यांकन नहीं किया है । उच्च न्यायालय ने काल्पनिक संदेहों को ग्रहण किया है और जीवन लाल (अभि. सा. 1) के विश्वसनीय साक्ष्य को कमजोर आधारों पर नामंजूर किया है । उच्च न्यायालय ने साक्ष्य का गलत मूल्यांकन करने के कारण दोषसिद्धि को अपास्त किया और न्याय की हानि की है । अभियुक्त को दोषमुक्त करने के लिए उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए तर्काधार असंधार्य है और आक्षेपित निर्णय को संधार्य नहीं रखा जा सकता है । (पैरा 12, 13, 14, 15, 18 और 19)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2006]	(2006) 10 एस. सी. सी. 681 : **त्रिमुख मरोती किरकन** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ;	10
[2006]	(2006) 12 एस. सी. सी. 254 : **राजस्थान राज्य** बनाम **काशीराम** ;	10
[2002]	(2002) 1 एस. सी. सी. 731 : **गणेश लाल** बनाम **राजस्थान राज्य** ;	10
[2000]	(2000) 1 एस. सी. सी. 471 : **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **सुरेश** ;	10
[1998]	(1998) 8 एस. सी. सी. 679 : **तमिलनाडु राज्य** बनाम **राजेन्द्रन** ।	10

अपीली दांडिक अधिकारिता : 2018 की दांडिक अपील सं. 31.

2008 की दांडिक अपील सं. 559 में हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय के तारीख 19 अगस्त, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री डी. के. ठाकुर, अपर महाधिवक्ता, शरीक अहमद और वरिन्दर कुमार शर्मा

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री जोस अब्राहम और रुचिर बत्रा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमती ने दिया ।

न्या. (श्रीमती) भानुमती – इजाजत दी गई ।

2. राज्य द्वारा फाइल की गई इस अपील में 2008 की दांडिक अपील सं. 559 में हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय के उस निर्णय को चुनौती दी गई है, जिसमें विचारण न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थी की भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन की गई दोषसिद्धि और उस पर अधिरोपित दंडादेश को अपास्त करते हुए दोषमुक्त किया गया है ।

3. मृतका मीना देवी के पति का घटना से लगभग 11 वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो गया था । मीना देवी अविभक्त कुटुंब के मकान में अपने पुत्र जीवन लाल (अभि. सा. 1), पुत्री रेखा देवी (अभि. सा. 2) और अभियुक्त राजकुमार (देवर) के साथ रह रही थी । तारीख 23 अगस्त, 2007 को 8.30 बजे पूर्वाह्न में जब मीना देवी अपने परिवार के साथ भोजन कर रही थी, तब प्रत्यर्थी-अभियुक्त शराब के नशे में वहां आया और मीना देवी तथा उसके बालकों अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 को किसी कारण के बिना गालियां देने लगा और उन्हें जान से मारने की धमकी दी । अभि. सा. 1 की दादी-बर्फी देवी, जो मकान में मौजूद थी, जीवन लाल (अभि. सा. 1) को पास ही के शयन कक्ष में ले गई और कमरे की बाहर से कुंडी लगा दी । उसने मृतका की पुत्री रेखा देवी (अभि. सा. 2) को अपने मामा अनंत राम (अभि. सा. 3) के मकान पर जाने के लिए कहा । अभि. सा. 1 जब कमरे के अंदर था, तब उसने अपनी माता मीना देवी की चिल्लाने की आवाज सुनी और उसने खिड़की से प्रत्यर्थी-अभियुक्त को अपनी माता को एक अन्य अभियुक्त के मकान की ओर ले जाते हुए देखा । कुछ घंटों के पश्चात्, अभियुक्त ने दरवाजा खोला और उसे बताया कि उसकी माता घर से भाग गई है और वह इस बात को अपने मामा अनंत राम (अभि. सा. 3) को बताए । प्रत्यर्थी-अभियुक्त और एक अन्य अभियुक्त रमेश कुमार की इस धमकी के कारण अभि. सा. 1 ने अपने मामा (अभि. सा. 3) को

बताया कि उसकी माता घर से भाग गई है । तारीख 24 अगस्त, 2007 को लगभग 2.00 बजे पूर्वाह्न में अनंत राम (अभि. सा. 3) अभियुक्त के मकान पर आया । उसके पश्चात्, अभि. सा. 1 और अभि. सा. 3 धर्मपुर पुलिस थाने गए और मीना देवी के गुम हो जाने के बारे में पुलिस को सूचित किया । वे तारीख 25 अगस्त, 2007 को लगभग 11.00-11.30 बजे अपराह्न में पुनः पुलिस थाना, धर्मपुर गए और उस समय अनंत राम (अभि. सा. 3) को नेक राम से यह सूचना देते हुए एक फोन कॉल प्राप्त हुई कि मृतका मीना देवी का शव घाट बाहु जंगल में एक पेड़ से लटका हुआ पाया है । उसके पश्चात्, अभि. सा. 1 और अभि. सा. 3 पुलिस दल के साथ घटनास्थल पर गए और यह पाया कि मीना देवी का शव उसके गले में बंधी एक प्लास्टिक की रस्सी के साथ एक देवदार के पेड़ की शाखा से लटका हुआ था । अभि. सा. 1 का कथन अभिलिखित किया गया, जिसके आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 और 201 के अधीन 2007 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 250 में मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया ।

4. आरंभिक अन्वेषण पुलिस उप-निरीक्षक, सत प्रकाश (अभि. सा. 20) द्वारा किया गया और इसके आगे अन्वेषण पुलिस निरीक्षक, एल. आर. ठाकुर (अभि. सा. 22) द्वारा किया गया । अभि. सा. 22 ने स्थल नक्शा, मृत्यु-समीक्षा रिपोर्ट तैयार की और आगे अन्वेषण किया । डा. विवेक बनयाल (अभि. सा. 24) ने शव-परीक्षा की और यह राय व्यक्त की कि "....मृत्यु, प्लीहा के विदारित होने के कारण गलघोटू सदमे के कारण हुई थी और मृत्यु-पूर्व की क्षतियों से मुंह में कपड़ा ठुंसकर बंद करने का सुझाव मिल रहा है । उसे मृत्यु उपरांत लटकाया गया था ।" अभियुक्त राजकुमार को तारीख 25 अगस्त, 2007 को अभिरक्षा में लिया गया और उससे परिप्रश्न किए गए । अभियुक्त का संस्वीकृति कथन तारीख 27 अगस्त, 2007 को अभिलिखित किया गया, जिसके आधार पर अभियुक्त रमेश कुमार के मकान के कमरे से एक कुर्ती बरामद की गई जो निर्माणाधीन थी । अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात्, अभियुक्त राजकुमार, रमेश कुमार, ओम प्रकाश और बर्फी देवी के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 और 201 के अधीन आरोप-पत्र फाइल किया गया ।

5. सेशन न्यायालय में अभियुक्तों की दोषिता को सिद्ध करने के लिए अभियोजन पक्ष ने कुल मिलाकर 24 साक्षियों की परीक्षा की और कई सारे

प्रदर्श तथा तात्विक वस्तुएं चिन्हित कीं । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन किए गए प्रश्नो में अभियुक्त ने अपराध में आलिप्त करने वाली सभी परिस्थितियों और साक्ष्य से इनकार किया और यह अभिवाक् किया कि वह निर्दोष है । अभियुक्त ने मृतका मीना देवी की मृत्यु के बारे में कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया ।

6. विचारण न्यायालय ने अनंत राम (अभि. सा. 3) और बिन्द्रा देवी (अभि. सा. 15) के साक्ष्य के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया कि मीना देवी को उसके देवर (प्रत्यर्थी-अभियुक्त) द्वारा तंग किया जाता था । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि मृतका के पुत्र जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने मृतका की पिटाई करने और मीना देवी को मकान से ले जाने के अभियुक्त के स्पष्ट-कृत्य के बारे में कथन किया है । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि मृतका मीना देवी की मृत्यु के लिए अभियुक्त द्वारा कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है, जो प्रत्यर्थी-अभियुक्त के साथ संयुक्त रूप से रह रही थी । इन निष्कर्षों के आधार पर विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी-अभियुक्त को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 और 201 के अधीन दोषसिद्ध किया और उसे आजीवन कारावास भोगने का दंडादेश दिया । अन्य अभियुक्त रमेश कुमार और ओम प्रकाश को दोषमुक्त कर दिया गया । अभियुक्त बर्फी देवी भगौड़ा रही ।

7. अभियुक्त द्वारा फाइल की गई अपील में उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि मृतका के पुत्र जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने न्यायालय के समक्ष साक्षी के रूप में अभिसाक्ष्य देते समय सम्पूर्ण घटना का वर्णन करते हुए सुधार किए थे और इसलिए अभि. सा. 1 विश्वसनीय साक्षी नहीं है । उच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि विवाद के संबंध में अस्पष्ट प्रकथन किए गए हैं, किंतु अभियुक्त को मृतका मीना देवी की हत्या कारित करने के लिए किसी विनिर्दिष्ट हेतु से संबद्ध नहीं किया गया है । उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त करते हुए कि अभियोजन का पक्षकथन गंभीर खामियों से ग्रस्त है, प्रत्यर्थी-अभियुक्त द्वारा फाइल की गई दांडिक अपील मंजूर की और तद्द्वारा दोषसिद्धि और उस पर अधिरोपित आजीवन कारावास के दंडादेश को अपास्त कर दिया । राज्य व्यथित होकर हमारे समक्ष अपील में आया है ।

8. हमने पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों को सुना और आक्षेपित निर्णय

तथा अभिलेख पर सामग्री का परिशीलन किया ।

9. अभियोजन का पक्षकथन पारिस्थितिक साक्ष्य पर आधारित है । यह भली-भांति स्थिर है कि पारिस्थितिक साक्ष्य पर आधारित मामले में जिन परिस्थितियों से दोषिता का निष्कर्ष निकाला जाना ईप्सित है, वे अवश्य ही तर्क पूर्ण रूप से और मजबूती से सिद्ध की जानी चाहिएं और वे परिस्थितियां अभियुक्त की दोषिता को अचूक रूप से इंगित करते हुए निश्चयात्मक प्रकृति की होनी चाहिएं । इसके अलावा, सभी परिस्थितियों पर संचयी रूप से विचार करने पर एक पूर्ण शृंखला बननी चाहिए और साक्ष्य की शृंखला में कोई दरार नहीं रहनी चाहिए । इसके अतिरिक्त, साबित परिस्थितियां अवश्य ही केवल अभियुक्त की दोषिता की परिकल्पना के संगत और उसकी निर्दोषिता के प्रति पूर्णतः असंगत होनी चाहिएं ।

10. पारिस्थितिक साक्ष्य पर आधारित मामले में, दोषिता का निष्कर्ष केवल तब निकाला जा सकता है जब अपराध में आलिप्त करने वाले सभी तथ्य और परिस्थितियां अभियुक्त की निर्दोषिता के बेमेल पाए गए हों । **त्रिमुख मरोती किरकन** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया था :–

> "12. ....पारिस्थितिक साक्ष्य पर आधारित किसी मामले में प्रसामान्य सिद्धांत यह है कि वे परिस्थितियां, जिनसे दोषिता का निष्कर्ष निकाला जाना ईप्सित है, अवश्य ही तर्क पूर्ण रूप से और मजबूती से सिद्ध की जानी चाहिएं ; वे परिस्थितियां निश्चायक प्रवृत्ति की होनी चाहिएं जो अचूक रूप से अभियुक्त की दोषिता को इंगित करती हों ; परिस्थितियों पर संचयी रूप से विचार करने पर इतनी पूर्ण शृंखला बननी चाहिए कि अवश्य ही ऐसा निष्कर्ष निकले कि सभी मानवीय अधिसंभाव्यताओं में अपराध अभियुक्त द्वारा ही किया गया था और उन परिस्थितियों में अभियुक्त की दोषिता के सिवाय और उसकी निर्दोषिता के असंगत किसी प्रकार की परिकल्पना का स्पष्टीकरण न दिया जा सकता हो ।"

राजस्थान राज्य बनाम **काशीराम**[2], **गणेश लाल** बनाम **राजस्थान राज्य**[3],

---

[1] (2006) 10 एस. सी. सी. 681.

[2] (2006) 12 एस. सी. सी. 254.

[3] (2002) 1 एस. सी. सी. 731.

महाराष्ट्र राज्य बनाम **सुरेश**[1] और **तमिलनाडु राज्य** बनाम **राजेन्द्रन**[2] वाले मामलों में इसी सिद्धांत को दोहराया गया था ।

11. मीना देवी अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अभियुक्त राजकुमार सहित अपने बालकों अर्थात् जीवन लाल (अभि. सा. 1) और रेखा देवी के साथ संयुक्त परिवार में रह रही थी । अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 ने अपने साक्ष्य में स्पष्ट रूप से यह कथन किया कि प्रत्यर्थी तारीख 23 अगस्त, 2007 को शराब के नशे की हालात में आया और उन्हें जान से मारने की धमकी दी । जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने, जो मृतका मीना देवी का पुत्र है, स्पष्ट रूप से यह कथन किया कि उसने अपनी माता के चिल्लाने की आवाज़ सुनी थी और अभियुक्त को उसकी माता को अभियुक्त ओम प्रकाश के मकान की ओर ले जाते हुए देखा था । तारीख 25 अगस्त, 2007 को मीना देवी का शव निकटवर्ती जंगल में देवदार के पेड़ से लटकते हुए पाया गया था । अभि. सा. 24 डा. विवेक बनयाल ने, जिसने शव-परीक्षा की थी, स्पष्ट रूप से यह कहा कि "मृत्यु-पूर्व की क्षतियां मुंह में कपड़ा ठूंस कर बंद करने के कारण कारित हुई थीं और शव को लटकाने की प्रक्रिया मरणोत्तर थी" ।

12. जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने अपने साक्ष्य में यह कथन किया कि उसे अभियुक्त ओम प्रकाश द्वारा अपने मामा अनंत राम (अभि. सा. 3) को यह टेलीफोन करने के लिए धमकाया था कि मीना देवी घर से भाग गई है और इस धमकी के अधीन जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने तद्नुसार अनंत राम (अभि. सा. 3) को सूचित किया था । तारीख 24 अगस्त, 2007 को 2.00 बजे पूर्वाह्न में अनंत राम (अभि. सा. 3) के गांव में आने के पश्चात् अभि. सा. 1 और अभि. सा. 3 पुलिस थाना, धर्मपुर गए और उन्हें मीना देवी के गुम होने के बारे में सूचित किया । मीना देवी अपने बालकों सहित अपने देवर/अभियुक्त के साथ रह रही थी । यदि मीना देवी इस प्रकार गुम हो गई थी, तो अभियुक्त का स्वाभाविक आचरण यह था कि वह पुलिस के साथ-साथ अनंत राम (अभि. सा. 3) को भी सूचित करता । किंतु ऐसा नहीं किया गया था । साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 को देखते हुए, यह भार अभियुक्त पर चला जाता है कि वह गृह-वासी होने के कारण निश्चयात्मक स्पष्टीकरण देता कि मीना देवी की मृत्यु कैसे हुई । अभियुक्त

---

[1] (2000) 1 एस. सी. सी. 471.
[2] (1998) 8 एस. सी. सी. 679.

द्वारा कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है कि उसने क्यों न तो शिकायत दर्ज की और न ही मीना देवी के गुम होने के बारे में सूचित किया । प्रत्यर्थी-अभियुक्त गृह-वासी होने के कारण मात्र चुपी साध कर और कोई स्पष्टीकरण न देकर बच नहीं सकता है । यह प्रत्यर्थी के विरुद्ध अपराध में आलिप्त करने वाली एक मजबूत प्रतिकूल परिस्थिति है जिससे यह उपदर्शित होता है कि वह अपराध करने के लिए उत्तरदायी था ।

13. अभियुक्त से संबद्ध हेतु यह है कि वह प्रायिक तौर पर मृतका के साथ झगड़ा करता रहता था और उस पर हमला करता रहता था । किसी स्वामी नामक व्यक्ति की भूमि से संबंधित विवाद को भी इंगित किया गया है, जो अपनी संपत्ति एकमात्र रूप से मृतका मीना देवी को देना चाहता था और यह बात अभियुक्त को स्वीकार्य नहीं थी । इसके अलावा, अभियुक्त से संबद्ध एक अन्य हेतु उसका 1,20,000/- रुपए की सावधि जमा, जो तारीख 13 अगस्त, 2007 को मृतका को देय हो गई थी, के लिए लालच था । मृतका की ननद, अभि. सा. 15 बिंद्रा देवी ने अपने साक्ष्य में स्पष्ट रूप से यह कथन किया कि जब कभी मीना देवी उसके घर आती थी, तो मीना देवी उसे अभियुक्त राजकुमार द्वारा उसे दी गई यातना के बारे में बताती थी । बिंद्रा देवी (अभि. सा. 15) ने अभियुक्त से संबद्ध हेतु के बारे में स्पष्ट रूप से कथन किया है । अभि. सा. 15 के साक्ष्य से यह पता चलता है कि अभियुक्त राजकुमार एक पुराना शराबी है । पहले भी प्रत्यर्थी-अभियुक्त ने मीना देवी की पिटाई की थी और उसका मीना देवी के साथ उसे यह आश्वासन देते हुए एक समझौता हुआ था कि वह भविष्य में उसके साथ मारपीट नहीं करेगा । अभियुक्त से संबद्ध हेतु के बारे में अभि. सा. 15 के साक्ष्य का उच्च न्यायालय द्वारा उचित रूप से मूल्यांकन नहीं किया गया है ।

14. जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने अभियुक्त द्वारा 23 अगस्त, 2007 की रात्रि में मीना देवी पर हमला करने और उसके पश्चात् अभियुक्त तथा ओम प्रकाश नामक व्यक्ति द्वारा अभि. सा. 1 को धमकी देने के बारे में स्पष्ट रूप से कथन किया है । विचारण न्यायालय ने, जिसके पास साक्षियों को देखने और उनके हाव-भाव का अवलोकन करने का अवसर था, यह अभिनिर्धारित किया है कि जीवन लाल (अभि. सा. 1) एक विश्वसनीय साक्षी है । जबकि उच्च न्यायालय ने जीवन लाल (अभि. सा. 1) के वृत्तांत पर इस आधार पर संदेह करके ठीक नहीं किया है कि अभि. सा. 1 ने अपने वृत्तांत में सुधार किए हैं । जीवन लाल (अभि. सा. 1) ने तारीख 25

अगस्त, 2007 के अपने कथन (प्रदर्श पी/ए) में अपराध कारित करने में अभियुक्त सं. 2 और 3 अर्थात् रमेश कुमार और ओम प्रकाश के भागीदार होने के संबंध में प्रकटन नहीं किया है । जीवन लाल (अभि. सा. 1) के साक्ष्य पर केवल इस कारण संदेह नहीं किया जा सकता है कि तारीख 25 अगस्त, 2007 को पेड़ से लटके मीना देवी के शव को उतारने के तुरंत पश्चात् अभिलिखित किए गए उसके कथन में रमेश कुमार और ओम प्रकाश के नामों का उल्लेख नहीं है । उस समय अभि. सा. 1 जिन परिस्थितियों में था, उन्हें ध्यान में रखा जाना चाहिए । अभि. सा. 1 की आयु केवल 19 वर्ष थी । तारीख 23 अगस्त, 2007 की रात्रि में उसने अपनी माता के चिल्लाने की आवाजें सुनी थीं जब उसकी पिटाई की गई थी । अभि. सा. 1 और अभि. सा. 3 चौबीस घंटे से भी अधिक समय से अर्थात् तारीख 24 अगस्त, 2007 से 25 अगस्त, 2007 तक उसकी तलाश कर रहे थे और उन्हें उसे केवल मृत पाया था । अभि. सा. 1 को अभियुक्त ओम प्रकाश द्वारा पहले ही यह धमकी दी गई थी कि अनंत राम (अभि. सा. 3) को यह सूचित करे कि मीना देवी भाग गई है । तारीख 25 अगस्त, 2007 को जब अभि. सा. 1 का कथन अभिलिखित किया गया था, तब वह अवश्य ही सदमे और भय की मनोवृत्ति में होगा । ऐसी परिस्थितियों में, अपने कथन में ओम प्रकाश और रमेश कुमार के नामों का उल्लेख करने में हुए लोप से अभि. सा. 1 का साक्ष्य अविश्वसनीय नहीं हो जाता है । विचारण न्यायालय ने साक्ष्य का उचित मूल्यांकन करने के उपरांत यह मत व्यक्त किया है कि अभि. सा. 1 के साक्ष्य से न्यायालय का विश्वास प्रेरित होता है । जबकि, हमारे मत में, उच्च न्यायालय को अभि. सा. 1 के वृत्तांत और उसकी विश्वसनीयता पर संदेह नहीं करना चाहिए था ।

15. किसी साक्षी के साक्ष्य का मूल्यांकन करते समय, अवश्य ही यह दृष्टिकोण होना चाहिए कि साक्षी का साक्ष्य, समग्र रूप से परिशीलन करने पर, मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में विश्वासप्रद प्रतीत होता है या नहीं । जब एक बार यह धारणा बन जाती है, तब न्यायालय के लिए यह आवश्यक है कि वह साक्ष्य की संवीक्षा, विशिष्ट रूप से साक्ष्य में उल्लिखित त्रुटियों और कमियों को ध्यान में रखते हुए, करे और यह पता लगाने के लिए उनका मूल्यांकन करे कि क्या यह अभियोजन पक्ष के साधारण पक्षकथन के विरुद्ध तो नहीं है । जीवन लाल (अभि. सा. 1) मृतका मीना देवी का पुत्र है जो उसके और अभियुक्त के साथ उसी मकान में रह रहा था और वह घटना के बारे में कथन करने के लिए एक स्वाभाविक साक्षी

है । अभि. सा. 1 का साक्ष्य निश्चयात्मक और स्वाभाविक है और अभियोजन पक्षकथन के संगत है । उच्च न्यायालय ने अभि. सा. 1 के साक्ष्य पर उसके द्वारा किए गए अभिकथित सुधारों के आधार पर संदेह करके और इस आधार पर उसके साक्ष्य को नामंजूर करके ठीक नहीं किया है कि उसमें कई सुधार किए गए हैं ।

16. जैसा कि सेशन न्यायाधीश द्वारा उल्लेख किया गया है, मृतका मीना देवी अंतिम बार अभियुक्त राजकुमार के साथ जीवित देखी गई थी और अभियुक्त ने मृतका मीना देवी की गुमशुदगी के बारे में समाधानप्रद रूप से स्पष्टीकरण नहीं दिया है और यह बात अभियुक्त के विरुद्ध एक मजबूत प्रतिकूल परिस्थिति है । मीना देवी, जो अभियुक्त के साथ उसी मकान में रह रही थी, और अंतिम बार अभियुक्त के साथ जीवित देखी गई थी, इसलिए उसको यह स्पष्ट करना चाहिए था कि मृतका की मृत्यु कैसे हुई । अभियुक्त के पास कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं था कि मीना देवी का शव पेड़ से लटकते हुए क्यों पाया गया था । जैसा कि **काशीराम** (उपरोक्त) वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया है, यह स्पष्ट करने का भार अभियुक्त पर है कि मृतका के साथ क्या घटित हुआ था । यदि अभियुक्त उस तथ्य को स्पष्ट नहीं करता है, जो उसकी जानकारी में है, तो कोई स्पष्टीकरण देने में उसकी असफलता उसके विरुद्ध एक मजबूत प्रतिकूल परिस्थिति होगी ।

17. जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अभियुक्त से पूछे गए प्रश्न में उसने अपराध में आलिप्त करने वाली परिस्थिति के साक्ष्य से मात्र इनकार किया और यह अभिवाक् किया कि वह निर्दोष है । प्रतिरक्षा पक्ष द्वारा यह सुझाव देने के लिए यह कमजोर प्रयास किया गया कि मृतका ने विष खा लिया था और आत्महत्या की थी । मृतका मीना देवी का विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला, तुंगंद भेजा गया था । न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला की रिपोर्ट के अनुसार मृतका के विसरा में कोई विष नहीं पाया गया था । हमारे सुविचारित मत में, विचारण न्यायालय ने प्रतिरक्षा पक्ष द्वारा सुझाए गए अभिवाक् को ठीक ही नामंजूर किया है ।

18. जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, इस न्यायालय ने अनेक निर्णयों में यह अभिनिर्धारित किया है कि जब दोषसिद्धि पारिस्थितिक साक्ष्य पर आधारित हो, तो परिस्थितियों की शृंखला में कोई दरार नहीं रहनी

चाहिए और अभियुक्त संदेह के फायदे का हकदार होता है । प्रस्तुत मामले में, अभियोजन पक्ष ने निश्चयात्मक और विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा इन परिस्थितियों को सिद्ध किया है – (i) हेतु (अभि. सा. 15 का साक्ष्य) ; (ii) अभियुक्त ने मृतका की पिटाई की थी और कहीं ले गया था (अभि. सा. 1 का साक्ष्य) ; (iii) मीना देवी की मृत्यु मानव वध है (अभि. सा. 24 का साक्ष्य) ; (iv) मृतका मीना देवी की गुमशुदगी के बारे में पुलिस को रिपोर्ट न करने में अभियुक्त का आचरण ; और (v) मृतका की मृत्यु के बारे में अभियुक्त के स्पष्टीकरण का अभाव । अभियोजन पक्ष द्वारा अवलंब ली गई परिस्थितियां निश्चयात्मक और विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा साबित की गई हैं । परिस्थितियों पर संचयी रूप से विचार करने पर एक पूर्ण शृंखला बनती है, जिससे इंगित होता है कि हत्या अभियुक्त द्वारा कारित की गई थी, किसी अन्य द्वारा नहीं ।

19. अपील में, उच्च न्यायालय ने साक्ष्य, अभियोजन साक्षियों के परिसाक्ष्य के अंतर्निहित महत्व और अभियोजन पक्ष द्वारा सिद्ध की गई प्रबल परिस्थितियों का उचित रूप से मूल्यांकन नहीं किया है । उच्च न्यायालय ने काल्पनिक संदेहों को ग्रहण किया है और जीवन लाल (अभि. सा. 1) के विश्वसनीय साक्ष्य को कमजोर आधारों पर नामंजूर किया है । उच्च न्यायालय ने साक्ष्य का गलत मूल्यांकन करने के कारण दोषसिद्धि को अपास्त किया और न्याय की हानि की है । अभियुक्त को दोषमुक्त करने के लिए उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए तर्काधार असंधार्य है और आक्षेपित निर्णय को संधार्य नहीं रखा जा सकता है ।

20. परिणामतः, आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है और यह अपील मंजूर की जाती है । विचारण न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थी की भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन की गई दोषसिद्धि और उस पर अधिरोपित आजीवन कारावास के दंडादेश की अभिपुष्टि की जाती है । प्रत्यर्थी को शेष कारावास भुगतने के लिए अभिरक्षा में लिया जाएगा ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

[2018] 3 उम. नि. प. 117

अतुल ठाकुर

बनाम

हिमाचल प्रदेश राज्य आदि आदि

19 जनवरी, 2018

मुख्य न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा, न्यायमूर्ति ए. एम. खानविलकर और न्यायमूर्ति डी. वाई. चंद्रचूड़

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 300/304 भाग 2 – आपराधिक मानव वध मृत्यु – अभियुक्त द्वारा मृतक पर चाकू से हमला करके गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त किया जाना – मृत्यु – साक्ष्य से यह साबित होने पर कि घटना मृतक की प्रेरणा पर आयोजित शराब पार्टी में एकत्रित हुए मित्रों के बीच अचानक हुई लड़ाई में, किसी पूर्वचिंतन के बिना घटित होने और अभियुक्त-अपीलार्थी द्वारा आवेश की तीव्रता में, कोई असम्यक् फायदा उठाए बिना या क्रूर रीति में कार्य किए बिना और मृत्यु कारित करने के किसी आशय के बिना कृत्य किए जाने की बात पर विचार करते हुए धारा 300 के अपवाद 4 का अवलंब लेना और धारा 304 भाग 2 के अधीन दोषसिद्ध करते हुए पांच वर्ष के दंडादेश के स्थान पर दस वर्ष का दंडादेश देना उचित होगा ।

अपील के तथ्यों के अनुसार, घटना की तारीख की रात्रि के दौरान इस मामले में मृतक की प्रेरणा पर एक शराब पार्टी का आयोजन किया गया था, जिसमें अपीलार्थी और अन्य सह-अभियुक्त सम्मिलित हुए थे जिनकी आपस में मित्रता थी । इस पार्टी के दौरान अपीलार्थी और मृतक के बीच सिगरेट का धुंआ मुंह पर छोड़ने को लेकर झगड़ा हो गया तथा दोनों के बीच हुई हाथापाई में अपीलार्थी ने मृतक पर चाकू से कई वार किए, जिनके परिणामस्वरूप वह गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त हो गया । अपीलार्थी और अन्य अभियुक्त मृतक को अस्पताल लेकर आए । पुलिस थाने में दूरभाष पर इसकी सूचना दी गई और अपीलार्थी द्वारा मृतक के पिता को भी दूरभाष पर इस बारे में सूचना दी गई और उसे अस्पताल पहुंचने के लिए कहा । अस्पताल में क्षतिग्रस्त की उसे पहुंची क्षतियों के कारण मृत्यु हो गई । पुलिस द्वारा अस्पताल में मृतक के पिता का दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 154 के अधीन कथन अभिलिखित किया । उसने अपने कथन में यह प्रकट किया कि उसके दो बालक हैं । उसकी पुत्री

पूजा कम्प्यूटर का कोर्स कर रही है और उसका छोटा पुत्र हितेश ठाकुर, आयु 22 वर्ष भी लाखर बाजार से कम्प्यूटर कोर्स कर रहा था । उसने यह कथन किया कि हितेश तारीख 27 जुलाई, 2011 को भोजन करने के पश्चात् घर से अपनी मोटरसाइकिल पर कम्प्यूटर कोर्स करने के लिए गया था । उसने अपनी बहिन पूजा को उसके मोबाइल पर यह सूचित किया था कि वह अपने मित्र अखिलेश के साथ जा रहा है और रात्रि में वापस नहीं आएगा । तारीख 28 जुलाई, 2011 को लगभग 3.00 बजे अपराह्न में अतुल ठाकुर (इस अपील में अपीलार्थी) ने दूरभाष पर उसे सूचित किया कि उसके पुत्र हितेश को इन्दिरा गांधी आयुर्विज्ञान महाविद्यालय अस्पताल, शिमला में लाया गया है क्योंकि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है और उसे अस्पताल आने के लिए कहा । वह दूरभाष पर प्राप्त सूचना के पश्चात् अस्पताल गया और यह पाया कि उसका पुत्र घायल अवस्था में मृत पड़ा हुआ था । उस समय अपीलार्थी भी वहां पर मौजूद था । कथन अभिलिखित करने के पश्चात् अन्वेषण का कार्य अग्रसर किया गया और चार अभियुक्तों को कथित अपराध के विचारण के लिए भेजा गया । विचारण न्यायालय ने साक्ष्य का विश्लेषण करने के पश्चात् अन्य तीन अभियुक्तों को दोषमुक्त कर दिया किंतु अपीलार्थी को धारा 304, भाग 2 के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी पाया और उसे पांच वर्ष के कठोर कारावास और 10,000/- रूपए के जुर्माने का संदाय करने तथा जुर्माने का संदाय करने में व्यतिक्रम करने पर एक वर्ष का अतिरिक्त कारावास भोगने का दंडादेश दिया । अपीलार्थी ने उक्त विनिश्चय के विरुद्ध उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । शिकायतकर्ता ने भी तीन अभियुक्तों की दोषमुक्ति के विरुद्ध तथा अपीलार्थी के दंडादेश में वृद्धि करने के लिए उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी की अपराध में अंतर्ग्रस्तता से संबंधित तथ्य के निष्कर्ष को कायम रखा । तथापि, उच्च न्यायालय ने अपराध की प्रकृति के संबंध में विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष को उलट दिया । उसने यह निष्कर्ष निकाला कि मामले के संपूर्ण परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए अपीलार्थी हितेश ठाकुर की हत्या करने के लिए भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी है, न कि धारा 304 भाग 2 के अधीन । साथ ही साथ, उच्च न्यायालय ने उन अन्य अभियुक्तों के पक्ष में किए गए दोषमुक्ति के आदेश की अभिपुष्टि की । मूल अभियुक्त सं. 1/अपीलार्थी द्वारा उच्च न्यायालय के पूर्वोल्लिखित विनिश्चय को चुनौती देते हुए और राज्य द्वारा दंडादेश में वृद्धि करने के लिए उच्चतम न्यायालय में अपीलें फाइल की गईं । उच्चतम न्यायालय

द्वारा अपीलों का निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – विचारण न्यायालय ने अपराध कारित करने में अपीलार्थी की सहापराधिता के बारे में निष्कर्ष अभिलिखित करने के लिए साक्ष्य का न्यायसंगत रूप से विश्लेषण किया है । उच्च न्यायालय द्वारा सुसंगत साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करने के पश्चात् इसकी अभिपुष्टि की गई है । यह न्यायालय दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अपनाए गए ऐसे दृष्टिकोण से सहमत है । दूसरे शब्दों में, यह न्यायालय निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित किए गए इस समवर्ती निष्कर्ष को कायम रखता है कि अपीलार्थी ने तारीख 29 जुलाई, 2011 की रात्रि में अपने मित्रों (अभि. सा. 11 और अभि. सा. 12 सहित) की मौजूदगी में, जो मुकेश ठाकुर के घर पर हितेश ठाकुर की प्रेरणा पर आयोजित एक शराब पार्टी करने के लिए एकत्रित हुए थे, मृतक हितेश ठाकुर पर चाकू से आक्रमण करके उसे छह क्षतियां कारित की थीं । इसके अतिरिक्त, हितेश ठाकुर की अपीलार्थी द्वारा कारित की गई क्षतियों के कारण मृत्यु हो गई थी । इस प्रकार, यह एक मानव वध मृत्यु का मामला है । विशेष रूप से, अभिलेख पर के साक्ष्य से स्पष्ट रूप से यह सिद्ध होता है कि अपीलार्थी और हितेश ठाकुर के बीच अचानक लड़ाई हुई और अपीलार्थी ने आवेदन की तीव्रता में हितेश ठाकुर पर हमला किया तथा उसे गंभीर शारीरिक क्षतियां कारित कीं । लेशमात्र भी ऐसा साक्ष्य नहीं है और यहां तक कि दूर-दूर तक भी ऐसा सुझाव नहीं दिया गया है कि अपीलार्थी ने हितेश ठाकुर पर हमला उसकी मृत्यु कारित करने के आशय से किया था । यद्यपि उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी को दोषी तो पाया, तो भी यह अभिनिर्धारित नहीं किया कि अपीलार्थी द्वारा कारित की गई शारीरिक क्षतियां हितेश ठाकुर की मृत्यु कारित करने के आशय से कारित की गई थीं । उच्च न्यायालय ने अपराध की प्रकृति के संबंध में विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित किए गए निष्कर्ष को मुख्य रूप से इस आधार पर उलट दिया कि अपीलार्थी ने हितेश ठाकुर पर चाकू से बारम्बार प्रहार किए थे और हितेश ठाकुर अपनी रक्षा नहीं कर सका था क्योंकि वह निहत्था था । इस प्रकार, अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी पाया । दूसरे शब्दों में, इन अपीलों में संविवाद अपराध की प्रकृति और इस निमित्त दिए जाने वाले दंडादेश तक सीमित है । जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, अभिलेख पर यह साक्ष्य है कि अपीलार्थी ने दुर्भाग्यपूर्ण रात्रि में हितेश ठाकुर पर चाकू से छह प्रहार किए थे और उनकी वजह से उसकी मृत्यु हो गई थी और

दोनों निचले न्यायालयों द्वारा ऐसा ही अभिनिर्धारित किया गया है तथा यह न्यायालय इस निष्कर्ष से पूर्णतः सहमत है । इस प्रकार, यह एक मानव वध का मामला है । तथापि, ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है कि अपीलार्थी द्वारा पहुंचाई गई क्षतियां हितेश ठाकुर की हत्या करने के आशय से पहुंचाई गई थीं । दूसरी ओर, साक्ष्य से स्पष्ट रूप से यह सिद्ध होता है कि अपीलार्थी ने हितेश कुमार पर हमला किसी पूर्वचिंतन के बिना किया था । संपूर्ण घटना अचानक घटी थी और आवेश की तीव्रता में अचानक झगड़ा आंरभ हुआ था, क्योंकि हितेश ठाकुर ने धूम्रपान करते समय अपीलार्थी के मुंह पर धुंआ छोड़ दिया था । इस कारण अपीलार्थी क्रोधित हो गया था । उसने उससे यह कहा कि वह उससे आयु में बड़ा है और इसलिए उसकी ओर धुंआ छोड़ना तो दूर, उसे उसकी मौजूदगी में धूम्रपान ही नहीं करना चाहिए । इसके पश्चात्, उनके बीच अचानक हाथापाई होने लगी, जिसमें अपीलार्थी ने आवेश की तीव्रता में हितेश ठाकुर पर उसके शरीर के विभिन्न भागों पर चाकू से छह प्रहार किए । अभि. सा. 11 और अभि. सा. 12 (प्रत्यक्षदर्शी साक्षी) के साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि मृतक हितेश ठाकुर सहित अपीलार्थी और अन्य व्यक्ति हितेश ठाकुर की प्रेरणा पर आयोजित एक शराब पार्टी के लिए घटनास्थल पर एकत्रित हुए थे । जब घटना घटी थी तब उन्होंने शराब पी हुई थी । हितेश ठाकुर पर चाकू से हमला करने के तुरंत पश्चात् जब अपीलार्थी ने यह महसूस किया कि हितेश बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो गया है, तो उसने उसे पानी दिया और उसे अपने अन्य मित्रों के साथ अस्पताल लेकर गया । हितेश ठाकुर की क्षतियों के कारण मृत्यु होने तक वह अस्पताल में रहा । उसने हितेश के पिता को भी दूरभाष पर सूचित किया था और उसे अस्पताल बुलाया था । इसके अतिरिक्त, जब हितेश को अस्पताल लाया गया था, तब डाक्टरों ने उसका तुरंत उपचार नहीं किया अपितु उसके पिता को बुलाने की बात पर अड़े रहे । यह निष्कर्ष अभि. सा. 11 और अभि. सा. 12 के साक्ष्य से निकाला जा सकता है, जो कि प्रत्यक्षदर्शी साक्षी थे और हितेश ठाकुर की अंत्येष्टि होने तक सारे समय वहां मौजूद भी थे । यथा प्रकटित घटनाओं पर विचार करने के पश्चात् कोई संदेह नहीं रह जाता है कि अपीलार्थी का हितेश ठाकुर की हत्या करने का कोई आशय नहीं था । घटना किसी पूर्वचिंतन के बिना हितेश ठाकुर और अपीलार्थी के बीच अचानक हुई लड़ाई में घटित हुई थी और अपीलार्थी ने आवेश की तीव्रता में हितेश ठाकुर पर चाकू से छह प्रहार किए थे । इसके विपरीत, अपनी गलती महसूस करने के पश्चात् उसने तुरंत हितेश ठाकुर को पानी दिया था और उसे अस्पताल भी लेकर गया था

तथा उसकी अंत्येष्टि होने तक वहीं रुका रहा था । मृतक हितेश ठाकुर के पिता, अभि. सा. 2 ने भी इस स्थिति की संपुष्टि की है कि अपीलार्थी ने यह सूचित करने के लिए उससे संपर्क किया था कि हितेश को गंभीर हालत में अस्पताल लाया गया है । मामले पर समग्र रूप से विचार करने के पश्चात्, इस मामले के तथ्यों में भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवाद 4 का अवलंब लेना अपेक्षित है । चूंकि, यह हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध का मामला है क्योंकि घटना हितेश ठाकुर की प्रेरणा पर आयोजित शराब पार्टी में एकत्रित हुए मित्रों के बीच अचानक हुई लड़ाई में घटित हुई थी । कोई पूर्वचिंतन नहीं था और अपीलार्थी द्वारा किया गया यह कृत्य आवेश की तीव्रता में, अपीलार्थी द्वारा कोई असम्यक् फायदा उठाए बिना या क्रूर रीति में कार्य किए बिना किया गया था । यह एक सुस्थिर स्थिति है कि अपीलार्थी द्वारा कारित किए गए घावों की संख्या स्वतः एक निश्चायक पहलू नहीं हो सकता है । उच्च न्यायालय ने उक्त तथ्य से प्रभावित होकर स्पष्ट गलती की है । सुसंगत बात यह है कि घटना अचानक घटी थी और पूर्वचिंतन नहीं था तथा अपराधी ने आवेश की तीव्रता में कार्य किया था । इस बाबत अपीलार्थी के पक्षकथन का साक्ष्य से समर्थन होता है । यह तथ्य कि अपीलार्थी ने चाकू जैसे आयुध का प्रयोग किया था, भारतीय दंड संहिता की धारा 302 को लागू करने के लिए एक निश्चायक पहलू नहीं है । अपीलार्थी को न तो अपराध कारित करने में चाकू का प्रयोग करने से और न ही अपीलार्थी द्वारा पहुंचाई गई बहु क्षतियों के तथ्य से अपवाद 4 के फायदे से इनकार किया जाएगा । विचारण न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए केवल पांच वर्ष के कठोर कारावास और दस हजार रूपए के जुर्माने तथा जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर एक वर्ष की अवधि का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने का दंडादेश दिया था । इसके लिए विचारण द्वारा कोई विशेष कारण अभिलिखित नहीं किया गया है । अपराध की प्रकृति और उस तुच्छ कारण पर विचार करते हुए जिससे अपीलार्थी क्रोधित हुआ और हितेश ठाकुर पर हमला किया और वह भी चाकू से तथा बहु प्रहार किए, हल्का दंड देना अपेक्षित नहीं है । तथापि, यह न्यायालय प्रत्यर्थियों के इस तर्क को स्वीकार करता है कि वर्तमान मामले की तथ्यात्मक स्थिति में दंडादेश की अवधि जुर्माने सहित दस वर्ष के कारावास से कम नहीं होनी चाहिए । इससे न्याय की पूर्ति हो जाएगी । (पैरा 7, 8, 9, 10, 11, 12 और 15)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[2017] (2017) 5 एस. सी. सी. 796 :
सुरैन सिंह बनाम पंजाब राज्य । 13

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2016 की दांडिक अपील सं. 522-523.

2015 की दांडिक अपील सं. 75 और 227 में हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, शिमला के तारीख 1 अप्रैल, 2016 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 134 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री आदित्य धवन, (सुश्री) किरन धवन और चंद्र शेखर आशरी

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री डी. के. ठाकुर, अपर महाधिवक्ता, शरीक अहमद, (सुश्री) तयबा खान और अजय मरवाह

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति ए. एम. खानविलकर ने दिया ।

न्या. खानविलकर – ये अपीलें 2015 की दांडिक अपील सं. 75 और 227 में हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, शिमला द्वारा तारीख 1 अप्रैल, 2016 को सेशन न्यायाधीश (वन), शिमला द्वारा 2012 के सेशन विचारण सं. 39-एस/7 में अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध और उसे जुर्माने सहित आजीवन कारावास का दंडादेश देते हुए तारीख 31 दिसंबर, 2014 को पारित उसकी दोषसिद्धि और दंडादेश के आदेश को उपांतरित करते हुए पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई हैं ।

2. संक्षेप में, सेशन न्यायाधीश (वन), शिमला द्वारा अपीलार्थी का तीन अन्य व्यक्तियों के साथ भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 और 201 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए विचारण किया गया था । अभियोजन का पक्षकथन यह है कि पुलिस थाना, पश्चिम शिमला में तारीख 28 जुलाई, 2011 को लगभग 4.45 बजे पूर्वाह्न में एक टेलीफोन संदेश प्राप्त हुआ जिसमें यह सूचना दी गई कि टन्नल 103 के निकट एक झगड़ा हुआ था, जहां से हन्नी नामक व्यक्ति को इन्दिरा गांधी आयुर्विज्ञान महाविद्यालय अस्पताल, शिमला में गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त

हालत में लाया गया है । थाना अधिकारी, शकुंतला शर्मा को अस्पताल पहुंचने पर यह सूचित किया गया कि क्षतिग्रस्त की मृत्यु हो गई है । इसके पश्चात् उसने राजिन्द्र सिंह का दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 154 के अधीन कथन अभिलिखित किया । राजिन्द्र सिंह ने अपने कथन में यह प्रकट किया कि उसके दो बालक हैं । उसकी पुत्री पूजा कम्प्यूटर का कोर्स कर रही है और उसका छोटा पुत्र हितेश ठाकुर, आयु 22 वर्ष भी लाखर बाजार से कम्प्यूटर कोर्स कर रहा था । उसने यह कथन किया कि हितेश तारीख 27 जुलाई, 2011 को भोजन करने के पश्चात् घर से अपनी मोटरसाइकिल पर, जिसका पंजीकरण सं. एचपी 63 3235 है, कम्प्यूटर कोर्स करने के लिए गया था । उसने अपनी बहिन पूजा को उसके मोबाइल पर यह सूचित किया था कि वह अपने मित्र अखिलेश के साथ जा रहा है और रात्रि में वापस नहीं आएगा । उसने अपनी बहिन से अनुरोध किया था कि माता को इस बारे में सूचित कर देना । तारीख 28 जुलाई, 2011 को लगभग 3.00 बजे अपराह्न में अतुल ठाकुर (इस अपील में अपीलार्थी) ने दूरभाष पर उसे सूचित किया कि उसके पुत्र हितेश को इन्दिरा गांधी आयुर्विज्ञान महाविद्यालय अस्पताल, शिमला में लाया गया है क्योंकि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है और उसे अस्पताल आने के लिए कहा । वह दूरभाष पर प्राप्त सूचना के पश्चात् अस्पताल गया और यह पाया कि उसका पुत्र घायल अवस्था में मृत पड़ा हुआ था । उस समय अपीलार्थी भी वहां पर मौजूद था ।

3. कथन अभिलिखित करने के पश्चात् अन्वेषण का कार्य अग्रसर किया गया और चार अभियुक्तों को कथित अपराध के विचारण के लिए भेजा गया, जो मुकेश ठाकुर (अभियुक्त सं. 2) के मकान पर गए थे जहां तारीख 27 जुलाई 2011 और 28 जुलाई, 2011 की रात्रि के दौरान एक शराब पार्टी की व्यवस्था की गई थी । विचारण न्यायालय ने साक्ष्य का विश्लेषण करने के पश्चात् तारीख 31 दिसंबर, 2014 के निर्णय द्वारा अन्य तीन अभियुक्तों को दोषमुक्त कर दिया किंतु अपीलार्थी को धारा 304, भाग 2 के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी पाया और उसे पांच वर्ष के कठोर कारावास और 10,000/- रूपए के जुर्माने का संदाय करने तथा जुर्माने का संदाय करने में व्यतिक्रम करने पर एक वर्ष का अतिरिक्त कारावास भोगने का दंडादेश दिया ।

4. अपीलार्थी ने उक्त विनिश्चय के विरुद्ध उच्च न्यायालय के समक्ष अपील (2015 की दांडिक अपील सं. 75) फाइल की । शिकायतकर्ता ने भी तीन अभियुक्तों की दोषमुक्ति के विरुद्ध तथा अपीलार्थी के दंडादेश में वृद्धि करने के लिए उच्च न्यायालय के समक्ष अपील (2015 की दांडिक

अपील सं. 227) फाइल की । दोनों अपीलों का तारीख 1 अप्रैल, 2016 के सामान्य निर्णय द्वारा निपटारा किया गया । उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी की अपराध में अंतर्ग्रस्तता से संबंधित तथ्य के निष्कर्ष को कायम रखा । तथापि, उच्च न्यायालय ने अपराध की प्रकृति के संबंध में विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष को उलट दिया । उसने यह निष्कर्ष निकाला कि मामले के संपूर्ण परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए अपीलार्थी हितेश ठाकुर की हत्या करने के लिए भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी है, न कि, जैसा कि विचारण न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है, धारा 304 भाग 2 के अधीन । साथ ही साथ, उच्च न्यायालय ने उन अन्य अभियुक्तों के पक्ष में किए गए दोषमुक्ति के आदेश की अभिपुष्टि की, जिनका अपीलार्थी के साथ विचारण किया गया था । वर्तमान अपील में, उच्च न्यायालय के पूर्वोल्लिखित विनिश्चय को केवल मूल अभियुक्त सं. 1 द्वारा चुनौती दी गई है ।

5. अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री आदित्य धवन ने इस न्यायालय को इस बात के लिए मनाने का जोरदार प्रयास किया कि प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के साक्ष्य में स्पष्ट विरोधाभास है और इसका फायदा अपीलार्थी को मिलना चाहिए । विद्वान् काउंसेल के अनुसार, अपीलार्थी दोषमुक्त किए जाने योग्य है, जैसा कि सह-अभियुक्तों के मामले में किया गया है, क्योंकि अपराध की उत्पत्ति संदेहास्पद है । इसके अतिरिक्त, अपराध कारित करने में अपीलार्थी की अंतर्ग्रस्तता की बात युक्तियुक्त संदेह के परे साबित नहीं की गई है । विद्वान् काउंसेल ने हमारा ध्यान अभियोजन साक्षियों के साक्ष्य के साथ-साथ प्रतिरक्षा साक्षी (प्रति. सा. 1) के साक्ष्य की ओर भी दिलाया, जिसकी अपीलार्थी की प्रेरणा पर परीक्षा की गई थी । उन्होंने यह दलील दी कि किसी भी दशा में, अभियोजन पक्ष द्वारा सिद्ध की गई तथ्यात्मक स्थिति, यदि उसे वैसी ही मान लिया जाए, के आधार पर हितेश ठाकुर की हत्या का अपराध कारित करने का निष्कर्ष नहीं निकलता है । अधिक से अधिक, यह हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध का मामला है, जो भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अधीन अपवाद के अंतर्गत आता है और इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 304 के द्वितीय भाग के अधीन दंडनीय है । विचारण न्यायालय ने इस अपराध को न्यायसंगत रूप से उद्धृत किया था और अपीलार्थी को पांच वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया था, जो अपीलार्थी ने पहले ही भुगत लिया है । अतः, विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया कि यह अपील मंजूर की जाए और सेशन न्यायालय के आदेश को पुनः प्रवर्तित

करते हुए तथा उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय और आदेश को अपास्त करते हुए अपीलार्थी को रिहा किया जाए । उन्होंने यह निवेदन किया कि अपीलार्थी ने तारीख 24 नवम्बर, 2017 तक पहले ही 7 वर्ष 3 माह 24 दिन की अवधि का कारावास भुगत लिया है जिसमें एक वर्ष 2 माह और 6 दिन की परिहार की अवधि भी सम्मिलित है ।

6. तथापि, प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् काउंसेल ने इस अपीलों का विरोध किया । प्रत्यर्थियों के अनुसार, दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित किया गया दोषिता का निष्कर्ष अभिलेख पर के साक्ष्य द्वारा समर्थित है, जिससे अपीलार्थी की अपराध कारित करने में अंतर्ग्रस्तता को संदेह के परे सिद्ध किया गया है । विचारण न्यायालय द्वारा जो दोषिता का निष्कर्ष अभिलिखित किया गया और जिसकी उच्च न्यायालय द्वारा अभिपुष्टि की गई है, उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार, उच्च न्यायालय द्वारा विचारण न्यायालय की राय को उलटते हुए अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध करने के लिए अभिलिखित किया गया निष्कर्ष भी अनाक्षेपणीय है । उच्च न्यायालय ने उचित ही यह उल्लेख किया है कि यह हितेश ठाकुर की हत्या का मामला है, जो भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय है न कि धारा 304 भाग 2 के अधीन और इस मामले में अपीलार्थी को आजीवन कारावास का दंडादेश भुगतना होगा । प्रत्यर्थियों ने यह निवेदन किया कि ये अपीलें गुणागुण रहित हैं और खारिज की जानी चाहिए ।

7. हमने अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत किए गए मौखिक साक्ष्य, विशिष्ट रूप से अभि. सा. 11 और अभि. सा. 12 के साक्ष्य, पर सावधानीपूर्वक विचार किया है जो उस घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी हैं, जिसके दौरान अपीलार्थी द्वारा चाकू से हितेश ठाकुर पर हमला किया गया था और उसे गंभीर शारीरिक क्षतियां पहुंची थीं तथा अन्ततः उनके कारण उसकी मृत्यु हो गई थी । उक्त मौखिक साक्ष्य के अतिरिक्त, अन्य परिस्थितियां भी अपराध के कारित करने में अपीलार्थी की सहापराधिता की ओर इंगित करती हैं, जैसे कि उसके बताने पर चाकू की बरामदगी होना और मृतक को पहुंची क्षतियों की प्रकृति अपीलार्थी द्वारा उसी चाकू से किए गए हमला के कारण पहुंची माना जा सकता है । हमारा यह निष्कर्ष है कि विचारण न्यायालय ने अपराध कारित करने में अपीलार्थी की सहापराधिता के बारे में निष्कर्ष अभिलिखित करने के लिए साक्ष्य का न्यायसंगत रूप से विश्लेषण किया है । उच्च न्यायालय द्वारा सुसंगत साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन

करने के पश्चात् इसकी अभिपुष्टि की गई है । हम दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अपनाए गए ऐसे दृष्टिकोण से सहमत हैं । दूसरे शब्दों में, हम निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित किए गए इस समवर्ती निष्कर्ष को कायम रखते हैं कि अपीलार्थी ने तारीख 29 जुलाई, 2011 की रात्रि में अपने मित्रों (अभि. सा. 11 और अभि. सा. 12 सहित) की मौजूदगी में, जो मुकेश ठाकुर के घर पर हितेश ठाकुर के कहने पर आयोजित एक शराब पार्टी करने के लिए एकत्रित हुए थे, मृतक हितेश ठाकुर पर चाकू से आक्रमण करके उसे छह क्षतियां कारित की थीं । इसके अतिरिक्त, हितेश ठाकुर की अपीलार्थी द्वारा कारित की गई क्षतियों के कारण मृत्यु हो गई थी । इस प्रकार, यह एक मानव वध मृत्यु का मामला है ।

8. विशेष रूप से, अभिलेख पर के साक्ष्य से स्पष्ट रूप से यह सिद्ध होता है कि अपीलार्थी और हितेश ठाकुर के बीच अचानक लड़ाई हुई और अपीलार्थी ने आवेदन की तीव्रता में हितेश ठाकुर पर हमला किया तथा उसे गंभीर शारीरिक क्षतियां कारित कीं । लेशमात्र भी ऐसा साक्ष्य नहीं है और यहां तक कि दूर-दूर तक भी ऐसा सुझाव नहीं दिया गया है कि अपीलार्थी ने हितेश ठाकुर पर हमला उसकी मृत्यु कारित करने के आशय से किया था । यद्यपि उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी को दोषी तो पाया, तो भी यह अभिनिर्धारित नहीं किया कि अपीलार्थी द्वारा कारित की गई शारीरिक क्षतियां हितेश ठाकुर की मृत्यु कारित करने के आशय से कारित की गई थीं । उच्च न्यायालय ने अपराध की प्रकृति के संबंध में विचारण द्वारा अभिलिखित किए गए निष्कर्ष को मुख्य रूप से इस आधार पर उलट दिया कि अपीलार्थी ने हितेश ठाकुर पर चाकू से बारम्बार प्रहार किए थे और हितेश ठाकुर अपनी रक्षा नहीं कर सका था क्योंकि वह निहत्था था । इस प्रकार, अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी पाया ।

9. दूसरे शब्दों में, इन अपीलों में संविवाद अपराध की प्रकृति और इस निमित्त दिए जाने वाले दंडादेश तक सीमित है । जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, अभिलेख पर यह साक्ष्य है कि अपीलार्थी ने दुर्भाग्यपूर्ण रात्रि में हितेश ठाकुर पर चाकू से छह प्रहार किए थे और उनकी वजह से उसकी मृत्यु हो गई थी और दोनों निचले न्यायालयों द्वारा ऐसा ही अभिनिर्धारित किया गया है तथा हम इस निष्कर्ष से पूर्णतः सहमत हैं । इस प्रकार, यह एक मानव वध का मामला है । तथापि, ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है कि अपीलार्थी द्वारा पहुंचाई गई क्षतियां हितेश ठाकुर की हत्या करने के आशय से पहुंचाई गई थीं । दूसरी ओर, साक्ष्य से स्पष्ट रूप से यह सिद्ध

होता है कि अपीलार्थी ने हितेश कुमार पर हमला किसी पूर्वचिंतन के बिना किया था । संपूर्ण घटना अचानक घटी थी और आवेश की तीव्रता में अचानक झगड़ा आंरभ हुआ था, क्योंकि हितेश ठाकुर ने धूम्रपान करते समय अपीलार्थी के मुंह पर धुंआ छोड़ दिया था । इस कारण अपीलार्थी क्रोधित हो गया था । उसने उससे यह कहा कि वह उससे आयु में बड़ा है और इसलिए उसकी ओर धुंआ छोड़ना तो दूर, उसे उसकी मौजूदगी में धूम्रपान ही नहीं करना चाहिए । इसके पश्चात्, उनके बीच अचानक हाथापाई होने लगी, जिसमें अपीलार्थी ने आवेश की तीव्रता में हितेश ठाकुर पर उसके शरीर के विभिन्न भागों पर चाकू से छह प्रहार किए ।

10. अभि. सा. 11 और अभि. सा. 12 (प्रत्यक्षदर्शी साक्षी) के साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि मृतक हितेश ठाकुर सहित अपीलार्थी और अन्य व्यक्ति हितेश ठाकुर की प्रेरणा पर आयोजित एक शराब पार्टी के लिए घटनास्थल पर एकत्रित हुए थे । जब घटना घटी थी तब उन्होंने शराब पी हुई थी । हितेश ठाकुर पर चाकू से हमला करने के तुरंत पश्चात् जब अपीलार्थी ने यह महसूस किया कि हितेश बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो गया है, तो उसने उसे पानी दिया और उसे अपने अन्य मित्रों के साथ अस्पताल लेकर गया । हितेश ठाकुर की क्षतियों के कारण मृत्यु होने तक वह अस्पताल में रहा । उसने हितेश के पिता को भी दूरभाष पर सूचित किया था और उसे अस्पताल बुलाया था । इसके अतिरिक्त, जब हितेश को अस्पताल लाया गया था, तब डाक्टरों ने उसका तुरंत उपचार नहीं किया अपितु उसके पिता को बुलाने की बात पर अड़े रहे । यह निष्कर्ष अभि. सा. 11 और अभि. सा. 12 के साक्ष्य से निकाला जा सकता है, जो कि प्रत्यक्षदर्शी साक्षी थे और हितेश ठाकुर की अंत्येष्टि होने तक सारे समय वहां मौजूद भी थे ।

11. यथा प्रकटित घटनाओं पर विचार करने के पश्चात् कोई संदेह नहीं रह जाता है कि अपीलार्थी का हितेश ठाकुर की हत्या करने का कोई आशय नहीं था । घटना किसी पूर्वचिंतन के बिना हितेश ठाकुर और अपीलार्थी के बीच अचानक हुई लड़ाई में घटित हुई थी और अपीलार्थी ने आवेश की तीव्रता में हितेश ठाकुर पर चाकू से छह प्रहार किए थे । इसके विपरीत, अपनी गलती महसूस करने के पश्चात् उसने तुरंत हितेश ठाकुर को पानी दिया था और उसे अस्पताल भी लेकर गया था तथा उसकी अंत्येष्टि होने तक वहीं रुका रहा था । मृतक हितेश ठाकुर के पिता, अभि. सा. 2 ने भी इस स्थिति की संपुष्टि की है कि अपीलार्थी ने यह सूचित करने के लिए उससे संपर्क किया था कि हितेश को गंभीर हालत में

अस्पताल लाया गया है ।

12. मामले पर समग्र रूप से विचार करने के पश्चात्, इस मामले के तथ्यों में भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवाद 4 का अवलंब लेना अपेक्षित है । चूंकि, यह हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध का मामला है क्योंकि घटना हितेश ठाकुर की प्रेरणा पर आयोजित शराब पार्टी में एकत्रित हुए मित्रों के बीच अचानक हुई लड़ाई में घटित हुई थी । कोई पूर्वचिंतन नहीं था और अपीलार्थी द्वारा किया गया यह कृत्य आवेश की तीव्रता में, अपीलार्थी द्वारा कोई असम्यक् फायदा उठाए बिना या क्रूर रीति में कार्य किए बिना किया गया था । यह एक सुस्थिर स्थिति है कि अपीलार्थी द्वारा कारित किए गए घावों की संख्या स्वतः एक निश्चायक पहलू नहीं हो सकता है । उच्च न्यायालय ने उक्त तथ्य से प्रभावित होकर स्पष्ट गलती की है । सुसंगत बात यह है कि घटना अचानक घटी थी और पूर्वचिंतन नहीं था तथा अपराधी ने आवेश की तीव्रता में कार्य किया था । इस बाबत अपीलार्थी के पक्षकथन का साक्ष्य से समर्थन होता है । यह तथ्य कि अपीलार्थी ने चाकू जैसे आयुध का प्रयोग किया था, भारतीय दंड संहिता की धारा 302 को लागू करने के लिए एक निश्चायक पहलू नहीं है । अपीलार्थी को न तो अपराध कारित करने में चाकू का प्रयोग करने से और न ही अपीलार्थी द्वारा पहुंचाई गई बहु क्षतियों के तथ्य से अपवाद 4 के फायदे से इनकार किया जाएगा ।

13. **सुरैन सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में कुछ इसी कारण की स्थिति पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवाद 4 के तात्पर्य के बारे में स्थिर विधिक स्थिति का पुनः उल्लेख किया है । उस मामले में भी, अभियुक्त ने कृपाण से मृतक पर बारम्बार हमला किया था और क्षतियां कारित की थीं जिनके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई थी । न्यायालय ने विधिक स्थिति का पुनः उल्लेख करते हुए अपराध को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के बजाय धारा 304 भाग 2 के अधीन परिवर्तित कर दिया था । इसी विधिक सिद्धांत का अनुसरण करते हुए और यथा प्रकटित तथ्यात्मक स्थिति को ध्यान में रखते हुए, अपीलार्थी को धारा 304 भाग 2 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्ध करते हुए विचारण न्यायालय द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण अनाक्षेपणीय है । विचारण न्यायालय ने जो मत व्यक्त किया है, वह इस प्रकार है :–

---

[1] (2017) 5 एस. सी. सी. 796.

"60. अभियोजन पक्ष द्वारा अभिलेख पर प्रस्तुत किए गए साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि मृतक हितेश और अभियुक्त के लंबे समय से सौहार्दपूर्ण संबंध थे और एक-दूसरे को जानते थे तथा अच्छे मित्र थे । मृतक द्वारा अभियुक्त मुकेश के कमरे में एक पार्टी आयोजित की गई थी और स्वयं मृतक ने सभी अभियुक्तों को पार्टी में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया था । इस पार्टी में उनके द्वारा बहुत सारी शराब पी गई थी और मृतक हितेश और अभियुक्त अतुल ठाकुर के बीच अचानक झगड़ा हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अभियुक्त अतुल ने हितेश को चाकू घोंप दिया और उसके कारण उसकी मृत्यु हो गई.....।

61. इसमें कोई संदेह नहीं है कि अभियुक्त अतुल ठाकुर द्वारा पहुंचाई गई चाकू घोंपने की क्षति के परिणामस्वरूप हितेश की तारीख 27/28 जुलाई, 2011 की मध्यवर्ती रात्रि में इन्दिरा गांधी आयुर्विज्ञान महाविद्यालय, शिमला में मानव वध मृत्यु हुई थी । विचार करने के लिए यह प्रश्न उद्भूत होता है कि अभियुक्त का यह कार्य, जिससे हितेश की मृत्यु कारित हुई थी, क्या हत्या की कोटि में आता है या हत्या की कोटि में न आने वाले मानव वध के अंतर्गत आता है । यह एक स्वीकृत तथ्य है कि मृतक और इस अभियुक्त के बीच कोई दुश्मनी नहीं थी, बल्कि उनके सौहार्दपूर्ण संबंध थे । इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि मृतक और अभियुक्त अतुल के बीच हाथापाई हुई थी क्योंकि अभि. सा. 11 हिमांशु, अभि. सा. 12 मनोज बंसल और अभि. सा. 1 आशुतोष के साक्ष्य में यह बात आई है कि उनके बीच हाथापाई हुई थी । इन परिस्थितियों में, इस न्यायालय को अभियोजन साक्ष्य की यह परीक्षा करनी होगी कि क्या अभियुक्त अतुल ने असम्यक् फायदा उठाया था या क्रूर अथवा शत्रुतापूर्ण रीति में कार्य किया था, जिससे कि वह धारा 300 के अपवाद 4 के फायदे से वंचित हो सके । वास्तव में, अभियोजन पक्ष अभियुक्त द्वारा मृतक की हत्या करने के किसी हेतु को साबित नहीं कर सका है । अभियुक्त मुकेश ठाकुर के कमरे पर शराब पार्टी का आयोजन आपसी रजामंदी से हुआ था । इन परिस्थितियों में, यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि प्रश्नगत घटना अचानक हुई लड़ाई में आवेश की तीव्रता में घटी थी । अगला प्रश्न जो विचार के लिए उद्भूत होता है यह है कि क्या अभियुक्त अतुल ने उक्त लड़ाई का असम्यक् फायदा उठाया था या क्रूर अथवा शत्रुतापूर्ण रीति में

कार्य किया था या नहीं । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि मृतक और अभियुक्त दोनों ने पर्याप्त मात्रा में शराब पी हुई थी और यह बात अभियोजन साक्षियों के साक्ष्य से सिद्ध होती है, इसलिए इस बात से पूर्णतया इनकार नहीं किया जा सकता है कि चाकू घोंप कर पहुंचाई गई क्षतियां अभियुक्त अतुल द्वारा असम्यक् फायदा लेने के आशय से नहीं पहुंचाई गई थीं । यह अधिसंभाव्य है कि अभियुक्त ने शराब के नशे की हालत में उनके बीच हुई हाथापाई के कारण क्षतियां पहुंचाई थीं । इसके अतिरिक्त, डाक्टर संदीप कौशिक द्वारा चिकित्सा विधि प्रमाणपत्र, प्रदर्श पी. डब्ल्यू. 18/ए, में उल्लिखित क्षतियों की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार करना मुश्किल है कि अभियुक्त अतुल ठाकुर का आशय हितेश की मृत्यु कारित करने का था या क्षतियां इतनी खतरनाक थीं कि उनके कारण सभी अधिसंभाव्यताओं में मृत्यु कारित हो जाएगी । फिर भी, क्षतियां बहुत ही गंभीर थीं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि अभियुक्त को अवश्य इस बात का ज्ञान था कि यदि किसी व्यक्ति के वक्ष या उदर पर चाकू से क्षति कारित की जाती है तब इस कृत्य से विपदग्रस्त की मृत्यु कारित होना संभाव्य है ।

62. अभिलेख पर की साम्रगी पर विचार करने के पश्चात् इस न्यायालय की यह राय है कि अभियुक्त अतुल ठाकुर को केवल भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषी पाया जा सकता है ।"

14. जैसा कि ऊपर कहा गया है, उच्च न्यायालय ने अपराध की प्रकृति के प्रश्न पर विचारण न्यायालय के इस निष्कर्ष को मुख्य रूप से यह मत व्यक्त करते हुए उलट दिया कि अपीलार्थी ने चाकू जैसे आयुध से बारम्बार प्रहार करके हितेश ठाकुर को छह गंभीर क्षतियां कारित की थीं जिनके कारण उसकी मृत्यु हो गई थी । हमारी यह राय है कि न तो अपीलार्थी द्वारा हमला करने के दौरान चाकू का प्रयोग करने का तथ्य और न ही अपीलार्थी द्वारा किए गए बहु प्रहार (छह) अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 300 के अपवाद 4 के अधीन उपलब्ध फायदे से इनकार करने का एकमात्र आधार हो सकता है । यह न्यायालय सिद्ध तथ्यों के आधार पर संपूर्ण मामले पर विचार करने के लिए आबद्ध है । **सुरैन सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस सिद्धांत का पुनः उल्लेख किया गया है ।

15. अगला प्रश्न यह है कि क्या अपीलार्थी का दंडादेश की मात्रा पर

विचारण न्यायालय के विनिश्चय को प्रत्यावर्तित और बहाल करने के लिए दिया गया अनुनयकारी तर्क सही है या नहीं । विचारण न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए केवल पांच वर्ष के कठोर कारावास और दस हजार रूपए के जुर्माने तथा जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर एक वर्ष की अवधि का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने का दंडादेश दिया था । इसके लिए विचारण द्वारा कोई विशेष कारण अभिलिखित नहीं किया गया है । अपराध की प्रकृति और उस तुच्छ कारण पर विचार करते हुए जिससे अपीलार्थी क्रोधित हुआ और हितेश ठाकुर पर हमला किया और वह भी चाकू से तथा बहु प्रहार किए, हल्का दंड देना अपेक्षित नहीं है । तथापि, हम प्रत्यर्थियों के तर्क को स्वीकार करते हैं कि वर्तमान मामले की तथ्यात्मक स्थिति में दंडादेश की अवधि जुर्माने सहित दस वर्ष के कारावास से कम नहीं होनी चाहिए । इससे न्याय की पूर्ति हो जाएगी ।

16. तद्नुसार, हम मूल अभियुक्त सं. 1 अतुल ठाकुर द्वारा फाइल 2015 की दांडिक अपील सं. 75 और अपील सं. 227 को भागतः मंजूर करते हैं । हम अपराध की प्रकृति की बाबत अपीलार्थी के विरुद्ध उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय को उपांतरित करते हैं और इसकी बजाय इस बारे में विचारण न्यायालय के आदेश को प्रत्यावर्तित करते हैं । अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 304 भाग 2 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषी ठहराया जाता है और 10,000/- रुपए (दस हजार रुपए) के जुर्माने सहित दस वर्ष की अवधि का कठोर कारावास भुगतने और जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर एक वर्ष का अतिरिक्त कारावास भुगतने का दंडादेश दिया जाता है । यह उल्लेख करना अनावश्यक है कि अपीलार्थी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 428 के अधीन मुजरा कराने का हकदार होगा ।

17. इन अपीलों का पूर्वोल्लिखित निबंधनों के अनुसार निपटारा किया जाता है ।

अपीलों का निपटारा किया गया ।

जस.

[2018] 3 उम. नि. प. 132

एच. वी. निर्मला और एक अन्य

बनाम

आर. शर्मिला और एक अन्य

25 जनवरी, 2018

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 (1925 का 39) – धारा 63 [सपठित भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 68] – वसीयत का निष्पादन – पश्चात्वर्ती वसीयत के आधार पर संपत्तियों के विभाजन के लिए समझौता डिक्री प्राप्त करने के बाद पूर्ववर्ती वसीयत के आधार पर वादगत संपत्ति का दावा – यदि पूर्ववर्ती वसीयत को साक्ष्य पेश करके और उस वसीयत को अधिप्रमाणित करने वाले एक साक्षी की परीक्षा करके विधि की दृष्टि से साबित कर दिया जाता है और पश्चात्वर्ती वसीयत में पूर्ववर्ती वसीयत को प्रतिसंहृत करने का कोई उल्लेख नहीं होता है तो पूर्ववर्ती वसीयत अभिभावी होगी ।

प्रस्तुत मामले में अपीलार्थी, उस सिविल वाद में, जिससे यह अपील उद्भूत हुई है, प्रतिवादी सं. 2 और 3 हैं जबकि प्रत्यर्थी सं. 1 वादी है और प्रत्यर्थी सं. 2 प्रतिवादी सं. 1 है । मृतक वसीयतकर्ता की दो पत्नियां थीं । पहली पत्नी से विवाह के पश्चात् एक पुत्री वादी और एक पुत्र प्रतिवादी सं. 1 उत्पन्न हुए थे जबकि दूसरी पत्नी से विवाह के पश्चात् एक पुत्र प्रतिवादी सं. 3 उत्पन्न हुआ । पहली पत्नी की मृत्यु 24 फरवरी, 1989 को हो गई और वसीयतकर्ता की मृत्यु 26 नवम्बर, 1995 को हो गई । प्रतिवादी सं. 1 ने प्रतिवादी सं. 2 और 3 के विरुद्ध तारीख 11 अक्तूबर, 1995 को मृत रमैया रेड्डी के स्वामित्वाधीन संपत्तियों के विभाजन के लिए एक सिविल वाद फाइल किया जो कि 1996 का मूल वाद सं. 7266 था । यह वाद तारीख 20 मई, 1995 की वसीयत के आधार पर था, जिसके बारे में यह कहा गया है कि वह रमैया द्वारा वाद में के तीन पक्षकारों के पक्ष में निष्पादित की गई थी । पक्षकारों ने वाद में समझौता कर लिया समझौता डिक्री पारित की गई थी । तारीख 4 नवम्बर, 2000 को वादी ने प्रतिवादी सं. 1, 2 और 3 के विरुद्ध इस घोषणा के लिए एक सिविल वाद फाइल किया कि 1996 के मूल वाद सं. 7266 में पारित तारीख 25 जनवरी,

1997 की समझौता डिक्री उस पर आबद्धकर नहीं है; यह कि वह रमैया द्वारा उसके पक्ष में निष्पादित तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत के आधार पर अनुसूची में विनिर्दिष्ट संपत्तियों की विधिपूर्ण स्वामिनी है, जो कि 2000 का मूल वाद सं. 7592 था । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए वाद खारिज कर दिया कि चूंकि वादी तारीख 12 मार्च, 1980 की मूल वसीयत को साबित करने में असफल रही है इसलिए वाद अवश्य ही असफल होना चाहिए । दूसरे शब्दों में, विचारण न्यायालय का यह मत था कि वादी द्वारा पर्याप्त साक्ष्य पेश करने के अभाव में यह अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है कि तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत विधि के अनुसार साबित हो गई है । वादी ने अपने वाद के खारिज होने से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष प्रथम अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए आक्षेपित निर्णय/डिक्री द्वारा अपील मंजूर कर ली, विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अपास्त कर दिया और वादी के वाद को डिक्री कर दिया कि वादी साक्ष्य पेश करके तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को विधि के अनुसार साबित करने में समर्थ रही थी और इसलिए वह वादगत संपत्तियों से संबंधित वाद में उसके द्वारा दावाकृत घोषणा के लिए हकदार थी । प्रतिवादी सं. 2 और 3 ने उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में विशेष इजाजत लेकर अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – इस अपील का परिणाम एक प्रश्न पर निर्भर करता है, अर्थात्, क्या वादी (इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 1) तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को विधि के अनुसार साबित करने में समर्थ रही थी । वादी तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को विधि के अनुसार साबित करने में समर्थ रही थी और इसलिए अन्यथा अभिनिर्धारित करने का कोई कारण नहीं है । ऐसा निम्नलिखित कारणवश है – प्रथमतः, तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत एक रजिस्ट्रीकृत वसीयत है । दूसरे, यह किसी और ने नहीं बल्कि पिता रमैया द्वारा प्रथम पत्नी से उत्पन्न अपनी अवयस्क पुत्री और अवयस्क पुत्र के पक्ष में निष्पादित की गई थी । तीसरे, जब पिता रमैया ने अपनी संपत्ति अपने अवयस्क बच्चों को वसीयत कर दी थी तब इसमें कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता । यह प्यार और स्नेह के आधार पर की गई एक नैसर्गिक वसीयत है । चौथे, तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को अपने पक्ष में निष्पादित कराने में अवयस्क पुत्री और

पुत्र द्वारा कोई सक्रिय भूमिका निभाने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है । यह मात्र इस कारण है कि वे इतने छोटे थे कि वादगत संपत्ति को हथियाने के लिए किसी किस्म का अवैध कार्य में आलिप्त नहीं हो सकते थे । दूसरे शब्दों में, अवयस्क बच्चों से यह प्रत्याशा करना कठिन है कि वे अपने पिता की संपत्ति हथियाने में कोई सक्रिय भूमिका निभाएंगे और कूटरचित वसीयत तैयार करेंगे । पांचवें, यह बात साक्ष्य में आई है कि तारीख 12 मार्च, 1980 की मूल वसीयत वादी के कब्जे में नहीं थी बल्कि वह प्रतिवादी सं. 1 के कब्जे में थी । इसी कारण, वादी ने रजिस्ट्रार के कार्यालय से अभिप्राप्त करने के पश्चात् उसकी प्रमाणित प्रति फाइल की । छठे, उच्च न्यायालय द्वारा इस स्पष्टीकरण को स्वीकार कर लिया गया था और ऐसा ठीक ही किया गया है । सातवें, चूंकि मूल वसीयत वादी के कब्जे में नहीं थी, इसलिए इसकी विद्यमानता और वैधता को वादी द्वारा गौण साक्ष्य पेश करके साबित किया जा सकता था । आठवें, वादी ने अपने साक्ष्य पेश करके और वसीयत को अधिप्रमाणित करने वाले एक साक्षी की परीक्षा करके साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 68 की अपेक्षानुसार तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को साबित किया है । वसीयत को साबित करने के लिए ऐसा साक्ष्य पर्याप्त था । नौवें, इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि प्रतिवादियों द्वारा प्रकट की गई तारीख 20 मई, 1995 की पश्चात्वर्ती वसीयत में वसीयतकर्ता द्वारा तारीख 12 मार्च, 1980 को प्रथम वसीयत निष्पादित करने के तथ्य के संबंध में कोई उल्लेख नहीं था । तारीख 20 मई, 1995 की वसीयत में तारीख 12 मार्च, 1980 की पूर्ववर्ती वसीयत का उल्लेख अवश्य पाया जाना चाहिए था क्योंकि तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत एक रजिस्ट्रीकृत वसीयत थी और अंतिम वसीयत को पूर्ववर्ती वसीयत पर अभिभावी बनाने के लिए तारीख 12 मार्च, 1980 की पूर्ववर्ती वसीयत के प्रतिसंहरण के बारे में पश्चात्वर्ती वसीयत में उल्लेख करना आवश्यक था । किन्तु ऐसा नहीं था । दसवें, चूंकि 1996 के मूल वाद सं. 7266 में पारित समझौता डिक्री में वादी एक पक्षकार नहीं थी, इसलिए यह उस पर आबद्धकर नहीं थी । अंतिमतः, जब एक बार तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत के बारे में यह अभिनिर्धारित कर दिया जाता है कि वह विधि के अनुसार साबित हो गई है तब वादी अपने पक्ष में इस घोषणा का दावा करने की हकदार हो जाती है कि वसीयतकर्ता द्वारा वसीयत में यथा-विनिर्दिष्ट रूप में वसीयत की गई संपत्तियों की स्वामिनी है । पूर्वगामी विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए उच्च न्यायालय का यह अभिनिर्धारित करना सही था कि वादी तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत

को साबित करने में समर्थ रही थी और यह कि तारीख 20 मई, 1995 की वसीयत तथा 1996 के मूल वाद सं. 7266 में पारित तारीख 25 जनवरी, 1997 की डिक्री वादी पर आबद्ध नहीं है । (पैरा 14, 17 और 18)

सिविल अपीली अधिकारिता : 2018 की सिविल अपील सं. 881.

2008 की आर. एफ. ए. सं. 1128 में कर्नाटक उच्च न्यायालय की बंगलौर न्यायपीठ के तारीख 20 सितम्बर, 2011 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से — सर्वश्री आर. एस. हेग्ढे, गिरीश अनंतमूर्ति, श्रीमती फरहत जहां रहमानी और श्रीमती वैजयन्ती गिरीश

प्रत्यर्थियों की ओर से — सर्वश्री एच. एन. नागमोहन दास, ज्येष्ठ अधिवक्ता, शेखर जी. देवास, मनीष तिवारी, नवीन नागार्जुन, मैसर्स देवास एंड कंपनी और एस. श्रीनिवासन्

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील 2008 की आर. एफ. ए. सं. 1128 में कर्नाटक उच्च न्यायालय की बंगलौर न्यायपीठ द्वारा पारित तारीख 20 सितम्बर, 2011 के उस अंतिम निर्णय और आदेश से उद्भूत हुई है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय को अपास्त कर दिया था और वादी द्वारा फाइल किए गए वाद को डिक्री कर दिया था ।

3. इस अपील में अंतर्वलित मुद्दों का मूल्यांकन करने की दृष्टि से सुसंगत तथ्यों को इसमें इसके नीचे उपवर्णित करना आवश्यक है ।

4. अपीलार्थी, उस सिविल वाद में, जिससे यह अपील उद्भूत हुई है, प्रतिवादी सं. 2 और 3 हैं जबकि प्रत्यर्थी सं. 1 वादी है और प्रत्यर्थी सं. 2 प्रतिवादी सं. 1 है ।

5. यह विवाद आवश्यक रूप से कौटुम्बिक सदस्यों के बीच है और इसका संबंध कतिपय स्थावर संपत्तियों से है जो मूल रूप से रमैया के रूप में ज्ञात कुटुम्ब के मुखिया की है । इन मुद्दों का अधिमूल्यन करने के लिए कौटुम्बिक वंशावली उपयोगी होगी ।

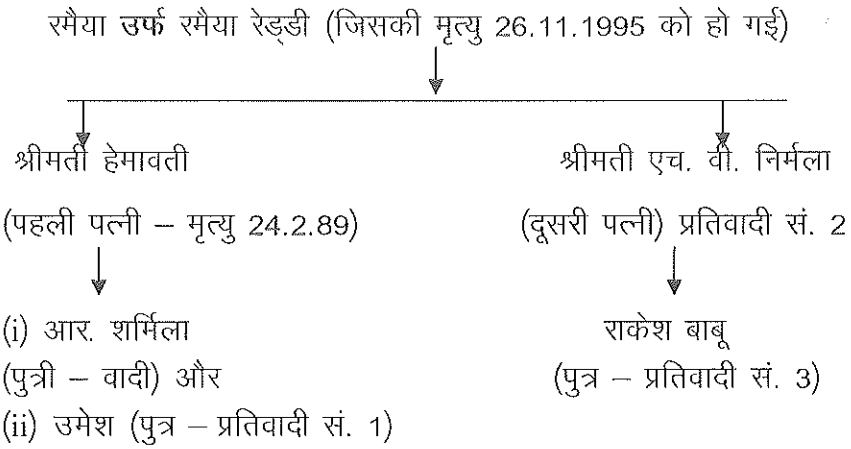

6. रमैया रेड्डी की दो पत्नियां थीं, पहली पत्नी श्रीमती हेमावती और दूसरी पत्नी श्रीमती निर्मला । पहली पत्नी – श्रीमती हेमावती से विवाह के पश्चात् एक पुत्री शर्मिला (वादी) और एक पुत्र उमेश (प्रतिवादी सं. 1) उत्पन्न हुए थे जबकि दूसरी पत्नी – श्रीमती निर्मला से विवाह के पश्चात् एक पुत्र राकेश बाबू (प्रतिवादी सं. 3) उत्पन्न हुआ । हेमावती – पहली पत्नी की मृत्यु 24 फरवरी, 1989 को हो गई और रमैया की मृत्यु 26 नवम्बर, 1995 को हो गई ।

7. उमेश (प्रतिवादी सं. 1) ने निर्मला और राकेश बाबू के विरुद्ध तारीख 11 अक्तूबर, 1995 को एक सिविल वाद फाइल किया जो कि 1996 का मूल वाद सं. 7266 था । यह वाद मृत रमैया रेड्डी के स्वामित्वाधीन संपत्तियों के विभाजन के लिए फाइल किया गया था । यह तारीख 20 मई, 1995 की वसीयत के आधार पर था, जिसके बारे में यह कहा गया है कि वह रमैया द्वारा वाद में के तीन पक्षकारों के पक्ष में निष्पादित की गई थी ।

8. पक्षकारों ने वाद में समझौता कर लिया और तद्नुसार गुणागुण के आधार पर कोई बहस किए बिना 25 जनवरी, 1997 को समझौता डिक्री पारित की गई थी ।

9. तारीख 4 नवम्बर, 2000 को पहली पत्नी से उत्पन्न पुत्री शर्मिला ने निर्मला, उमेश और राकेश बाबू के विरुद्ध नगर सिविल न्यायाधीश, बंगलौर के न्यायालय में एक सिविल वाद फाइल किया, जो कि 2000 का मूल वाद सं. 7592 था, जिससे प्रस्तुत अपील उद्भूत हुई है । वह वाद इस घोषणा के लिए था कि 1996 के मूल वाद सं. 7266 में पारित तारीख 25 जनवरी, 1997 की समझौता डिक्री उस पर आबद्धकर नहीं है; यह कि वह

रमैया द्वारा उसके पक्ष में निष्पादित तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत के आधार पर अनुसूची में विनिर्दिष्ट संपत्तियों की विधिपूर्ण स्वामिनी है ।

10. तीनों प्रतिवादियों ने लिखित कथन फाइल किए । उन्होंने वादी द्वारा स्थापित तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत से इनकार किया और 1996 के मूल वाद सं. 7266 में उनके द्वारा तारीख 25 जनवरी, 1997 को अभिप्राप्त समझौता डिक्री का समर्थन किया । विचारण न्यायालय ने विवाद्यक विरचित किए । पक्षकारों ने अपने-अपने साक्ष्य पेश किए । विचारण न्यायालय ने तारीख 28 अगस्त, 2008 के अपने निर्णय और आदेश द्वारा वाद को खारिज कर दिया । यह अभिनिर्धारित किया गया था कि चूंकि वादी तारीख 12 मार्च, 1980 की मूल वसीयत को साबित करने में असफल रही है इसलिए वाद अवश्य ही असफल होना चाहिए । दूसरे शब्दों में, विचारण न्यायालय का यह मत था कि वादी द्वारा पर्याप्त साक्ष्य पेश करने के अभाव में यह अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है कि तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत विधि के अनुसार साबित हो गई है ।

11. वादी ने अपने वाद के खारिज होने से व्यथित होकर कर्नाटक उच्च न्यायालय के समक्ष प्रथम अपील फाइल की, जिसमें से यह अपील उद्भूत हुई है ।

12. उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय/डिक्री द्वारा अपील मंजूर कर ली, विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अपास्त कर दिया और वादी के वाद को डिक्री कर दिया । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वादी साक्ष्य पेश करके तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को विधि के अनुसार साबित करने में समर्थ रही थी और इसलिए वह वादगत संपत्तियों से संबंधित वाद में उसके द्वारा दावाकृत घोषणा के लिए हकदार थी । प्रतिवादी सं. 2 और 3 ने उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय से व्यथित होकर इस न्यायालय में विशेष इजाजत लेकर यह अपील फाइल की है ।

13. हमें पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल को सुनने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात् इस अपील में कोई सार प्रतीत नहीं होता है । हमारी राय में, उच्च न्यायालय का तर्काधार और निष्कर्ष सही प्रतीत होता है ।

14. इस अपील का परिणाम एक प्रश्न पर निर्भर करता है, अर्थात्, क्या वादी (इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 1) तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को विधि के अनुसार साबित करने में समर्थ रही थी ।

15. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, विचारण न्यायालय ने इस प्रश्न को वादी के विरुद्ध विनिश्चित किया जबकि प्रथम अपील न्यायालय ने इस प्रश्न का विनिश्चय वादी के पक्ष में किया ।

16. इस मामले की परीक्षा करने पर, हम उच्च न्यायालय के तर्काधार से सहमत होने के लिए तत्पर हैं और तद्नुसार इस प्रश्न का उत्तर प्रत्यर्थी सं. 1, अर्थात् वादी के पक्ष में और अपीलार्थियों (प्रतिवादी सं. 2 और 3) के विरुद्ध देते हैं । दूसरे शब्दों में, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि वादी तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को विधि के अनुसार साबित करने में समर्थ रही थी और इसलिए अन्यथा अभिनिर्धारित करने का कोई कारण नहीं है । ऐसा हम निम्नलिखित कारणवश कहते हैं ।

17. प्रथमतः, तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत एक रजिस्ट्रीकृत वसीयत है । दूसरे, यह किसी और ने नहीं बल्कि पिता रमैया द्वारा प्रथम पत्नी से उत्पन्न अपनी अवयस्क पुत्री शर्मिला और अवयस्क पुत्र-उमेश के पक्ष में निष्पादित की गई थी । तीसरे, जब पिता रमैया ने अपनी संपत्ति अपने अवयस्क बच्चों को वसीयत कर दी थी तब हमें इसमें कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता । हमारी राय में, यह प्यार और स्नेह के आधार पर की गई एक नैसर्गिक वसीयत है । चौथे, तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को अपने पक्ष में निष्पादित कराने में अवयस्क पुत्री और पुत्र द्वारा कोई सक्रिय भूमिका निभाने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है । यह मात्र इस कारण है कि वे इतने छोटे थे कि वादगत संपत्ति को हथियाने के लिए किसी किस्म का अवैध कार्य में आलिप्त नहीं हो सकते थे । दूसरे शब्दों में, अवयस्क बच्चों से यह प्रत्याशा करना कठिन है कि वे अपने पिता की संपत्ति हथियाने में कोई सक्रिय भूमिका निभाएंगे और कूटरचित वसीयत तैयार करेंगे । पांचवें, यह बात साक्ष्य में आई है कि तारीख 12 मार्च, 1980 की मूल वसीयत वादी के कब्जे में नहीं थी बल्कि वह प्रतिवादी सं. 1 के कब्जे में थी । इसी कारण, वादी ने रजिस्ट्रार के कार्यालय से अभिप्राप्त करने के पश्चात् उसकी प्रमाणित प्रति फाइल की । छठे, उच्च न्यायालय द्वारा इस स्पष्टीकरण को स्वीकार कर लिया गया था और हमारी राय में ऐसा ठीक ही किया गया है । सातवें, चूंकि मूल वसीयत वादी के कब्जे में नहीं थी, इसलिए इसकी विद्यमानता और वैधता को वादी द्वारा गौण साक्ष्य पेश करके साबित किया जा सकता था । आठवें, वादी ने अपने साक्ष्य पेश करके और वसीयत को अधिप्रमाणित करने वाले एक साक्षी की परीक्षा करके साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 68 की

अपेक्षानुसार तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को साबित किया है । हमारी राय में, वसीयत को साबित करने के लिए ऐसा साक्ष्य पर्याप्त था । नौवें, इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि प्रतिवादियों द्वारा प्रकट की गई तारीख 20 मई, 1995 की पश्चात्वर्ती वसीयत में वसीयतकर्ता द्वारा तारीख 12 मार्च, 1980 को प्रथम वसीयत निष्पादित करने के तथ्य के संबंध में कोई उल्लेख नहीं था । हमारी राय में, तारीख 20 मई, 1995 की वसीयत में तारीख 12 मार्च, 1980 की पूर्ववर्ती वसीयत का उल्लेख अवश्य पाया जाना चाहिए था क्योंकि तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत एक रजिस्ट्रीकृत वसीयत थी और अंतिम वसीयत को पूर्ववर्ती वसीयत पर अभिभावी बनाने के लिए तारीख 12 मार्च, 1980 की पूर्ववर्ती वसीयत के प्रतिसंहरण के बारे में पश्चात्वर्ती वसीयत में उल्लेख करना आवश्यक था । किन्तु ऐसा नहीं था । दसवें, चूंकि 1996 के मूल वाद सं. 7266 में पारित तारीख 25 जनवरी, 1997 की समझौता डिक्री में वादी एक पक्षकार नहीं थी, इसलिए यह उस पर आबद्धकर नहीं थी । अंतिमतः, जब एक बार तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत के बारे में यह अभिनिर्धारित कर दिया जाता है कि वह विधि के अनुसार साबित हो गई है तब वादी अपने पक्ष में इस घोषणा का दावा करने की हकदार हो जाती है कि वसीयतकर्ता द्वारा वसीयत में यथा-विनिर्दिष्ट रूप में वसीयत की गई संपत्तियों की स्वामिनी है ।

18. पूर्वगामी विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि उच्च न्यायालय का यह अभिनिर्धारित करना सही था कि वादी तारीख 12 मार्च, 1980 की वसीयत को साबित करने में समर्थ रही थी और यह कि तारीख 20 मई, 1995 की वसीयत तथा 1996 के मूल वाद सं. 7266 में पारित तारीख 25 जनवरी, 1997 की डिक्री वादी पर आबद्ध नहीं हैं ।

19. इसके परिणामस्वरूप, हमें इस अपील में कोई सार प्रतीत नहीं होता है, जो कि असफल होती है और तद्नुसार खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

ग्रो.

[2018] 3 उम. नि. प. 140

मध्य प्रदेश राज्य और अन्य

बनाम

मनोज शर्मा और अन्य

तथा

मध्य प्रदेश राज्य और अन्य

बनाम

आलोक त्रिपाठी और अन्य

25 जनवरी, 2018

न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी और न्यायमूर्ति अशोक भूषण

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 16 [सपठित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम, 1956 (1956 का 3) की धारा 26(1)(ङ), (छ) और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम.फिल./पीएच.डी. डिग्री देने के लिए न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 का विनियम 5 और 3] – प्राध्यापकों की नियुक्ति – पात्रता – दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से डिग्री अभिप्राप्त करने के आधार पर आवेदन अस्वीकार किया जाना – चूंकि 2009 के विनियमों के विनियम 5 द्वारा किसी भी विश्वविद्यालय को दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से एम.फिल./पीएच.डी. डिग्री पाठ्यक्रम के संचालन से प्रतिषिद्ध किया गया था और विनियम 3 में इन विनियमों को उनके राजपत्र में प्रकाशन की तारीख से प्रवर्तन में लाया गया था इसलिए ये विनियम भविष्यलक्षी प्रकृति के हैं और इन विनियमों के प्रवर्तन से पूर्व अभिप्राप्त एम.फिल. अर्हता को रद्द नहीं किया जा सकता है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 16 [सपठित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम, 1956 की धारा 26(1)(ङ), (छ), 14 और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (सहबद्ध विश्वविद्यालयों और संस्थाओं में अध्यापकों की नियुक्ति और कैरियर उत्कर्ष के लिए न्यूनतम अर्हताएं) विनियम, 2009 का विनियम 1.3.3] – प्राध्यापकों की नियुक्ति के लिए पात्रता – प्राध्यापकों की नियुक्ति के लिए, 2009 के विनियमों के अनुपालन में पीएच.डी. डिग्री धारकों को छूट सहित न्यूनतम पात्रता नेट अर्हता होने के कारण 2009 के विनियमों के प्रवर्तन में आने से पूर्व दूरस्थ शिक्षा पद्धति

के माध्यम से डिग्री अभिप्राप्त करने वाले प्राध्यापकों की पात्रता के संबंध में 2009 के विनियमों के अनुसार ही विचार किया जाना चाहिए ।

प्रस्तुत मामले में रिट याचियों ने दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों से 11 जुलाई, 2009 से पूर्व (वर्ष 2007 से वर्ष 2009 के दौरान) एम. फिल. उत्तीर्ण किया था । रिट याचियों को वर्ष 2009 से पूर्व भिन्न-भिन्न सरकारी/अर्ध-सरकारी महाविद्यालयों में अतिथि प्राध्यापक (गैस्ट लैक्चरार) के रूप में नियोजित किया गया था । मध्य प्रदेश सरकार के उच्चतर शिक्षा विभाग ने "शैक्षणिक सत्र 2011-12 की शेष अवधि और आगामी सत्रों के लिए सरकारी महाविद्यालयों में अतिथि प्राध्यापकों की व्यवस्था" विषय पर तारीख 22 फरवरी, 2012 को एक आदेश जारी किया । उस आदेश में चयन के लिए मानदंड का उपबंध किया गया था, जिसके अधीन पीएच.डी और एन.ई.टी (नेट)/एस.ई.टी. (सेट), एम. फिल और नेट /सेट के लिए भिन्न-भिन्न अंक आबंटित किए गए थे । प्रादेशिक अपर निदेशक, उच्चतर शिक्षा, ग्वालियर, मध्य प्रदेश ने तारीख 21 अप्रैल, 2012 का एक विज्ञापन जारी किया जिसके द्वारा विभिन्न विषयों में अतिथि प्राध्यापक के पद के लिए आवेदन आमंत्रित किए गए थे । रिट याचियों ने आनलाइन माध्यम से अतिथि प्राध्यापक के विभिन्न पदों के लिए आवेदन किए थे । उनके आवेदन स्वीकार नहीं किए गए थे । पूछताछ करने पर उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे अभ्यर्थी अर्हित नहीं हैं, जिन्होंने दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम के मांध्यम से एम. फिल. डिग्री अभिप्राप्त की थी । उच्च न्यायालय ने अंतरिम आदेश द्वारा प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया कि अभ्यर्थियों के आवेदन-पत्र को स्वीकार कर लिया जाए और अभ्यर्थियों के परिणाम को सीलबंद लिफाफे में रखा जाए । रिट याचियों ने अंतरिम आदेश के बल पर अपने-अपने आवेदन प्रस्तुत किए । विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए अंतिम रूप से निपटारा कर दिया गया कि वे अभ्यर्थी पात्र हैं, जिन्होंने विनियम, 2009, अर्थात् विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम.फिल. /पीएच.डी. डिग्री देने के लिए न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 के पूर्व एम. फिल. अर्हता अभिप्राप्त कर ली है, और उनका परिणाम घोषित कर दिया जाए । मध्य प्रदेश राज्य ने विद्वान् एकल न्यायाधीश के निर्णयों के विरुद्ध रिट अपील फाइल की और उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने वह अपील खारिज कर दी । राज्य ने खंड न्यायपीठ के निर्णय के विरुद्ध यह अपील फाइल की है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलों का तद्नुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – विद्वान् एकल न्यायाधीश और खंड न्यायपीठ ने यह मत अपनाया कि न्यूनतम मानकों और प्रक्रिया से संबंधित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के 2009 के विनियमों के अनुसार, 11 जुलाई, 2009 से ही किसी विश्वविद्यालय, संस्था या मानित विश्वविद्यालय को दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से एम. फिल./पीएच.डी. का संचालन करने से प्रतिषिद्ध किया गया था इसलिए, उक्त विनियम के प्रवर्तन से पूर्व अभिप्राप्त की गई डिग्री रद्द नहीं हो गई है । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यू.जी.सी.(न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 भविष्यलक्षी प्रकृति के हैं और वे भूतलक्षी रूप से प्रवृत्त नहीं होंगे । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि चूंकि यू.जी.सी.(न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 भूतलक्षी रूप से लागू नहीं होते हैं इसलिए उपर्युक्त विनियम से पूर्व रिट याचियों द्वारा पहले से अर्जित एम.फिल. अर्हता रद्द नहीं हो जाएगी । यू.जी.सी.(न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 के अधीन विनियम 3 में स्पष्ट रूप से इस विनियम को राजपत्र में उसके प्रकाशन की तारीख से प्रवृत्त होने का उपबंध किया गया है । अतः, यह स्पष्ट है कि ये विनियम भविष्यलक्षी प्रकृति के हैं और इससे किसी विश्वविद्यालय या संस्था द्वारा इन विनियमों के प्रवर्तन से पूर्व अनुदत्त अर्हताओं पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा । अतः, मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं होती है । अतः, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने प्रत्यर्थी को यह निदेश देकर ठीक ही किया है कि रिट याचियों के मामले पर एम. फिल. डिग्री के आधार पर विचार किया जाए और उनके परिणाम को अन्य अभ्यर्थियों के साथ घोषित किया जाए । (पैरा 11, 12 और 13)

प्राध्यापक के पद पर नियुक्ति के लिए अब नेट अर्हता न्यूनतम अर्हता है और एम. फिल. डिग्री धारकों को अनुदत्त छूट वापस ले ली गई है और छूट केवल ऐसे पीएच.डी. डिग्री धारकों को अनुज्ञात है जिन्होंने 11 जुलाई, 2009 के विनियमों, अर्थात् यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 के अनुसार पीएच.डी. डिग्री अभिप्राप्त की है । यद्यपि, उच्च न्यायालय द्वारा इस पहलू की अवेक्षा नहीं की गई है किन्तु चूंकि विद्वान् एकल न्यायाधीश ने रिट याची के मामले पर ऐसी एम. फिल. डिग्री के आधार पर, जो कि उनके द्वारा दूरस्थ शिक्षा पद्धति द्वारा वर्ष 2009 से पूर्व अभिप्राप्त की गई थी, विचार करने का निदेश दिया है इसलिए यह आवश्यक है कि उस पद के लिए उनकी पात्रता की परीक्षा यू.जी.सी. (नियुक्ति के लिए न्यूनतम अर्हता) विनियम 2009 पर विचार करते हुए की

जाए । अतिथि प्राध्यापकों के लिए विज्ञापन और चयन का संचालन वर्ष 2012 में किया गया था जब यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 और यू.जी.सी. (नियुक्ति के लिए न्यूनतम अर्हता) विनियम, 2009 दोनों लागू थे । अतः, इस अपील में उच्च न्यायालय के निर्णय में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि, अपीलों का निपटारा इस निदेश के साथ किया जाता है कि रिट याची की पात्रता के संबंध में यू.जी.सी. (नियुक्ति के लिए न्यूनतम अर्हता) विनियम 2009 को भी विचार में लेते हुए किया जाए । (पैरा 20 और 22)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2015] (2015) 8 एस. सी. सी. 129 :
पी. सुशीला और अन्य बनाम **विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और अन्य** ; 18

[2013] (2013) 4 इलाहाबाद ला जर्नल 635 :
डा. रमेश कुमार यादव और एक अन्य बनाम **इलाहाबाद विश्वविद्यालय और अन्य ।** 18

सिविल अपीली अधिकारिता : 2018 की सिविल अपील सं. 871 और 872.

2012 की रिट अपील सं. 712 में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय की ग्वालियर न्यायपीठ के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सुश्री प्राची मिश्रा, सर्वश्री अर्जुन गर्ग, चैतन्य और सौरभ मिश्रा

प्रत्यर्थियों की ओर से श्री निखिलेश रामचन्द्रन(उपस्थित नहीं)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अशोक भूषण ने दिया ।

न्या. भूषण – इजाजत दी जाती है ।

2. ये दो अपीलें मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के क्रमशः तारीख 5 दिसम्बर, 2012 और 17 जनवरी, 2013 के समरूप भाषा वाले निर्णयों के विरुद्ध फाइल की गई हैं जिनके द्वारा मध्य प्रदेश राज्य द्वारा फाइल की गई अपील खारिज कर दी गई थी । इन दोनों अपीलों में तथ्य और विवाद्यक

सामान्य होने के कारण, दोनों अपीलों को विनिश्चित करने के लिए 2017 की विशेष इजाजत याचिका (सिविल) सं. 26528 से उद्भूत होने वाली सिविल अपील में के तथ्यों और अभिवचनों के प्रति निर्देश करना पर्याप्त है । पक्षकारों को उस रूप में निर्दिष्ट किया जाएगा जिस रूप में वे रिट याचिका में वर्णित हैं ।

3. रिट याचियों ने दूरस्थ शिक्षा के अधीन भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों से 11 जुलाई, 2009 से पूर्व (वर्ष 2007 से वर्ष 2009 के दौरान) एम. फिल. उत्तीर्ण किया था । रिट याचियों को वर्ष 2009 से पूर्व भिन्न-भिन्न सरकारी/अर्ध-सरकारी महाविद्यालयों में अतिथि प्राध्यापक (गैस्ट लैक्चरार) के रूप में नियोजित किया गया था । मध्य प्रदेश सरकार के उच्चतर शिक्षा विभाग ने "शैक्षणिक सत्र 2011-12 की शेष अवधि और आगामी सत्रों के लिए सरकारी महाविद्यालयों में अतिथि प्राध्यापकों की व्यवस्था" विषय पर तारीख 22 फरवरी, 2012 को एक आदेश जारी किया ।

4. सरकारी आदेश में चयन के लिए मानदंड का उपबंध किया गया था, जिसके अधीन पीएच.डी और एन.ई.टी(नेट)/एस.ई.टी.(सेट), एम. फिल और नेट/सेट के लिए भिन्न-भिन्न अंक आबंटित किए गए थे । प्रादेशिक अपर निदेशक, उच्चतर शिक्षा, ग्वालियर, मध्य प्रदेश ने तारीख 21 अप्रैल, 2012 का एक विज्ञापन जारी किया जिसके द्वारा विभिन्न विषयों में अतिथि प्राध्यापक के पद के लिए आवेदन आमंत्रित किए गए थे । रिट याचियों ने आनलाइन माध्यम से अतिथि प्राध्यापक के विभिन्न पदों के लिए आवेदन किए थे । उनके आवेदन स्वीकार नहीं किए गए थे । पूछताछ करने पर उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे अभ्यर्थी अर्हित नहीं हैं, जिन्होंने दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम के माध्यम से एम. फिल. डिग्री अभिप्राप्त की थी ।

5. **मनोज शर्मा और अन्य** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1], फाइल की गई थी, जिसमें उच्च न्यायालय ने तारीख 14 मई, 2012 को अंतरिम आदेश पारित किया था और प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया गया था कि अभ्यर्थियों के आवेदन-पत्र को स्वीकार कर लिया जाए और अभ्यर्थियों के परिणाम को सीलबंद लिफाफे में रखा जाए ।

6. रिट याचियों ने अंतरिम आदेश के बल पर अपने-अपने आवेदन प्रस्तुत किए । विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा तारीख 29 अगस्त, 2012 को

[1] 2012 की रिट याचिका सं. 3290.

मनोज शर्मा और अन्य बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1], का यह अभिनिर्धारित करते हुए अंतिम रूप से निपटारा कर दिया गया कि वे अभ्यर्थी पात्र हैं, जिन्होंने विनियम, 2009, अर्थात् विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम.फिल./ पीएच.डी. डिग्री देने के लिए न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 [जिन्हें इसमें इसके पश्चात् "यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009" कहा गया है] के पूर्व एम. फिल. अर्हता अभिप्राप्त कर ली है, और उनका परिणाम घोषित कर दिया जाए । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने निम्नलिखित निदेश जारी किए :–

> "इसके अतिरिक्त, यह उल्लेख किया जाता है कि यद्यपि याची के मामले पर विचार किया गया था तथापि अंतरिम आदेश द्वारा यह निदेश दिया गया था कि उसका परिणाम घोषित नहीं किया जाएगा । अब अंतिम आदेश पारित किया जाता है । याची को पात्र पाया गया है इसलिए प्रत्यर्थी याची के मामले पर उपर्युक्त मास्टर ऑफ फिसाल्फी प्रमाण-पत्र के आधार पर पात्र अभ्यर्थी के रूप में विचार करेंगे और अन्य अभ्यर्थियों के साथ-साथ उसका परिणाम भी घोषित करेंगे ।"

7. मध्य प्रदेश राज्य ने विद्वान् एकल न्यायाधीश के निर्णयों के विरुद्ध रिट अपील फाइल की और उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने तारीख 5 दिसम्बर, 2012 के अपने निर्णय द्वारा वह अपील खारिज कर दी । राज्य ने खंड न्यायपीठ के निर्णय के विरुद्ध यह अपील फाइल की है ।

8. अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा विरचित विनियमों, यू.जी.सी. (न्यूनतम स्तर और प्रक्रिया) विनियम, 2009, को ध्यान में रखते हुए, दूरस्थ शिक्षा के माध्यम से आयोजित एम. फिल./ पीएच.डी. कार्यक्रम स्वीकार्य नहीं हैं । उसने यह दलील दी कि चूंकि रिट याचियों की एम.फिल. डिग्री दूरस्थ शिक्षा पद्धति द्वारा प्राप्त की गई थी इसलिए वे अतिथि प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति के लिए अर्हता पूरी नहीं करते हैं और विद्वान् एकल न्यायाधीश और खंड न्यायपीठ का निर्णय, जिसमें प्रतिकूल दृष्टिकोण अपनाया गया है, कायम रखे जाने योग्य नहीं है ।

9. सुनवाई के समय प्रत्यर्थी की ओर से कोई भी उपस्थित नहीं

---

[1] 2012 की रिट याचिका सं. 3290.

हुआ । यद्यपि प्रत्यर्थी सं. 1, मनोज शर्मा की ओर से एक प्रति-शपथपत्र फाइल किया गया है, जिसमें विद्वान् एकल न्यायाधीश और खंड न्यायपीठ द्वारा अपनाए गए मत का समर्थन किया गया है । हमने अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल की दलील पर विचार किया है और अभिलेख का परिशीलन किया है ।

10. न्यूनतम मानकों और प्रक्रिया से संबंधित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के 2009 के विनियम भारत के राजपत्र में तारीख 11 जुलाई, 2009 को प्रकाशित किए गए थे । विनियम 5, जो कि सुसंगत है, निम्नलिखित रूप में है :–

> *"विनियम 5. इन विनियमों या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य नियम या विनियम में किसी बात के होते हुए भी, कोई विश्वविद्यालय, संस्था, मानित विश्वविद्यालय और राष्ट्रीय महत्व का महाविद्यालय/संस्था दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से एम. फिल. और पीएच.डी. कार्यक्रमों का संचालन नहीं करेगा ।"

11. विद्वान् एकल न्यायाधीश और खंड न्यायपीठ ने यह मत अपनाया कि न्यूनतम मानकों और प्रक्रिया से संबंधित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के 2009 के विनियमों के अनुसार, 11 जुलाई, 2009 से ही किसी विश्वविद्यालय, संस्था या मानित विश्वविद्यालय को दूरस्थ शिक्षा पद्धति के माध्यम से एम.फिल./पीएच.डी. का संचालन करने से प्रतिषिद्ध किया गया था इसलिए, उक्त विनियम के प्रवर्तन से पूर्व अभिप्राप्त की गई डिग्री रद्द नहीं हो गई है । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यू.जी.सी.(न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 भविष्यलक्षी प्रकृति के हैं और वे भूतलक्षी रूप से प्रवृत्त नहीं होंगे । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि चूंकि यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 भूतलक्षी रूप से लागू नहीं होते हैं इसलिए

---

* अंग्रेज़ी में यह इस प्रकार है :–

> "Regulation 5. Notwithstanding anything contained in these Regulations or any other Rule or regulation, for the time being in force, no University, Institution, Deemed to be University and College/Institution of National Importance shall conduct M.Phil and Ph.D Programmes through distance education mode."

उपर्युक्त विनियम से पूर्व रिट याचियों द्वारा पहले से अर्जित एम.फिल. अर्हता रद्द नहीं हो जाएगी ।

12. यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 के अधीन विनियम 3 में स्पष्ट रूप से इस विनियम को राजपत्र में उसके प्रकाशन की तारीख से प्रवृत्त होने का उपबंध किया गया है । विनियम 3 निम्नलिखित रूप में है :–

*"ये राजपत्र में उनके प्रकाशन की तारीख से प्रवृत्त होंगे ।"

13. अतः, यह स्पष्ट है कि ये विनियम भविष्यलक्षी प्रकृति के हैं और इससे किसी विश्वविद्यालय या संस्था द्वारा इन विनियमों के प्रवर्तन से पूर्व अनुदत्त अर्हताओं पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा । अतः, हमें मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं होती है । अतः, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने प्रत्यर्थी को यह निदेश देकर ठीक ही किया है कि रिट याचियों के मामले पर एम. फिल. डिग्री के आधार पर विचार किया जाए और उनके परिणाम को अन्य अभ्यर्थियों के साथ घोषित किया जाए ।

14. इस प्रक्रम पर एक अन्य विवाद्यक की अवेक्षा की जानी आवश्यक है । उसी दिन, जब एम.फिल. /पीएच.डी. डिग्री देने के लिए मानक स्तर और प्रक्रिया से संबंधित विनियम प्रकाशित किए गए थे, राजपत्र में उसी दिन, अर्थात्, 11 जुलाई, 2009 को एक अन्य विनियम प्रकाशित किए गए थे, अर्थात्, यू.जी.सी. (सहबद्ध विश्वविद्यालयों और संस्थाओं में अध्यापकों की नियुक्ति और कैरियर उत्कर्ष के लिए न्यूनतम अर्हताएं) (तीसरा संशोधन) विनियम, 2009 (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् "यू.जी.सी. (नियुक्ति के लिए न्यूनतम अर्हताएं) विनियम, 2009" कहा गया है) ।

15. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने प्राध्यापक के पद के लिए न्यूनतम अर्हताओं से संबंधित विनियम वर्ष 2000 में जारी किए थे और जिन्हें वर्ष 2002 और वर्ष 2006 में संशोधित किया गया था । 2000 के विनियमों के अनुसार, विनियम 1.3.3 में प्राध्यापक के लिए अर्हताएं निम्नलिखित रूप से उपबंधित थीं :–

---

* अंग्रेज़ी में यह इस प्रकार है :–

"They shall come into force with effect from the date of their publication in the Gazette of India."

*"1.3.3 प्राध्यापक

किसी भारतीय विश्वविद्यालय से सुसंगत विषय में मास्टर डिग्री या किसी विदेशी विश्वविद्यालय से किसी समतुल्य डिग्री स्तर पर कम से कम 50 प्रतिशत अंक या पश्चात्वर्ती ग्रेड ओ,ए,बी,सी,डी,ई और एफ सहित 7 बिन्दु स्केल में बी के समतुल्य ग्रेड सहित उत्तम शैक्षणिक अभिलेख ।

अभ्यर्थियों को उपर्युक्त अर्हताएं पूरी करने के अतिरिक्त विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, सी.एस.आई.आर. द्वारा प्राध्यापकों के लिए संचालित पात्रता परीक्षा (नेट) या विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रत्यायित समरूप परीक्षा उत्तीर्ण करनी चाहिए ।

टिप्पण : प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति के लिए पीएच.डी. डिग्री धारण करने वाले अभ्यर्थियों के लिए भी नेट अनिवार्य अपेक्षा बनी रहेगी । तथापि, उन अभ्यर्थियों को, जिन्होंने 31 दिसम्बर, 1993 तक एम.फिल. डिग्री पूरी कर ली है या संबंधित विषय में पीएच.डी. थीसिस प्रस्तुत कर दी हैं, नेट परीक्षा में बैठने से छूट प्रदान की जाती है ।"

16. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, ऊपर उल्लिखित विनियमों में संशोधन किए गए थे और तारीख 11 जुलाई, 2009 के संशोधन सुसंगत थे जबकि विनियम 1.3.3 में अंतर्विष्ट टिप्पण को निम्नलिखित

---

* अंग्रेज़ी में यह इस प्रकार है :–

"1.3.3 Lecturer

Good academic record with at least 55% of the marks or, an equivalent grade of B in the 7 point scale with latter grades O, A, B, C, D, E and F at the Master's degree level, in the relevant subject from an Indian University, or. an equivalent degree from a foreign university.

Besides fulfilling the above qualifications, candidates should have cleared the eligibility test (NET) for lecturers conducted by the UGC, CSIR or similar test accredited by the UGC.

Note: NET shall remain the compulsory requirement for appointment as Lecturer even for candidates having Ph.D. degree. However, the candidates who have completed M.Phil. Degree or have submitted Ph.D. thesis in the concerned subject upto 31st December, 1993, are exempted from appearing in the Net examination."

द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया था :–

> *"विश्वविद्यालयों/महाविद्यालयों/संस्थाओं में प्राध्यापकों की भर्ती और नियुक्ति के लिए नेट/एस.एल.ई.टी. न्यूनतम पात्रता शर्त रहेगी ।
>
> परन्तु, तथापि उन अभ्यर्थियों को, जिन्हें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (पीएच.डी. डिग्री देने के लिए न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 का अनुपालन करते हुए पीएच.डी. डिग्री दी जाती है या दी गई है, विश्वविद्यालयों/महाविद्यालयों/संस्थाओं में सहायक आचार्य या समतुल्य पदों पर भर्ती और नियुक्ति के लिए नेट/एस.एल.ई.टी. की न्यूनतम पात्रता शर्त की अपेक्षा से छूट प्राप्त होगी ।"

17. यह अवेक्षणीय है कि न्यूनतम अर्हता में जो संशोधन किया गया है उसमें अब यह उपबंध है कि पीएच.डी. डिग्री धारकों को नेट से छूट केवल तभी दी जाएगी जब उन्हें पीएच.डी. डिग्री यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 के अनुपालन में दी गई हो । अतः, उक्त उपबंध यह आज्ञापक बनाता है कि प्राध्यापक के लिए नेट अर्हता आवश्यक है और छूट केवल उन पीएच.डी. डिग्री धारकों को प्रदान की जाएगी जिन्होंने यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 के अनुसार पीएच.डी. डिग्री अभिप्राप्त की है । यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 तथा यू.जी.सी. (नियुक्ति के लिए न्यूनतम अर्हताएं) विनियम, 2009 दोनों विनियमों में उपर्युक्त संशोधन करने का प्रयोजन और उद्देश्य ढूंढना कठिन नहीं है । यू.जी.सी. (नियुक्ति के लिए न्यूनतम अर्हताएं) विनियम, 2009 में किए गए उन संशोधनों को चुनौती दी

---

* अंग्रेज़ी में यह इस प्रकार है :–

> "NET/SLET shall remain the minimum eligibility condition for recruitment and appointment of Lecturers in Universities/Colleges/ Institutions.
>
> Provided, however, that candidates, who are or have been awarded Ph.D. Degree in compliance of the University Grants Commission (minimum standards and procedure for award of Ph.D. Degree), Regulation 2009, shall be exempted from the requirement of the minimum eligibility condition of NET/SLET for recruitment and appointment of Assistant Professor or equivalent positions in Universities/Colleges/ Institutions."

गई है जिनके द्वारा उन पीएच.डी. डिग्री धारकों को इस फायदे से इनकार किया गया है जिन्होंने 11 जुलाई, 2009 के पूर्व पीएच.डी. डिग्री अभिप्राप्त की थी । विभिन्न उच्च न्यायालयों में विनियमों को विभिन्न आधारों पर चुनौती देते हुए रिट याचिकाएं फाइल की गई थीं, जिनमें यह आधार भी है कि ये विनियम मनमाने और अनुच्छेद 14 के अतिक्रमणकारी हैं जिसके द्वारा ऐसे पीएच.डी. डिग्री धारकों, जिन्होंने 11 जुलाई, 2009 से पूर्व पीएच.डी. डिग्री अभिप्राप्त की है और उन पीएच.डी. धारकों के बीच, जिन्होंने यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 के अनुसार 11 जुलाई, 2009 के पश्चात् डिग्री अभिप्राप्त की है, विभेद किया गया है ।

18. विभिन्न उच्च न्यायालय द्वारा विनियमों को दी गई चुनौती का खंडन कर दिया गया था जबकि इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने **डा. रमेश कुमार यादव और एक अन्य** बनाम **इलाहाबाद विश्वविद्यालय और अन्य**[1] वाले मामले में तारीख 6 अप्रैल, 2012 के अपने निर्णय द्वारा उस चुनौती को कायम रखा है । राजस्थान उच्च न्यायालय, दिल्ली उच्च न्यायालय और मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध उन अभ्यर्थियों द्वारा जिनकी रिट याचिकाएं खारिज कर दी गई थी तथा इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 6 अप्रैल, 2012 के उस निर्णय के विरुद्ध जिसके द्वारा अभ्यर्थियों की दलील को कायम रखा गया था, अपीलें फाइल की गई थीं । इस न्यायालय ने **पी. सुशीला और अन्य** बनाम **विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और अन्य**[2] वाले मामले में प्रतिवेदित अपने निर्णय द्वारा सभी अपीलों को विनिश्चित किया था । इस न्यायालय ने राजस्थान, मद्रास और दिल्ली उच्च न्यायालयों के निर्णयों को कायम रखा और इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 6 अप्रैल, 2012 के उस निर्णय को अपास्त कर दिया जिसके द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 में किए गए संशोधन विधिमान्य थे और उन अभ्यर्थियों, जिन्होंने यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम 2009 से पूर्व डिग्री अभिप्राप्त की थी और उन अभ्यर्थियों, जिन्होंने उपर्युक्त विनियमों के अनुसार डिग्री अभिप्राप्त की थी, के बीच वर्गीकरण विधिमान्य है ।

19. इस प्रकार, प्राइवेट प्रत्यर्थी की दलील को नामंजूर करते हुए,

---

[1] (2013) 4 इलाहाबाद ला जर्नल 635.

[2] (2015) 8 एस. सी. सी. 129.

पैरा 16, 17 और 18 में निम्नलिखित रूप में अधिकथित किया गया था :–

"16. तथ्यों के आधार पर यह मामला भी वैसा ही है । कोई निहित अधिकार केवल तभी उद्भूत होगा यदि हमारे समक्ष अपीलार्थियों में से किसी एक को प्राध्यापक/सहायक आचार्य के पद पर वास्तव में नियुक्त किया गया था । उस तारीख तक, अपीलार्थियों में से किसी एक का कोई निहित अधिकार नहीं है । अपीलार्थी अधिक से अधिक केवल यह दलील दे सकते हैं कि उन्हें प्राध्यापक/सहायक आचार्य के पद के लिए विचार में लिए जाने का अधिकार प्राप्त है । यह अधिकार सदैव न्यूनतम पात्रता शर्तों के अध्यधीन है और जब तक अपीलार्थियों को नियुक्त नहीं कर लिया जाता, भिन्न-भिन्न अंतरालों पर भिन्न-भिन्न शर्तें अधिकथित की जा सकती हैं । मात्र इस कारण कि नेट परीक्षा के रूप में कोई अतिरिक्त पात्रता शर्त अधिकथित की गई है, यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि अपीलार्थियों के किसी निहित अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और न ही इसका अर्थ यह है कि ऐसी न्यूनतम पात्रता शर्त अधिकथित करने वाला विनियम प्रवर्तन की दृष्टि से भूतलक्षी होगा । ऐसी शर्त केवल भविष्यलक्षी होगी क्योंकि यह केवल नियुक्ति के प्रक्रम पर ही लागू होगी । अतः, यह स्पष्ट होता है कि हमारे समक्ष वाले प्राइवेट अपीलार्थियों की दलीलें अवश्य ही असफल होनी चाहिएं ।

17. याचियों के काउन्सेलों में से एक विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि केन्द्रीय सरकार के तारीख 12 नवम्बर, 2008 के निदेश की भाषा के आधार पर सरकार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से केवल यह कराना चाहती थी कि नेट को "साधारण रूप से" एक अर्हता के रूप में विहित किया जाए । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को यह अर्हता किसी छूट का उपबंध किए बिना विहित करनी थी । हम इस दलील को मात्र इस कारण स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि "साधारण रूप से" शब्दों से पहले "अनिवार्य" शब्द आता है और यह स्पष्ट है कि यू.जी.सी. के 2009 और 2010 के विनियमों द्वारा इस निदेश की भाषा का अनुसरण भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से किया गया है ।

18. अनुच्छेद 14 पर आधारित दलीलों को भी समान रूप से नामंजूर करना होगा । यह स्पष्ट है कि यू.जी.सी. के 2009/2010 के

विनियमों के साथ पठित केन्द्रीय सरकार के निदेशों का उद्देश्य उच्चतर शिक्षा के स्तर में उत्कृष्टता बनाए रखना है । इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, राष्ट्रीय पात्रता परीक्षा उत्तीर्ण करने संबंधी न्यूनतम पात्रता शर्त अधिकथित की गई है । यह सही है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा इससे पूर्व अधिकथित छूटें हो सकती हैं किन्तु केन्द्रीय सरकार अब नीति स्वरूप यह महसूस करती है कि इसमें छूट देना विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा शासित विश्वविद्यालयों/ महाविद्यालयों/संस्थाओं में शिक्षण स्तर की उत्कृष्टता के साथ समझौता करना होगा । स्पष्टतः, इसमें कुछ भी मनमाना या विभेदकारी नहीं है - वास्तव में, यह देखना विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का प्रमुख कृत्य है कि ऐसे स्तर कम न होने पाएं ।"

20. अतः, उपर्युक्त निर्णय से यह स्पष्ट होता है कि प्राध्यापक के पद पर नियुक्ति के लिए अब नेट अर्हता न्यूनतम अर्हता है और एम. फिल. डिग्री धारकों को अनुदत्त छूट वापस ले ली गई है और छूट केवल ऐसे पीएच.डी. डिग्री धारकों को अनुज्ञात है जिन्होंने 11 जुलाई, 2009 के विनियमों, अर्थात् यू.जी.सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 के अनुसार पीएच.डी. डिग्री अभिप्राप्त की है । यद्यपि, उच्च न्यायालय द्वारा इस पहलू की अवेक्षा नहीं की गई है किन्तु चूंकि विद्वान् एकल न्यायाधीश ने रिट याची के मामले पर ऐसी एम. फिल. डिग्री के आधार पर, जो कि उनके द्वारा दूरस्थ शिक्षा पद्धति द्वारा वर्ष 2009 से पूर्व अभिप्राप्त की गई थी, विचार करने का निदेश दिया है इसलिए यह आवश्यक है कि उस पद के लिए उनकी पात्रता की परीक्षा यू.जी.सी. (नियुक्ति के लिए न्यूनतम अर्हता) विनियम 2009 पर विचार करते हुए की जाए । अतिथि प्राध्यापकों के लिए विज्ञापन और चयन का संचालन वर्ष 2012 में किया गया था जब यू. जी. सी. (न्यूनतम मानक और प्रक्रिया) विनियम, 2009 और यू.जी.सी. (नियुक्ति के लिए न्यूनतम अर्हता) विनियम, 2009 दोनों लागू थे ।

21. अभिलेख पर ऐसी कोई सामग्री नहीं है कि क्या विद्वान् एकल न्यायाधीश के निर्णय के पश्चात् रिट याचियों का परिणाम घोषित किया गया था और उनका चयन किया गया था या उन्हें नियुक्त किया गया था । इस न्यायालय ने 16 अगस्त, 2003 का एक अंतरिम आदेश भी पारित किया है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय के निर्णय के प्रवर्तन को तीन मास की अवधि के लिए रोक दिया गया था । अंतरिम आदेश को विस्तारित करते हुए कोई अगला आदेश पारित नहीं किया गया है ।

22. अतः, हमारा यह मत है कि इस अपील में उच्च न्यायालय के निर्णय में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि अपीलों का निपटारा इस निदेश के साथ किया जाता है कि रिट याची की पात्रता के संबंध में यू.जी.सी. (नियुक्ति के लिए न्यूनतम अर्हता) विनियम 2009 को भी विचार में लेते हुए किया जाए ।

23. तद्नुसार दोनों अपीलों का निपटारा किया जाता है ।

अपीलों का तद्नुसार निपटारा किया गया ।

ग्रो.

[2018] 3 उम. नि. प. 153

राजेन्द्र राजोरिया

बनाम

जगत नारायण थापक और एक अन्य

23 फरवरी, 2018

न्यायमूर्ति एन. वी. रमना और न्यायमूर्ति एस. अब्दुल नज़ीर

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 398 – न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा खारिज किए गए परिवाद में सेशन न्यायालय द्वारा आगे जांच करने का आदेश देते हुए मामला प्रतिप्रेषित किया जाना – मामले के गुणागुण पर कारणों का उल्लेख किया जाना – सेशन न्यायालय द्वारा गुणागुण के आधार पर की गई ऐसी मताभिव्यक्तियां संज्ञान करने की कोटि में नहीं आती हैं, अतः उच्च न्यायालय द्वारा सेशन न्यायालय के आदेश का स्पष्ट रूप से गलत अर्थान्वयन करने के कारण उसके आदेश को कायम नहीं रखा जा सकता है ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 190(1) – अपराध का संज्ञान – मजिस्ट्रेट को परिवाद पर कार्यवाही करने के लिए समाधानप्रद आधारों के बारे में अपना समाधान कर लेना चाहिए तथा मजिस्ट्रेट के लिए विस्तारपूर्वक कारण देना अपेक्षित नहीं है किंतु संज्ञान करने वाले आदेश में उसके समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर स्वतंत्रतापूर्वक मस्तिष्क का

प्रयोग किया जाना अवश्य प्रतिबिम्बित होना चाहिए ।

अपील के तथ्य इस प्रकार हैं कि अपीलार्थी द्वारा अधिकारिता रखने वाले पुलिस थाने में भारतीय दंड संहिता और अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां (अत्याचार निवारण) अधिनियम के अधीन यह अभिकथन करते हुए एक शिकायत दर्ज की गई कि कतिपय व्यक्तियों ने प्रत्यर्थी सं. 1 को उसकी भूमि बेची और कपट तथा कूटरचना करके उसकी संपत्ति का नामांतरण करा लिया और गंभीर परिणाम भुगतने की धमकी भी दी तथा उसकी जाति को लेकर गालियां भी दीं । संबंधित पुलिस थाने ने पूर्वोक्त शिकायत पर कोई कार्रवाई नहीं की । अपीलार्थी ने पुलिस की निष्क्रियता से व्यथित होकर अधिकारिता मजिस्ट्रेट, ग्वालियर के समक्ष दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 200 के अधीन उन्हीं तथ्यों के साथ परिवाद फाइल किया । न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी, ग्वालियर द्वारा पूर्वोक्त दांडिक परिवाद को इस आधार पर खारिज कर दिया कि अपीलार्थी/परिवादी द्वारा उपलब्ध कराए गए अभिलेख पर यह साबित करने के लिए पर्याप्त सबूत नहीं है कि वह अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति से संबंध रखता है तथा पक्षकारों के बीच जो विवाद है उसमें सिविल प्रकृति की बातें हैं । अपीलार्थी ने दांडिक परिवाद की पूर्वोक्त खारिजी से व्यथित होकर अतिरिक्त जिला और सेशन न्यायाधीश के समक्ष समावेदन किया । सेशन न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि परिवादी जाटव समुदाय का है जो कि एक अनुसूचित जाति है । सेशन न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया कि वर्णित तथ्यों से यह प्रतिबिंबित होता है कि प्रत्यर्थी सं. 1 ने अन्य व्यक्तियों के साथ षड्यंत्र करके अपीलार्थी की भूमि को अवैध रीति में अंतरित किया था । उसके पश्चात्, यह निष्कर्ष निकाला कि निचले न्यायालय ने तथ्यों तथा विधि का उचित रीति में मूल्यांकन नहीं किया है और मामले को प्रतिप्रेषित कर दिया । मामला प्रतिप्रेषित होने पर, न्यायिक मजिस्ट्रेट ने भारतीय दंड संहिता और अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति अधिनियम के अधीन अपराधों का संज्ञान लेते हुए परिवाद को दांडिक मामले के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया । इसी बीच, प्रत्यर्थी ने सेशन न्यायालय द्वारा पारित प्रतिप्रेषण आदेश और मजिस्ट्रेट के संज्ञान लेने वाले आदेश से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन मंजूर किया और परिवाद को इस कारण से

अभिखंडित कर दिया कि पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा मामले में संज्ञान नहीं लिया जाना चाहिए था क्योंकि इससे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 398 का अतिक्रमण होता है । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – पुनरीक्षण शक्ति का प्रयोग या तो सेशन न्यायालय द्वारा या उच्च न्यायालय द्वारा किया जाता है और मजिस्ट्रेट द्वारा परिवाद की दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 203 के अधीन खारिजी को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन दांडिक पुनरीक्षण में चुनौती दी जा सकती है । पुनरीक्षण अधिकारिता की परिधि सुस्थिर है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 में सेशन न्यायाधीश को अपनी स्थानीय अधिकारिता के अन्दर स्थित किसी अधीनस्थ दंड न्यायालय के समक्ष की किसी कार्यवाही के अभिलेख को, किसी अभिलिखित या पारित किए गए निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश की शुद्धता, वैधता या औचित्य के बारे में और ऐसे अधीनस्थ न्यायालय की किन्हीं कार्यवाहियों की नियमितता के बारे में अपना समाधान करने के प्रयोजन से, मंगा सकता है और उसकी परीक्षा कर सकता है । पुनरीक्षण करने की शक्ति की सीमा, अन्य बातों के साथ-साथ, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 401 के साथ पठित धारा 399 के अधीन उपबंधित है । पूर्वोक्त उपबंधों से यह स्पष्ट है कि धारा 398 अन्य धाराओं के साथ पढ़ी जानी चाहिए, जो सेशन न्यायालय के समक्ष फाइल किए गए पुनरीक्षण आवेदन पर समान रूप से लागू होती हैं । धारा 398 केवल आगे जांच करने का निदेश देने की सुभिन्न शक्ति से संबंधित है, जबकि धारा 397 सपठित धारा 399 और धारा 401 में पुनरीक्षण प्राधिकारी को किसी निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश की शुद्धता, वैधता या औचित्य के बारे में परीक्षा करने की शक्ति प्रदत्त की गई है । सेशन न्यायालय के निर्णय का परिशीलन करने पर इस न्यायालय की यह राय है कि सेशन न्यायालय ने संज्ञान करने वाला आदेश पारित नहीं किया था । सेशन न्यायालय के आदेश का अर्थान्वयन केवल आगे जांच करने के लिए एक प्रतिप्रेषण आदेश के रूप में किया जाना चाहिए । सेशन न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्तियों का औचित्य केवल प्रतिप्रेषण के लिए है और ये मताभिव्यक्तियां संज्ञान करने की कोटि में नहीं आती हैं । उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए, उच्च न्यायालय ने सेशन न्यायालय के आदेश का स्पष्ट रूप से गलत अर्थान्वयन किया है और गलत आधार पर कार्यवाही की है । दूसरी ओर, पुनरीक्षण

न्यायालय ने भी मजिस्ट्रेट के न्यायालय को इस सीमा तक प्रभावित करके गलती की है कि वह प्रतिप्रेषित मामले पर विचार करते समय सेशन न्यायालय के निष्कर्षों को ध्यान में रखेगा । उच्च न्यायालय के समक्ष यह भ्रम इस तथ्य के कारण सृजित हुआ था कि प्रतिप्रेषण आदेश में विचारण न्यायालय को आगे जांच करने और उसके पश्चात् आदेशिका जारी करने पर विचार करने का विवेकाधिकार दिया गया है । प्रस्तुत मामले में, उच्च न्यायालय ने संज्ञान करने और समन जारी करने के बीच विरोधाभास का मूल्यांकन किए बिना ही परिवाद को विधि के गलत निर्वचन के आधार पर अभिखण्डित कर दिया । उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए, उच्च न्यायालय का आक्षेपित आदेश विधि की दृष्टि से कायम नहीं रखा जा सकता है । (पैरा 12, 13 और 15)

मजिस्ट्रेट को संज्ञान करते समय परिवाद पर कार्यवाही करने के लिए समाधानप्रद आधारों के बारे में अपना समाधान करना चाहिए और इस प्रक्रम पर इस बात पर विचार नहीं किया जाना चाहिए कि दोषसिद्धि के लिए पर्याप्त आधार है या नहीं । यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि मजिस्ट्रेट के लिए संज्ञान करने के प्रक्रम पर विस्तारपूर्वक कारण अभिलिखित करना भी अपेक्षित नहीं है किंतु आदेश से मजिस्ट्रेट द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत सामग्री पर स्वतंत्रतापूर्वक मस्तिष्क का प्रयोग करना प्रतिबिंबित होना चाहिए । विद्वान् मजिस्ट्रेट के संज्ञान करने वाले आदेश का परिशीलन करने पर यह स्पष्ट है कि विद्वान् मजिस्ट्रेट ने यह मत व्यक्त किया है कि सेशन न्यायालय ने पहले ही प्रथम दृष्ट्या मामला बनाया है । ऐसे निष्कर्ष को कायम रखना मुश्किल है क्योंकि पुनरीक्षण न्यायालय ने मामले के प्रतिप्रेषण को अग्रसर करते हुए केवल कतिपय पहलुओं का अवलोकन किया है । मजिस्ट्रेट द्वारा ऐसी मताभिव्यक्तियां नहीं की जानी चाहिएं थी क्योंकि संज्ञान करते समय उससे स्वतंत्र रूप से मस्तिष्क का प्रयोग करने की प्रत्याशा की जाती है । (पैरा 16 और 17)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2012]	(2012) 3 एस. सी. सी. 64 : **सुब्रामणियन स्वामी** बनाम **मनमोहन सिंह और एक अन्य** ।	16

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2018 की दांडिक अपील सं. 312.

2013 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 104 में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय, ग्वालियर न्यायपीठ के तारीख 8 जुलाई, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री राज किशोर चौधरी, शकील अहमद और ए. के. श्रीवास्तव

प्रत्यर्थियों की ओर से — (सुश्री) प्राची मिश्रा, सर्वश्री अर्जुन गर्ग, चैतन्य, सुनीत पाधी, (सुश्री) प्रज्ञा गर्ग, हर्षवर्धन झा, (सुश्री) मयूरी शुक्ला और आदर्श उपाध्याय

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एन. वी. रमना ने दिया ।

न्या. रमना – इजाजत दी गई ।

2. इस दांडिक अपील में 2013 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 104 में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय, ग्वालियर न्यायपीठ द्वारा तारीख 8 जुलाई, 2014 को पारित किया गया निर्णय आक्षेपित है ।

3. इस अपील में अपीलार्थी ने अधिकारिता रखने वाले पुलिस थाने के समक्ष यह अभिकथन करते हुए भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 420, 466, 468, 471, 120ख और 506 तथा अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 के अधीन एक शिकायत फाइल की कि श्रीमती विद्याबाई और अन्य व्यक्तियों ने प्रत्यर्थी सं. 1 को विवादग्रस्त भूमि बेची और कपट तथा कूटरचना करके अपीलार्थी की संपत्ति का नामांतरण करा लिया । यह भी अभिकथन किया गया कि प्रत्यर्थियों ने अपीलार्थी को गंभीर परिणाम भुगतने की धमकी भी दी और उसकी जाति/जनजाति को नीचा करने के आशय से उन्हें गंदी भाषा में गाली दी । यह उल्लेखनीय है कि संबंधित पुलिस थाने ने पूर्वोक्त शिकायत पर कोई कार्रवाई नहीं की ।

4. अपीलार्थी ने पुलिस की निष्क्रियता से व्यथित होकर अधिकारिता मजिस्ट्रेट, ग्वालियर के समक्ष दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 200 के अधीन उन्हीं तथ्यों के साथ समावेदन किया ।

5. न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी, ग्वालियर द्वारा तारीख 21 अप्रैल, 2012 के आदेश द्वारा पूर्वोक्त दांडिक परिवाद को इस आधार पर खारिज कर दिया कि अपीलार्थी/परिवादी द्वारा उपलब्ध कराए गए अभिलेख पर यह साबित करने के लिए पर्याप्त सबूत नहीं है कि वह अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति से संबंध रखता है तथा पक्षकारों के बीच जो विवाद है उसमें सिविल प्रकृति की बाते हैं ।

6. अपीलार्थी ने दांडिक परिवाद की पूर्वोक्त खारिजी से व्यथित होकर 2012 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 242 में अतिरिक्त जिला और सेशन न्यायाधीश (जिसे इसमें इसके पश्चात् संक्षेप में "सेशन न्यायालय" कहा गया है) के समक्ष समावेदन किया । सेशन न्यायालय ने तारीख 7 दिसंबर, 2012 के आदेश द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि परिवादी जाटव समुदाय का है जो कि एक अनुसूचित जाति है । सेशन न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया कि वर्णित तथ्यों से यह प्रतिबिंबित होता है कि प्रत्यर्थी सं. । ने अन्य व्यक्तियों के साथ षड्यंत्र करके अपीलार्थी की भूमि को अवैध रीति में अंतरित किया था । उसके पश्चात्, यह निष्कर्ष निकाला कि निचले न्यायालय ने तथ्यों तथा विधि का उचित रीति में मूल्यांकन नहीं किया है और मामले को निम्नलिखित रीति में प्रतिप्रेषित कर दिया :–

> "यह पुनरीक्षण मंजूर किया जाता है और न्यायालय द्वारा पारित 21 जुलाई, 2012 का आदेश अपास्त किया जाता है और मामला इस निदेश के साथ प्रतिप्रेषित किया जाता है कि यदि आवश्यक हो तो इस आदेश में दिए गए निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए आगे जांच करने के पश्चात् परिवाद के रजिस्ट्रीकरण की बाबत उचित आदेश पारित किया जाए और प्रत्यर्थियों को समन किया जाए तथा इसके लिए पक्षकारों को तारीख 20 दिसंबर, 2012 को निचले न्यायालय के समक्ष हाजिर रहने का निदेश दिया जाए ।"

(बल देने के लिए रेखांकित किया गया है)

7. मामला प्रतिप्रेषित होने पर, न्यायिक मजिस्ट्रेट ने भारतीय दंड संहिता की धारा 420, 467, 471, 120ख और अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति अधिनियम की धारा 3(1)(4) के अधीन पूर्वोक्त अपराधों का संज्ञान लेते हुए तारीख 23 जनवरी, 2013 के आदेश द्वारा परिवाद को 2013 के दांडिक मामला सं. 1576 के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया और

विद्वान् मजिस्ट्रेट ने तारीख 23 फरवरी, 2013 को निम्नलिखित उल्लेख किया :–

"..... न्यायालय के लिए प्रथम दृष्ट्या यह विनिश्चय करना अपेक्षित है कि कार्यवाही आरंभ करने का प्रश्न उद्भूत होता है या नहीं । यह प्रासंगिक है कि इस मामले में विद्वान् पुनरीक्षण न्यायालय ने गैर-आवेदकों के विरुद्ध कार्यवाही आरंभ करने के लिए प्रथम दृष्ट्या पहले ही पर्याप्त आधार पाया है ।"

(बल देने के लिए रेखांकित किया गया है)

8. इसी बीच, प्रत्यर्थी ने सेशन न्यायालय द्वारा तारीख 7 दिसंबर, 2012 को पारित प्रतिप्रेषण आदेश और मजिस्ट्रेट के तारीख 23 जनवरी, 2013 के संज्ञान लेने वाले आदेश से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण आवेदन, 2013 का दांडिक पुनरीक्षण सं. 104, फाइल किया । उच्च न्यायालय ने तारीख 8 जुलाई, 2014 के आक्षेपित निर्णय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन मंजूर किया और परिवाद को इस कारण से अभिखण्डित कर दिया कि पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा तारीख 23 जनवरी, 2013 को संज्ञान नहीं लिया जाना चाहिए था क्योंकि इससे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 398 का अतिक्रमण होता है ।

9. हमने दोनों पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेलों को सुना ।

10. जिन प्रश्नों पर विचार करना है, वे सेशन न्यायालय द्वारा पारित प्रतिप्रेषण आदेश और उसके पश्चात् विद्वान् मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान लेने वाले आदेश की वैधता के विषय में हैं । क्योंकि उच्च न्यायालय ने दोनों आदेशों की विधिमान्यता पर विचार किया है, इसलिए हम इन पर क्रमानुसार प्रतिप्रेषण आदेश की वैधता से आरंभ करके विचार करना चाहेंगे ।

11. प्रत्यर्थी ने यह दलील दी कि विद्वान् सेशन न्यायाधीश गुणागुण के आधार पर मत व्यक्त नहीं कर सकता था, क्योंकि ऐसा करना मामले का संज्ञान करने की कोटि में आता है । ऐसी दलीलें यद्यपि आकर्षक प्रतीत होती हैं, किंतु इन्हें इस कारण से नामंजूर किया जाना चाहिए कि पुनरीक्षण न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 398 के अधीन केवल आगे जांच करने का आदेश करने के लिए कारण दिए थे और यह नहीं कहा जा

सकता है कि गुणागुण के आधार पर की गई इन मताभिव्यक्तियों का इस मामले में संज्ञान करने पर कोई प्रभाव पड़ा है ।

12. प्रारंभ में, इससे पूर्व कि हम प्रतिप्रेषण के आदेश की वैधता का विनिश्चय करें, हमारे लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 398 के साथ पठित धारा 397 के अधीन दांडिक पुनरीक्षण की व्याप्ति का अवधारण करना अपेक्षित है । यहां पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 और 398 को उद्धृत करना समुचित होगा :–

> **धारा 397. पुनरीक्षण की शक्तियों का प्रयोग करने के लिए अभिलेख मंगाना** – (1) उच्च न्यायालय या कोई सेशन न्यायाधीश अपनी स्थानीय अधिकारिता के अन्दर स्थित किसी अवर दंड न्यायालय के समक्ष की किसी कार्यवाही के अभिलेख को, किसी अभिलिखित या पारित किए गए निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश की शुद्धता, वैधता या औचित्य के बारे में और ऐसे अवर न्यायालय की किन्हीं कार्यवाहियों की नियमितता के बारे में अपना समाधान करने के प्रयोजन से, मंगा सकता है और उसकी परीक्षा कर सकता है और ऐसा अभिलेख मंगाते समय निदेश दे सकता है कि अभिलेख की परीक्षा लंबित रहने तक किसी दंडादेश का निष्पादन निलंबित किया जाए और यदि अभियुक्त परिरोध में है तो उसे जमानत पर या उसके अपने बंधपत्र पर छोड़ दिया जाए ।
>
> **स्पष्टीकरण** – सभी मजिस्ट्रेट, चाहे वे कार्यपालक हों या न्यायिक और चाहे वे आरंभिक अधिकारिता का प्रयोग कर रहे हों, या अपीली अधिकारिता का, इस उपधारा के और धारा 398 के प्रयोजनों के लिए सेशन न्यायाधीश से अवर समझे जाएंगे ।
>
> **398. जांच करने का आदेश देने की शक्ति** – किसी अभिलेख की धारा 397 के अधीन परीक्षा करने पर या अन्यथा उच्च न्यायालय या सेशन न्यायाधीश, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को निदेश दे सकता है कि वह, ऐसे किसी परिवाद की, जो धारा 203 या धारा 204 की उपधारा (4) के अधीन खारिज कर दिया गया है, या किसी अपराध के अभियुक्त ऐसे व्यक्ति के मामले की, जो उन्मोचित कर दिया गया है, अतिरिक्त जांच स्वयं करे या अपने अधीनस्थ मजिस्ट्रेटों में से किसी के द्वारा कराए तथा मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ऐसी अतिरिक्त जांच स्वयं कर

सकता है या उसे करने के लिए अपने किसी अधीनस्थ मजिस्ट्रेट को निदेश दे सकता है :

परन्तु कोई न्यायालय किसी ऐसे व्यक्ति के मामले में, जो उन्मोचित कर दिया गया है, इस धारा के अधीन जांच करने का कोई निदेश तभी देगा जब इस बात का कारण दर्शित करने के लिए कि ऐसा निदेश क्यों नहीं दिया जाना चाहिए, ऐसे व्यक्ति को अवसर मिल चुका हो ।

पूर्वोक्त उपबंधों के परिशीलन से यह प्रतिबिंबित होता है कि पुनरीक्षण शक्ति का प्रयोग या तो सेशन न्यायालय द्वारा या उच्च न्यायालय द्वारा किया जाता है और मजिस्ट्रेट द्वारा परिवाद की दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 203 के अधीन खारिजी को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन दांडिक पुनरीक्षण में चुनौती दी जा सकती है । पुनरीक्षण अधिकारिता की परिधि सुस्थिर है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 में सेशन न्यायाधीश को अपनी स्थानीय अधिकारिता के अन्दर स्थित किसी अधीनस्थ दंड न्यायालय के समक्ष की किसी कार्यवाही के अभिलेख को, किसी अभिलिखित या पारित किए गए निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश की शुद्धता, वैधता या औचित्य के बारे में और ऐसे अधीनस्थ न्यायालय की किन्हीं कार्यवाहियों की नियमितता के बारे में अपना समाधान करने के प्रयोजन से, मंगा सकता है और उसकी परीक्षा कर सकता है ।

13. पुनरीक्षण करने की शक्ति की सीमा, अन्य बातों के साथ-साथ, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 401 के साथ पठित धारा 399 के अधीन उपबंधित है । पूर्वोक्त उपबंधों से यह स्पष्ट है कि धारा 398 अन्य धाराओं के साथ पढ़ी जानी चाहिए, जो सेशन न्यायालय के समक्ष फाइल किए गए पुनरीक्षण आवेदन पर समान रूप से लागू होती हैं । धारा 398 केवल आगे जांच करने का निदेश देने की सुभिन्न शक्ति से संबंधित है, जबकि धारा 397 सपठित धारा 399 और धारा 401 में पुनरीक्षण प्राधिकारी को किसी निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश की शुद्धता, वैधता या औचित्य के बारे में परीक्षा करने की शक्ति प्रदत्त की गई है ।

14. हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में यह गलत निष्कर्ष निकाला है कि सेशन न्यायालय ने स्वयं मामले

का संज्ञान किया था । इसे निम्न प्रकार से उद्धृत किया जा सकता है :–

> "इस उपबंध के परिशीलन मात्र से यह स्पष्ट है कि आक्षेपित आदेश संहिता की धारा 398 के अधीन पारित नहीं किया जा सकता है । विधान-मंडल द्वारा इस उपबंध में 'निदेश दे सकेगा' शब्द प्रयोग किया गया है । यह शब्द न्यायालय को आगे जांच करने का आदेश देने का व्यापक विवेकाधिकार देता है । सेशन न्यायालय को अपराध का संज्ञान करने, अपराध का निर्धारण करने और अपने इस निष्कर्ष पर पहुंचने की शक्ति नहीं है कि परिवाद पर कार्यवाही करने का आधार है या नहीं और फिर प्रथम दृष्ट्या मामला पाए जाने पर मजिस्ट्रेट को परिवाद का रजिस्ट्रीकरण करने की बाबत निदेश दे ।"
>
> (बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

15. सेशन न्यायालय के निर्णय (ऊपर उद्धृत) का परिशीलन करने पर हमारी यह राय है कि सेशन न्यायालय ने संज्ञान करने वाला आदेश पारित नहीं किया था । सेशन न्यायालय के आदेश का अर्थान्वयन केवल आगे जांच करने के लिए एक प्रतिप्रेषण आदेश के रूप में किया जाना चाहिए । सेशन न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्तियों का औचित्य केवल प्रतिप्रेषण के लिए है और ये मताभिव्यक्तियां संज्ञान करने की कोटि में नहीं आती हैं । उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए, उच्च न्यायालय ने सेशन न्यायालय के आदेश का स्पष्ट रूप से गलत अर्थान्वयन किया है और गलत आधार पर कार्यवाही की है । दूसरी ओर, पुनरीक्षण न्यायालय ने भी मजिस्ट्रेट के न्यायालय को इस सीमा तक प्रभावित करके गलती की है कि वह प्रतिप्रेषित मामले पर विचार करते समय सेशन न्यायालय के निष्कर्षों को ध्यान में रखेगा । उच्च न्यायालय के समक्ष यह भ्रम इस तथ्य के कारण सृजित हुआ था कि प्रतिप्रेषण आदेश में विचारण न्यायालय को आगे जांच करने और उसके पश्चात् आदेशिका जारी करने पर विचार करने का विवेकाधिकार दिया गया है । प्रस्तुत मामले में, उच्च न्यायालय ने संज्ञान करने और समन जारी करने के बीच के विरोधाभास का मूल्यांकन किए बिना ही परिवाद को विधि के गलत निर्वचन के आधार पर अभिखण्डित कर दिया । उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए, उच्च न्यायालय का आक्षेपित आदेश विधि की दृष्टि से कायम नहीं रखा जा सकता है ।

16. अब मामले का संज्ञान करने वाले विद्वान् मजिस्ट्रेट के आदेश की वैधता विषयक द्वितीय पहलू पर आते हैं । संज्ञान करते समय मजिस्ट्रेट के लिए अपेक्षित मानदंड को इस न्यायालय द्वारा अनेक निर्णयों में भली-भांति स्थिर किया गया है । **सुब्रामणियन स्वामी** बनाम **मनमोहन सिंह और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने "संज्ञान" शब्द के अर्थ को यह अभिनिर्धारित करते हुए स्पष्ट किया है कि " .... संज्ञान, विधिक बोलचाल में, अधिकारिता रखने वाले न्यायालय द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत किसी वाद या मामले पर न्यायिक अवेक्षा करना है जिससे कि यह विनिश्चय किया जा सके कि क्या कार्यवाहियां आरंभ करने के लिए और वाद या मामले का न्यायिकतः अवधारण करने के लिए कोई आधार है या नहीं" । हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि मजिस्ट्रेट को संज्ञान करते समय परिवाद पर कार्यवाही करने के लिए समाधानप्रद आधारों के बारे में अपना समाधान करना चाहिए और इस प्रक्रम पर इस बात पर विचार नहीं किया जाना चाहिए कि दोषसिद्धि के लिए पर्याप्त आधार है या नहीं । यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि मजिस्ट्रेट के लिए संज्ञान करने के प्रक्रम पर विस्तारपूर्वक कारण अभिलिखित करना भी अपेक्षित नहीं है किंतु आदेश से मजिस्ट्रेट द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत सामग्री पर स्वतंत्रतापूर्वक मस्तिष्क का प्रयोग करना प्रतिबिंबित होना चाहिए ।

17. विद्वान् मजिस्ट्रेट के संज्ञान करने वाले आदेश का परिशीलन करने पर यह स्पष्ट है कि विद्वान् मजिस्ट्रेट ने यह मत व्यक्त किया है कि सेशन न्यायालय ने पहले ही प्रथम दृष्ट्या मामला बनाया है । ऐसे निष्कर्ष को कायम रखना मुश्किल है क्योंकि पुनरीक्षण न्यायालय ने मामले के प्रतिप्रेषण को अग्रसर करते हुए केवल कतिपय पहलुओं का अवलोकन किया है । मजिस्ट्रेट द्वारा ऐसी मताभिव्यक्तियां नहीं की जानी चाहिएं थी क्योंकि संज्ञान करते समय उससे स्वतंत्र रूप से मस्तिष्क का प्रयोग करने की प्रत्याशा की जाती है । प्रस्तुत मामले में, हम मजिस्ट्रेट के संज्ञान करते समय व्यक्तिपरक समाधान का पुनर्विलाकन करने के लिए अपील न्यायालय पर परिसीमा को मान्य ठहराते हैं, किंतु जब तक ऐसा स्वतंत्र समाधान आदेश में प्रतिबिंबित न होता हो, उसे कायम रखा जाना मुश्किल होगा । इस बारे में कोई विवाद नहीं है कि न्याय केवल किया ही नहीं

---

[1] (2012) 3 एस. सी. सी. 64.

जाना चाहिए अपितु स्पष्ट रूप से और असंदिग्ध रूप से किया गया भी दिखाई पड़ना चाहिए । हमारी सांविधानिक परंपरा में यह स्थिर है कि हमने हमारी दांडिक न्याय व्यवस्था में सारभूत निष्पक्षता तथा प्रक्रिया संबंधी निष्पक्षता दोनों को ऐसे विनिश्चयों के करने में जिनसे अधिकार, हित और विधिसम्मत प्रत्याशाओं पर प्रभाव पड़ता है, प्रक्रिया संबंधी निष्पक्षता बरतने के अर्थ में, केवल किसी प्रतिकूल सांविधिक आशय के स्पष्ट प्रकटीकरण के अध्यधीन रहते हुए, आत्मसात् किया है ।

18. इस मुद्दे से अलग, हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि समस्त भारत में मजिस्ट्रेटों को अनेक अवसरों पर इस न्यायालय के ठोस पूर्व-निर्णयों द्वारा इस बाबत अपने न्यायिक मस्तिष्क का प्रयोग करते समय अत्यधिक सतर्कता बरतने के लिए मार्गदर्शित किया जाता रहा है । दुर्भाग्यवश, हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि अनेक मामलों में, जो हमारे समक्ष लाए जाते हैं, अन्यथा प्रतिबिंबित होता है ।

19. हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया गया कि एक सिविल न्यायालय ने बाद में श्रीमती विद्याबाई और अन्य व्यक्तियों द्वारा जगत नारायण थापक के पक्ष में निष्पादित विक्रय विलेख को अकृत और शून्य घोषित कर दिया गया था । इसके अतिरिक्त, हमें मामले के गुणागुण पर सेशन न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्तियों से भी अवगत कराया गया है । किंतु हम उन विवाद्यकों पर विचार करना नहीं चाहते हैं ।

20. उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए, यह अपील मंजूर की जाती है और आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है । तद्नुसार, विचारण न्यायालय द्वारा परिवाद पर नए सिरे से विचार किया जाए । इस मामले से विलग होने से पूर्व हम यह स्पष्ट कर सकते हैं कि विचारण न्यायालय को इस न्यायालय द्वारा वर्तमान अपील का विनिश्चय करने के प्रयोजन के लिए की गई किन्हीं मताभिव्यक्तियों से प्रभावित हुए बिना मामले में कार्यवाही करने का निदेश दिया जाता है ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

जाएगा कि वह इस अधिनियम के अधीन व्यवसाय करने के हकदार नोटेरी के प्रति निर्देश है ।

12. **नोटेरी के रूप मिथ्या व्यपदेशन के लिए शास्ति** – कोई व्यक्ति जो –

(क) नोटेरी के रूप में नियुक्त हुए बिना यह मिथ्या व्यपदेशन करेगा कि वह नोटेरी है, या

(ख) नोटेरी के रूप में व्यवसाय करेगा या धारा 9 के उल्लंघन में नोटेरी का कोई काम करेगा,

वह कारावास से, जिसकी अवधि [1][एक वर्ष] तक की हो सकेगी, या जुर्माने से, या दोनों से दंडनीय होगा ।

13. **अपराधों का संज्ञान** – (1) कोई न्यायालय केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा साधारण या विशेष आदेश द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी अधिकारी द्वारा लिखित रूप में किए गए परिवाद के सिवाय इस अधिनियम के अधीन किसी नोटेरी द्वारा उसके कृत्यों के तात्पर्यित प्रयोग या प्रयोग में किए गए किसी अपराध का संज्ञान नहीं करेगा ।

(2) प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट से भिन्न कोई मजिस्ट्रेट इस अधिनियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध का विचारण नहीं करेगा ।

14. **विदेशी नोटेरियों द्वारा किए गए नोटेरी कामों की मान्यता के लिए व्यतिकारी व्यवस्था** – यदि केन्द्रीय सरकार का यह समाधान हो जाता है कि भारत से बाहर किसी देश या स्थान की विधि या पद्धति द्वारा, भारत के अन्दर नोटेरियों द्वारा किए गए नोटेरी के कार्य उस देश या स्थान में सभी या किन्हीं सीमित प्रयोजनों के लिए मान्यताप्राप्त हैं तो, केन्द्रीय सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा यह घोषित कर सकती है कि ऐसे देश या स्थान के अन्दर नोटेरियों द्वारा विधिपूर्णत: किए गए नोटेरी के कार्य

---

[1] 1999 के अधिनियम सं. 36 की धारा 6 द्वारा (17-12-1999 से) "तीन मास" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

भारत के अन्दर, यथास्थिति, सभी प्रयोजनों के लिए या सीमित प्रयोजनों के लिए, जैसा अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किया जाए, मान्यताप्राप्त होंगे ।

15. **नियम बनाने की शक्ति** – (1) केन्द्रीय सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, इस अधिनियम के प्रयोजनों को क्रियान्वित करने के लिए नियम बना सकती है ।

(2) विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे नियम निम्नलिखित सभी या किन्हीं बातों के लिए उपबंध कर सकते हैं, अर्थात् :–

(क) नोटेरी की अर्हताएं, वह प्ररूप और रीति जिससे नोटेरी के रूप में नियुक्ति के लिए आवेदन किए जा सकते हैं और ऐसे आवेदनों का निपटान ;

(ख) वे प्रमाणपत्र, प्रशंसापत्र या चरित्र, आर्जव, योग्यता और क्षमता के बारे में साक्ष्य जो नोटेरी के रूप में नियुक्ति के लिए आवेदन करने वाले व्यक्ति से देने की अपेक्षा की जाए ;

[1][(ग) नोटेरी के रूप में नियुक्ति के लिए और व्यवसाय के प्रमाणपत्र के जारी किए जाने और उसके नवीकरण के लिए, व्यवसाय के क्षेत्र या व्यवसाय के क्षेत्र के विस्तारण के लिए संदेय फीस और विनिर्दिष्ट वर्गों के मामलों में ऐसी फीस से पूर्णत: या भागत: छूट ;]

(घ) नोटेरी का काम करने के लिए किसी नोटेरी को संदेय फीस ;

(ङ) रजिस्टरों का प्ररूप और उनमें प्रविष्ट की जाने वाली विशिष्टियां ;

(च) नोटेरी की मुद्रा का प्ररूप और डिजाइन ;

(छ) वह रीति जिससे नोटेरियों के विरुद्ध वृत्तिक या अन्य अवचारों के अभिकथनों की जांच की जा सके ;

(ज) वे कार्य जो नोटेरी धारा 8 में विनिर्दिष्ट कामों के अतिरिक्त कर सकें और वह रीति जिससे नोटेरी अपने कृत्यों पर निर्वहन करें ;

---

[1] 1999 के अधिनियम सं. 36 की धारा 7 द्वारा (17-12-1999 से) खंड (ग) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(झ) कोई अन्य विषय जो विहित किया जाना है या विहित किया जाए ।

[1](3) इस अधिनियम के अधीन केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाया गया प्रत्येक नियम बनाए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र, संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष जब वह सत्र में हो, कुल तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा । यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी । यदि उस सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के सत्र के अवसान के पूर्व दोनों सदन उस नियम में कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं तो तत्पश्चात् वह ऐसे परिवर्तित रूप में ही प्रभावी होगा । यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह नियम नहीं बनाया जाना चाहिए तो तत्पश्चात् वह निष्प्रभाव हो जाएगा । किन्तु नियम के ऐसे परिवर्तित या निष्प्रभाव होने से उसके अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

16. [**1881 के अधिनियम 26 का संशोधन ।**] – 1957 के अधिनियम संख्यांक 36 की धारा 2 और प्रथम अनुसूची द्वारा निरसित ।

---

[1] 1983 के अधिनियम सं. 20 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-3-1984 से) अंत: स्थापित ।

संसद् के अधिनियम

मुखतारनामा अधिनियम, 1882

(1882 का अधिनियम संख्यांक 7)[1]

[24 फरवरी, 1882]

मुखतारनामों से सम्बन्धित विधि का संशोधन करने के लिए अधिनियम

मुखतारनामों से सम्बन्धित विधि का संशोधन करने के प्रयोजन के लिए एतद्द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित किया जाता है :–

1. **संक्षिप्त नाम** – इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम मुखतारनामा अधिनियम, 1882 है ;

स्थानीय विस्तार – इसका विस्तार [2][जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय] सम्पूर्ण भारत पर है ;

प्रारंभ – और यह 1882 की मई के प्रथम दिन को प्रवृत्त होगा ।

[3][**1क. परिभाषा** – इस अधिनियम में, "मुखतारनामा" के अन्तर्गत ऐसी लिखत भी है जो किसी विनिर्दिष्ट व्यक्ति को उस व्यक्ति की ओर से और उसके नाम से, जो उसका निष्पादन करता है, कार्य करने के लिए सशक्त करती है ।]

2. **मुखतारनामे के अधीन निष्पादन** – किसी मुखतारनामे का आदाता, यदि वह ठीक समझता है तो, मुखतारनामे के दाता के प्राधिकार से कोई

---

[1] दादरा और नागर हवेली (विधि) विनियम, 1963 (1963 का 6) की धारा 2 और अनुसूची 1 द्वारा दादरा और नागर हवेली पर 1965 के विनियम सं. 8 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा लक्कादीव, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीप पर और पांडिचेरी (विधि विस्तारण) अधिनियम, 1968 (1968 का 26) द्वारा पांडिचेरी पर विस्तार किया गया । यह अधिनियम का. आ. 650 (अ), तारीख 24.8.1984, भारत का राजपत्र, भाग 2, अनुभाग 3(ii) द्वारा सिक्किम राज्य में प्रवृत्त होगा ।

[2] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा "भाग ख राज्यों के सिवाय" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1982 के अधिनियम सं. 55 की धारा 2 द्वारा अंतःस्थापित ।

[1]*** लिखत या बात अपने नाम और हस्ताक्षर से और अपनी मुद्रा से, जहां मुद्रा लगाना अपेक्षित है, कर सकता है या निष्पादित कर सकता है ; और इस प्रकार निष्पादित और कृत प्रत्येक [1]*** लिखत और बात विधि में इस प्रकार प्रभावशील होगी मानो वह मुखतारनामे के आदाता द्वारा उसके दाता के नाम में और हस्ताक्षर और मुद्रा से कृत या निष्पादित है ।

यह धारा उन सभी मुखतारनामों को लागू होती है जो इस अधिनियम के प्रवृत्त होने के पूर्व या पश्चात् निष्पादित लिखतों द्वारा सृजित किए गए हैं ।

3. **मृत्यु आदि की सूचना के बिना मुखतारनामे के अधीन अटर्नी द्वारा किए गए संदायों का मान्य होना** – मुखतारनामे के अनुसरण में सद्भावपूर्वक संदाय या कार्य करने वाला कोई व्यक्ति उस संदाय या कार्य की बाबत इस कारण दायी नहीं होगा कि उस संदाय या कार्य के पहले, मुखतारनामे का दाता मर गया है या [2]*** विकृत चित्त [2]*** या शोधक्षम हो गया है या उसने मुखतारनामा प्रतिसंहृत कर लिया है, यदि मृत्यु [2]*** चित्तविकृति, [2]*** शोधक्षमता या प्रतिसंहरण का तथ्य संदाय या कार्य के समय उसे करने वाले व्यक्ति को ज्ञात नहीं था ।

किन्तु यह धारा इस प्रकार संदत्त किसी धन में हितबद्ध किसी व्यक्ति के ऐसे धन पाने वाले के विरुद्ध किसी अधिकार को प्रभावित नहीं करेगी, और उस व्यक्ति को ऐसे पाने वाले के विरुद्ध वैसा ही उपचार प्राप्त होगा जैसा कि उसे संदाय करने वाले के विरुद्ध प्राप्त होता, यदि उसके द्वारा संदाय नहीं किया जाता ।

यह धारा केवल उन्हीं संदायों और कार्यों को लागू होती है जो इस अधिनियम के प्रवृत्त होने के पश्चात् किए गए हैं ।

4. **मुखतारनामा सृजित करने वाली मूल लिखतों का जमा किया जाना** – (क) मुखतारनामा सृजित करने वाली लिखत, उसका निष्पादन शपथपत्र द्वारा, कानूनी घोषणा द्वारा या अन्य पर्याप्त साक्ष्य द्वारा सत्यापित करके, ऐसे शपथपत्र या घोषणा सहित, यदि कोई हो, उस उच्च न्यायालय

---

[1] 1982 के अधिनियम सं. 55 की धारा 3 द्वारा "हस्तांतरणपत्र" शब्द का लोप किया गया ।

[2] 1982 के अधिनियम सं. 55 की धारा 4 द्वारा "पागल", "या दिवालिया", "पागलपन" और "दिवालियापन" शब्दों का लोप किया गया ।

[1][या जिला न्यायालय] में जमा की जा सकती है जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के अन्दर वह लिखत हो ।

(ख) इस प्रकार जमा की गई लिखतों की एक पृथक् फाइल रखी जाएगी ; और कोई भी व्यक्ति उस फाइल की जांच कर सकता है, और इस प्रकार जमा की गई प्रत्येक लिखत का निरीक्षण कर सकता है; और अनुरोध किए जाने पर उसे उसकी एक प्रमाणित प्रति दी जाएगी ।

(ग) इस प्रकार जमा की गई किसी लिखत की प्रति कार्यालय में प्रस्तुत की जा सकती है और उसे प्रमाणित प्रति के रूप में स्टाम्पित या चिह्नित किया जा सकता है और इस प्रकार स्टाम्पित या चिह्नित कर दिए जाने पर वह प्रमाणित प्रति बन जाएगी और होगी ।

(घ) इस प्रकार जमा की गई किसी लिखत की प्रमाणित प्रति, बिना अतिरिक्त सबूत के, लिखत की अन्तर्वस्तु का और उच्च न्यायालय [1][या जिला न्यायालय] में उसके जमा किए जाने का पर्याप्त साक्ष्य होगी ।

(ङ) उच्च न्यायालय, समय-समय पर, इस धारा के प्रयोजनों के लिए, और राज्य सरकार की सहमति से, खण्ड (क), (ख) और (ग) के अधीन ली जाने वाली फीस विहित करने के लिए नियम बना सकता है ।

[2]* * * *

(छ) यह धारा मुखतारनामे सृजित करने वाली लिखतों को लागू होती है, चाहे वे इस अधिनियम के प्रवृत्त होने के पूर्व निष्पादित की गई हों या चाहे उसके पश्चात् ।

5. **विवाहित स्त्री का मुखतारनामा** – [3][किसी विवाहित स्त्री को, जो वयस्क है] इस अधिनियम के आधार पर, किसी निर्वसीयती लिखत द्वारा अपनी ओर से कोई निर्वसीयती लिखत निष्पादित करने के या कोई अन्य कार्य करने के प्रयोजन के लिए जो वह स्वतः निष्पादित कर सकती हो या अपनी ओर से उसी प्रकार एक अटर्नी नियुक्त करने की शक्ति होगी

---

[1] 1982 के अधिनियम सं. 55 की धारा 5 द्वारा अंतःस्थापित ।

[2] 1900 के अधिनियम सं. 6 की धारा 48 और अनुसूची 2 द्वारा खंड (च) निरसित ।

[3] 1982 के अधिनियम सं. 55 की धारा 6 द्वारा (22.10.1982 से) कपितय शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[1][मानो वह अविवाहित है] और मुखतारनामे को सृजित करने वाली लिखतों के सम्बन्ध में इस अधिनियम के उपबन्ध उसे लागू होंगे ।

यह धारा केवल उन्हीं लिखतों को लागू होती है जो इस अधिनियम के प्रवृत्त होने के पश्चात् निष्पादित किए गए हैं ।

6. [**1886 के अधिनियम सं. 28 की धारा 39 निरसित ।**] – संशोधन अधिनियम, 1891 (1891 का 12) की धारा 2 तथा अनुसूची द्वारा निरसित ।

---

[1] 1982 के अधिनियम सं. 55 की धारा 6 द्वारा (22.10.1982 से) कपितय शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

संसद् के अधिनियम

नोटेरी अधिनियम, 1952

(1952 का अधिनियम संख्यांक 53)[1]

नोटेरियों की वृत्ति को विनियमित
करने के लिए
अधिनियम

[9 अगस्त, 1952]

संसद् द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो :–

(1) **संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारम्भ** – (1) यह अधिनियम नोटेरी अधिनियम, 1952 कहा जा सकता है ।

(2) इसका विस्तार [2]*** सम्पूर्ण भारत पर है ।

(3) यह उस [3]तारीख को प्रवृत्त होगा जो केन्द्रीय सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, नियत करे ।

2. **परिभाषाएं** – इस अधिनियम में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, –

[4]* * * * *

(ख) "लिखत" के अन्तर्गत ऐसी प्रत्येक दस्तावेज है जिसके द्वारा कोई

---

[1] इस अधिनियम का 1962 के विनियम सं. 12 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा गोवा, दमण और दीव पर ; 1963 के विनियम सं. 6 की धारा 2 और अनुसूची 1 द्वारा दादरा और नागर हवेली पर, तथा 1968 के अधिनियम सं. 26 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा पांडिचेरी पर तथा का. आ. सं. 213(अ), तारीख 16-5-1975, भारत का राजपत्र, 1975, भाग 2, अनुभाग 3(ii) द्वारा (16-5-1975 से) सिक्किम राज्य पर विस्तार किया गया ।

[2] 1968 के अधिनियम सं. 25 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-8-1968 से) "जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय" शब्दों का लोप किया गया ।

[3] 14 फरवरी, 1956 ; अधिसूचना सं. सा. का. नि. 317, तारीख 10-2-1956, भारत का राजपत्र, 1956, असाधारण, भाग 2, अनुभाग 3, पृ. 179 देखिए ।

[4] 1968 के अधिनियम सं. 25 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-8-1968 से) खंड (क) का लोप किया गया ।

अधिकार या दायित्व का सृजन, अन्तरण, उपान्तरण, परिसीमन, विस्तार, निलम्बन, निर्वापन या अभिलेखन किया गया है या किया जाना तात्पर्यित है ;

[1][(ग) "विधि व्यवसायी" से अधिवक्ता अधिनियम, 1961 (1961 का 25) के उपबंधों के अधीन किसी नामावली में प्रविष्ट किया गया कोई अधिवक्ता अभिप्रेत है ।]

(घ) "नोटेरी" से इस अधिनियम के अधीन इस रूप में नियुक्त व्यक्ति अभिप्रेत है :

परन्तु इस अधिनियम के प्रारम्भ से दो वर्ष की कालावधि के लिए इसके अंतर्गत वह व्यक्ति भी होगा जो ऐसे प्रारम्भ के पूर्व [2][परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 26) के अधीन][3]*** नोटेरी पब्लिक नियुक्त किया गया था, और जो ऐसे प्रारम्भ के ठीक पहले, [4][भारत के किसी भाग में नोटेरी का व्यवसाय कर रहा था :

परन्तु यह और भी कि, जम्मू-कश्मीर राज्य के संबंध में उक्त दो वर्ष की कालावधि की संगणना उस तारीख से की जाएगी जिसको यह अधिनियम उस राज्य में प्रवृत्त होगा] ;

(ङ) "विहित" से इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विहित अभिप्रेत है ;

(च) "रजिस्टर" से धारा 4 के अधीन सरकार द्वारा रखा गया नोटेरी का रजिस्टर अभिप्रेत है ;

---

[1] 1999 के अधिनियम सं. 36 की धारा 2 द्वारा (17-12-1999 से) खंड (ग) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1968 के अधिनियम सं. 25 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-8-1968 से) "या तो परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 के अधीन" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1968 के अधिनियम सं. 25 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-8-1968 से) "या मास्टर आफ फेकलटीज इन इंग्लैंड द्वारा" का लोप किया गया ।

[4] 1968 के अधिनियम सं. 25 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-8-1968 से) "भारत के किसी भाग में नोटेरी का व्यवसाय कर रहा था" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[1][(छ) "राज्य सरकार" से संघ राज्यक्षेत्र के संबंध में उसका प्रशासक अभिप्रेत है ।]

3. **नोटेरी नियुक्त करने की शक्ति** – केन्द्रीय सरकार, संपूर्ण भारत के लिए या उसके किसी भाग के लिए और राज्य सरकार, सम्पूर्ण राज्य के लिए या उसके किसी भाग के लिए, किन्हीं विधि व्यवसायियों को या अन्य व्यक्तियों को जिनके पास ऐसी अर्हताएं हैं जो विहित की जाएं, नोटेरी नियुक्त कर सकती है ।

4. **रजिस्टर** – (1) केन्द्रीय सरकार और प्रत्येक राज्य सरकार, ऐसे प्ररूप में, जो विहित किया जाए, उस सरकार द्वारा नियुक्त और इस अधिनियम के अधीन उसी रूप में व्यवसाय करने के हकदार नोटेरियों का एक रजिस्टर रखेगी ।

(2) ऐसे प्रत्येक रजिस्टर में जिस नोटेरी का नाम प्रविष्ट है उसके बारे में निम्नलिखित विशिष्टियां होंगी :–

(क) उसका पूरा नाम, जन्म-तिथि, निवास और कार्यालय का पता ;

(ख) रजिस्टर में उसका नाम प्रविष्ट किए जाने की तारीख ;

(ग) उसकी अर्हताएं ; और

(घ) कोई अन्य विशिष्टियां जो विहित की जाएं ।

5. **रजिस्टर में नामों की प्रविष्टि और व्यवसाय के प्रमाणपत्रों का जारी किया जाना या नवीकरण** – (1) प्रत्येक नोटेरी, जो इस रूप में व्यवसाय करना चाहता है, उसको नियुक्त करने वाली सरकार को विहित फीस का, यदि कोई हो, संदाय करने पर निम्नलिखित का हकदार [2][हो सकेगा] :–

(क) धारा 4 के अधीन उस सरकार द्वारा रखे जाने वाले रजिस्टर में अपने नाम को प्रविष्टि कराने का, और

---

[1] विधि अनुकूलन (संख्यांक 3) आदेश, 1956 द्वारा खंड (छ) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1999 के अधिनियम सं. 36 की धारा 3 द्वारा (17-12-1999 से) "होगा" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(ख) उसको प्रमाणपत्र जारी किए जाने की तारीख से [1][पांच वर्ष] की कालावधि के लिए उसको व्यवसाय करने के लिए प्राधिकृत करने वाले प्रमाणपत्र ।

[2][(2) नोटेरी को नियुक्त करने वाली सरकार आवेदन और विहित फीस की प्राप्ति पर एक समय पर पांच वर्ष की अवधि के लिए किसी नोटेरी के व्यवसाय के प्रमाणपत्र का नवीकरण कर सकेगी ।]

6. **नोटेरियों की सूचियों का वार्षिक प्रकाशन** – केन्द्रीय सरकार और प्रत्येक राज्य सरकार, प्रत्येक वर्ष के जनवरी मास के दौरान, राजपत्र में उस सरकार द्वारा नियुक्त और उस वर्ष के प्रारम्भ में व्यवसाय करने वाले नोटेरियों की सूची उनके बारे में ऐसे ब्यौरों के साथ, जो विहित किए जाएं, प्रकाशित करेगी ।

7. **नोटेरियों की मुद्रा** – प्रत्येक नोटेरी की ऐसे प्ररूप में और ऐसे डिजाइन की, जो विहित की जाएं, एक मुद्रा होगी और आवश्यकतानुसार वह उसका उपयोग करेगा ।

8. **नोटेरियों के कृत्य** – (1) नोटेरी अपने पद के आधार पर निम्नलिखित में से सभी या कोई कार्य कर सकता है, अर्थात् :–

(क) किसी लिखत के निष्पादन को सत्यापित, अधिप्रमाणित, प्रमाणित या अनुप्रमाणित करना ;

(ख) किसी वचनपत्र, हुण्डी या विनिमयपत्र को प्रतिग्रहण के लिए या संदाय के लिए प्रस्तुत कर सकना या अधिक अच्छी प्रतिभूति की मांग कर सकना ;

(ग) किसी वचनपत्र, हुण्डी या विनिमयपत्र के अप्रतिग्रहण या असंदाय द्वारा अनादर को नोट करना या उसका प्रसाक्ष्य करना या अधिक अच्छी प्रतिभूति के लिए प्रसाक्ष्य करना या परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 26) के अधीन आदर का कार्य तैयार

---

[1] 1999 के अधिनियम सं. 36 की धारा 3 द्वारा (17-12-1999 से) "तीन वर्ष" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1999 के अधिनियम सं. 36 की धारा 3 द्वारा (17-12-1999 से) उपधारा (2) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

करना, या ऐसे नोट या प्रसाक्ष्य की सूचना तामील करना ;

(घ) पोत का प्रसाक्ष्य, नौका का प्रसाक्ष्य या डेमरेज और अन्य वाणिज्यिक मामलों के बारे में प्रसाक्ष्य नोट करना और लेखबद्ध करना ;

(ङ) किसी व्यक्ति को शपथ देना या उससे शपथपत्र लेना ;

(च) बाटमारी और जहाजी माल बंधपत्र, पोत भाटक पत्र और अन्य वाणिज्यिक दस्तावेज बनाना ;

(छ) भारत से बाहर किसी देश या स्थान में प्रभावी होने के लिए आशयित किसी दस्तावेज को ऐसे प्ररूप में और ऐसी भाषा में जो उस स्थान की विधि के अनुरूप है जहां ऐसे विलेख का प्रवर्तन आशयित है, तैयार करना, अधिप्रमाणित या अनुप्रमाणित करना ;

(ज) एक भाषा से दूसरी भाषा में किसी दस्तावेज का अनुवाद करना और ऐसे अनुवाद को सत्यापित करना ;

[1][(जक) यदि किसी न्यायालय या प्राधिकारी द्वारा ऐसा निदेश दिया जाए तो, किसी सिविल या दांडिक विचारण में साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए आयुक्त के रूप में कार्य करना ;

(जख) यदि ऐसा अपेक्षित हो तो, मध्यस्थ, बिचौलिया या सुलहकार के रूप में कार्य करना ;]

(झ) कोई अन्य कार्य करना जो विहित किया जाए ।

(2) उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट कोई कार्य उस दशा के सिवाय जब वह नोटेरी द्वारा उसके हस्ताक्षर और पदीय मुद्रा के साथ किया गया है, नोटेरी का कार्य नहीं समझा जाएगा ।

9. **बिना प्रमाणपत्र के व्यवसाय करने का वर्जन** – (1) इस धारा के उपबंधों के अधीन रहते हुए, कोई व्यक्ति नोटेरी के रूप में व्यवसाय नहीं करेगा या नोटेरी की पदीय मुद्रा के अधीन कोई नोटेरी का काम नहीं करेगा जब तक उसके पास धारा 5 के अधीन उसे जारी किया गया व्यवसाय का चालू प्रमाणपत्र न हो :

---

[1] 1999 के अधिनियम सं. 36 की धारा 4 द्वारा (17-12-1999 से) अंत:स्थापित ।

परन्तु इस उपधारा की कोई बात किसी नोटेरी की ओर से कार्य करने वाले ऐसे नोटेरी के लिपिक द्वारा प्रतिग्रहण या संदाय के लिए, किसी वचनपत्र, हुण्डी या विनिमयपत्र के प्रस्तुतीकरण को लागू नहीं होगी ।

(2) उपधारा (1) की कोई बात इस अधिनियम के प्रारम्भ से दो वर्ष समाप्त हो जाने तक किसी ऐसे व्यक्ति को लागू नहीं होगी जिसके प्रति धारा 2 के खंड (घ) के परन्तुक में निर्देश किया गया है :

[1][परन्तु जम्मू-कश्मीर राज्य के संबंध में दो वर्ष की उक्त कालावधि की संगणना उस तारीख से की जाएगी जिसको यह अधिनियम उस राज्य में प्रवृत्त होगा ।]

10. **नामों का रजिस्टर से हटाया जाना** – किसी नोटेरी की नियुक्ति करने वाली सरकार, आदेश द्वारा, धारा 4 के अधीन उसके द्वारा रखे जाने वाले रजिस्टर से नोटेरी का नाम हटा सकती है यदि :–

(क) वह हटाए जाने के लिए अनुरोध करता है ; या

(ख) उसने संदाय किए जाने के लिए अपेक्षित विहित फीस का संदाय नहीं किया है ; या

(ग) वह अनुन्मोचित दिवालिया है ; या

(घ) यह विहित रीति से जांच करने के पश्चात्, ऐसे वृत्तिक या अन्य कदाचार का दोषी पाया गया है जो सरकार की राय में उसे नोटेरी के रूप में व्यवसाय करने के लिए अयोग्य बनाता है ; [2][या]

[2](ङ) ऐसे किसी अपराध के लिए जिसमें नैतिक अधमता अंतर्वलित हो किसी न्यायालय द्वारा दोषसिद्ध किया जाता है ; या

(च) अपने व्यवसाय के प्रमाणपत्र को नवीकृत नहीं कराता है ।]

11. **अन्य विधि में नोटेरी पब्लिक के प्रति निर्देश का अर्थान्वयन** – किसी अन्य विधि में नोटेरी पब्लिक के प्रति निर्देश का यह अर्थ लगाया

---

[1] 1968 के अधिनियम सं. 25 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-8-1968 से) अंत:स्थापित ।

[2] 1999 के अधिनियम सं. 36 की धारा 5 द्वारा (17-12-1999 से) अंत:स्थापित ।

प्रिवी कौंसिल

प्रिवी कौंसिल

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
कुंवर सुरेन्द्र बहादुर सिंह तथा अन्य **बनाम** ठाकुर बिहारी सिंह तथा अन्य	9
जुगल किशोर नारायण सिंह तथा अन्य **बनाम** चारु चन्द्र सूर तथा अन्य	21
भाया मोहम्मद अजीम खां तथा अन्य **बनाम** राजा सआदत अली खां तथा अन्य	1
लछमेश्वर सहाय **बनाम** श्रीमती मोती रानी कुंवर	42
सरदार सुरेन्द्र सिंह और अन्य **बनाम** चौधरी गुलाम मोहम्मद	49
सेठ विरध मल और अन्य **बनाम** सेठानी प्रभावती कुंवर और अन्य	30

भाया मोहम्मद अजीम खां तथा अन्य ..... अपीलार्थी

बनाम

राजा सआदत अली खां तथा अन्य ..... प्रत्यर्थी

17.3.1939

न्यायमूर्ति लार्ड रोमर, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 109 व 110 – प्रिवी कौंसिल को अपील तभी होगी जब कि प्रश्नगत निर्णय के विरुद्ध भारत में किसी न्यायालय में अपील न की जा सकती हो – मुख्य न्यायालय के एकल न्यायाधीश के आरंभिक निर्णय के विरुद्ध अपील उसी न्यायालय के खंड न्यायपीठ को की जा सकती है – अतः प्रिवी कौंसिल द्वारा अपील ग्राह्य नहीं – यह स्थिति मान्य नहीं कि यह अपीलार्थी के विकल्प पर है कि चाहे मुख्य न्यायालय में अपील करे और चाहे प्रिवी कौंसिल में ।

– **धारा 112** – जब प्रश्नगत निर्णय के विरुद्ध भारत के किसी न्यायालय में अपील की जा सकती है तो हिज मैजेस्टी अपील ग्रहण करने के अपने परमाधिकार का प्रयोग नहीं करेंगे ।

अवध न्यायालय अधिनियम, 1925 – धारा 12(1) – मुख्य न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा दिए गए आरंभिक निर्णय के विरुद्ध अपील उसी न्यायालय के खंड न्यायपीठ को होगी ।

– इस अधिनियम का 1934 में किया गया संशोधन भूतलक्षी प्रभाव नहीं रखता – अतः पहले निर्णीत मामलों को लागू नहीं होगा ।

इस अपील में विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या मुख्य न्यायालय के एकल न्यायाधीश के आरंभिक निर्णय के विरुद्ध अपील प्रिवी कौंसिल को की जा सकती है । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – यह तर्क निस्सार है कि प्रांतीय विधान-मंडल संहिता के उपबंधों का निरसन नहीं कर सकता था और वह हमारे समक्ष दोहराया भी नहीं गया । किंतु हम अपना निर्णय उस पर आश्रित नहीं करते । हम उक्त धारा 12 के प्रारंभिक शब्दों से उत्पन्न होने वाली कठिनाई पर नहीं जाते और न संहिता की धारा 4(1) का आश्रय लेते हैं जो स्थानीय विधि को अधिमान प्रदान करती है । हमें धारा 12 का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थ करना होगा । यदि मुख्य न्यायालय के अपील न्यायपीठ को अपील करने का अधिकार प्रांतीय विधान-मंडल ने अपीलार्थी को, धारा 109 का

अपवर्जन किए बिना या धारा 111 के अंतर्गत लाए बिना, दिया तो सपरिषद् हिज मैजेस्टी को यह सलाह देने के पूर्व कि वे अनुकल्पी अपील न्यायालय की भूमिका अपनाएं हमें यह देखना होगा कि संहिता की धारा 109 और अपीलार्थियों को दिए गए अधिकार की प्रकृति क्या है । सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील के परमाधिकार की व्याख्या एक वृहत्त कार्य है और क्योंकि अपीलार्थी संहिता की धारा 109 का आश्रय लेते है, अतः हम इस ओर ध्यान देते हैं कि यह धारा 111 के प्रारंभिक शब्दों द्वारा ही नहीं अपितु धारा 112 द्वारा भी विशेषित है । संहिता की भाषा से यह स्पष्ट है कि भारतीय विधान-मंडल परमाधिकार को बढ़ा-घटा नहीं रहा था । यह नहीं माना जा सकता कि 1925 में संयुक्त प्रांत के विधान-मंडल को अवध मुख्य न्यायालय की स्थापना के समय सांविधानिक स्थिति का ज्ञान नहीं था । धारा 112 के अधीन अपील ग्रहण भी की जा सकती है और अग्राह्य भी और इसके लिए धारा 109 निश्चायक नहीं है । अपीलार्थी यह नहीं कह सकते कि उन्हें अपने विकल्प के अनुसार मुख्य न्यायालय और सपरिषद् हिज मैजेस्टी दोनों को अपील करने का अधिकार प्राप्त है । वैसे भी यहां अपील ग्रहण करते समय परमाधिकार के उचित प्रयोग का प्रश्न उठेगा । यह स्पष्ट ही है कि प्रांतीय विधान-मंडल मुख्य न्यायालय को नई अधिकारिता प्रदान कर सकता था । उससे न्याय प्रशासन की हानि होती यदि मुख्य न्यायालय की अपीली अधिकारिता की उपेक्षा कर दी जाती । (पैरा 9)

सिविल अपीली अधिकारिता	:	**1935 की अपील सं. 70.**
अपीलार्थी की ओर से		सर्वश्री ए. एम. दुबे और डब्ल्यू. वालच
प्रत्यर्थी की ओर से		सर्वश्री आर. रोक्सबर्ग, एस. हयाम, जे. पी. ऐडी, टी. एफ. आर. मैक्डोनाल्ड और एम. एच. रशीद

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन ने दिया ।

न्या. रैंकिन – यह अपील अवध मुख्य न्यायालय के एकल न्यायाधीश की 22.12.1930 की दो डिक्रियों के विरुद्ध है । वे डिक्रियां उन्होंने अवध न्यायालय अधिनियम, 1925 की धारा 7 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करके दीं । उक्त अधिनियम आगरा और अवध के संयुक्त प्रांत के स्थानीय विधान-मंडल द्वारा पारित किया गया है । इन डिक्रियों द्वारा न्यायमूर्ति नानावती ने विचारण न्यायधीश के रूप में लंबी सुनवाई के बाद दो वादों (क्रमशः 1928 के 11 और 12), जो संस्थित किए गए को खारिज कर

दिया । दोनों वादों पर एक साथ विचारण किया गया और दोनों में विवाद्यकों को लेते हुए एक ही निर्णय दिया गया । वे सुनवाई के लिए 15.7.1929 को आए । मौखिक तथा दस्तावेज़ी साक्ष्य अधिक मात्रा में पेश किया गया । सुनवाई 2.8.1929 तक चली जब मामला 13.2.1930 के लिए रखा गया । उसके पश्चात् मामले की उस वर्ष में फरवरी, मार्च और अप्रैल में अनेक तारीखों पर सुनवाई की गई । एक मामले में सोलह और दूसरे मामले में चौदह विवाद्यक विरचित किए गए और एक लंबे निर्णय में विद्वान् न्यायाधीश ने तथ्य और विधि के अनेक महत्वपूर्ण और कठिन प्रश्नों पर विचार करके विनिश्चय किया । वाद सं. 11 राजाम मोहम्मद सिद्दीक खां, की संपदा के संबंध में था । जिसकी 30.12.1987 को मृत्यु हो गई थी और जिसे यहां आगे उन्हें हम दिवंगत राजा कहेंगे । वे नानपारा की तालुकेदारी संपदा के स्वामी थे । वह वाद तालुकेदारी और गैर तालुकेदारी दोनों संपत्तियों के संबंध में 16 वादियों ने दाखिल किया था । वादी सं. 1 दिवंगत राजा का खानदानी होने के नाते ज्येष्ठाधिकार के आधार पर तालुकेदारी संपदा का दावा करता था, जब कि अन्य संपत्तियों के लिए सभी वादियों का दावा खानदानी होने के नाते उत्तराधिकार के आधार पर था । उसमें प्रतिवादी सं. 1 राजा सआदत अली खां थे जो दिवंगत राजा की बहत के पुत्र हैं । किंतु उनका दावा था कि दिवंगत राजा की एक विधवा सल्तनत बेगम ने उन्हें अवध संविदा अधिनियम (1869 का 1) के अधीन और दिवंगत राजा द्वारा अपनी विधवाओं को दिए गए अपनी वसीयत में अधिकार के अनुसार गोद ले लिया था । संपदा का कब्जा प्रतिपाल्य अधिकरण ने ले लिया था और नवंबर, 1925 में उन्होंने वह संपदा इसी राजा सआदत अली खां को दे दी थी । प्रतिवादी सं. 2 मुमताज अली खां थे, जिनकी मृत्यु इन वादी के दौरान 1934 में हो गई । वे एक अन्य तालुकेदारी संपदा उतरौला के राजा थे । उन्हें भी दिवंगत राजा की एक बहन कनीज बेगम ब्याही थी । 1919 में कनीज बेगम की मृत्यु होने पर पक्षकारों कें बीच 1910 में हुए समझौते के आधार पर कुछ विवादित संपत्ति उनके कब्जे में आ गई । प्रतिवादी सं. 3 रानी कमर जमानी बेगम थीं जो दिवंगत राजा की पहली पत्नी थीं । उन्हें भी उक्त समझौते द्वारा कुछ संपत्ति में आजीवन हित दिया गया है ।

2. उस वाद में वादियों को अनेक बातें साबित करनी थीं : (1) राजा सआदत अली खां को यथाविधि गोद नहीं लिया गया । (2) वादी दिवंगत राजा के वंशज हैं अर्थात् वे भी जहांन खां (17वीं शताब्दी) के वंशज हैं जिनके वंशज दिवंगत राजा थे । (3) संपदा पुरुष परंपरा में ज्येष्ठाधिकार से

जाने की रुढ़ि है और कुछ वादी उसके अनुसार हकदार हैं । इन सभी प्रश्नों पर विचारण न्यायाधीश का निर्णय वादियों के विरुद्ध था ।

3. वाद सं. 12 उन्हीं 16 वादियों ने दो अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर किया था । उसमें प्रथम प्रतिवादी उतरौला के रजमा मुमताज अली खां थे और द्वितीय प्रतिवादी थे सआदत अली खां । विवाद मोहम्मद कनीज बेगम की संपत्ति का था, जिनकी मृत्यु 1919 में हुई । 17 गांवों के विषय में वादियों का वह दावा अवध संपदा अधिनियम के अधीन उनके उत्तराधिकारी होने पर आश्रित था । ये गांव उतरौला तालुकेदारी के भाग थे और बताया यह गया था कि यह उनके पति प्रतिवादी सं. 1 ने उन्हें अंतरित कर दिए थे । दावा तीन अन्य पट्टियों का भी था जो उक्त बेगम ने खरीदी थीं । प्रतिवादियों का कहना था कि राजा उतरौला द्वारा अपनी पत्नी के पक्ष में लिखा गया दान विलेख संपत्ति को बचाने के लिए एक दिखावा मात्र था तथा वादी कनीज बेगम के वारिस नहीं हैं । परिसीमा का भी प्रश्न उठाया गया । इसमें भी निर्णय वादियों के विरुद्ध गया । उक्त दोनों वाद अवध मुख्य न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने खारिज कर दिए ।

4. यह स्पष्ट करने के लिए मुकदमे की सविस्तार परिस्थितियों या विषय-वस्तु का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है कि इसमें व्यापक विवादित तथ्य आते हैं और यह कि जब तक वादियों का दावा प्रारंभ में ही तथ्यों पर खारिज नहीं किया जाता उसमें अवध संपदा अधिनियम द्वारा मुसलमानों को प्रदत्त गोद लेने के अधिकार को लागू करने की बाबत तथा उत्तराधिकार की विधि और रुढ़ि के पहलूओं की बाबत अनेक महत्वपूर्ण विधिक प्रश्न अंतर्वलित हैं । बोर्ड द्वारा विचारणार्थ प्रथम प्रश्न इस तथ्य का है कि माननीय न्यायाधीशों से प्रथम मुख्य न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश के विनिश्चय से प्रथम अपील न्यायालय के रूप में कार्य करने का कहा जाए । तथ्य और विधि के महत्वपूर्ण और जटिल मामले में विशेषतः अवध प्रांत के मुख्य न्यायालय की अपीली न्यायपीठ विवादित मामले को स्पष्ट करने में उनके अनुभव व निर्णय का योगदान महत्वपूर्ण होगा । वास्ताव में यह अपेक्षित है कि कम से कम कुछ तथ्य भारतीय न्यायालयों के समवर्ती निष्कर्षों से तय किए जाएंगे ।

5. विचारण न्यायाधीश ने अपने निर्णय 22.12.1930 को सुनाने के बाद दो डिक्रियों पर हस्ताक्षर 16.2.1931 को किए । 18.5.1931 को वादियों ने मुख्य न्यायालय में सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 109 व 110 और आदेश 45 के अधीन इस प्रमाणपत्र के लिए आवेदन दिए कि मामला

सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील के लिए उपयुक्त है । तत्पश्चात् 20.5.1931 को उन्होंने दूसरा आवेदन दिया कि यदि उनका पहला आवेदन स्वीकार नहीं किया जाए तो वह मुख्य न्यायालय के अपील न्यायपीठ के समक्ष अपील का ज्ञान मान लिया जाए । 21.9.1931 को मुख्य न्यायालय के खंड न्यायपीठ (वजीर इसमें मुख्य न्यायाधीश और न्यायाधीश श्रीवास्तव) ने प्रमाणपत्र देने से इस आधार पर इंकार कर दिया कि हिज मैजेस्टी को धारा 109 के अनुसार अपील अनुमत नहीं है । 20 मई, 1931 के आवेदन पर जोर न दिए जाने के कारण वह भी खारिज कर दिया गया । तब 9.3.1932 को सपरिषद् हिज मैजेस्टी की विशेष इजाजत के लिए आवेदन दिया गया, जिसमें कहा गया कि उन्हें सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 109(ख) के अधीन हिज मैजेस्टी को अपील करने का अधिकार है और अवध न्यायालय अधिनियम राज्य विधान-मंडल का अधिनियम होने के नाते उस पर अभिभावी नहीं हो सकता । अपीलार्थियों को सुनने के बाद और प्रत्यर्थियों के नोटिस के बावजूद उपस्थित न होने पर 9.4.1932 को अर्जीदारों को अपील की इजाजत दे दी गई । साथ ही यह भी शर्त लगा दी गई कि प्रत्यर्थी अपील की सुनवाई के समय यह आपत्ति कर सकेंगे कि इजाजत नहीं दी जानी चाहिए थी । इस प्रकार यह मामला इस प्रश्न पर विचार के लिए पूर्णतः उन्मुक्त है कि क्या प्रस्तुत मामले में अपील की इजाजत दी जानी चाहिए थी । यह आश्चर्य का विषय है कि यह शर्त लागू होने पर भी किसी पक्षकार ने प्रयत्न नहीं किया कि इस अपील की सुनवाई में विलंब न हो । किंतु इस विलंब से हमारा उस प्रश्न पर निर्णय प्रभावित नहीं होगा ।

6. अतः प्रश्न है कि क्या प्रस्तुत मामले में अपील की इजाजत होनी चाहिए । इस संबंध में अनेक उपबंध दर्शनीय हैं :–

साधारण खंड अधिनियम, 1897 –

"धारा 3(24) – जब 'उच्च न्यायालय' का उपयोग किन्हीं सिविल कार्यवाहियों के प्रति निर्देश से किया जाता है तब उससे ब्रिटिश भारत के उस भाग में का अपील का सर्वोच्च सिविल न्यायालय अभिप्रेत होगा जिस भाग में वह अधिनियम या विनियम प्रवर्तन में है जिसमें वह पद अंतर्विष्ट है ।"

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 –

"4(1) – इसके प्रतिकूल किसी विनिर्दिष्ट उपबंध के अभाव में,

इस संहिता की किसी भी बात के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह किसी विशेष या स्थानीय विधि को, जो अब प्रवृत्त है या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा या उसके अधीन प्रदत्त किसी विशेष अधिकारिता या शक्ति को या प्रक्रिया के किसी विशेष रूप को परिसीमित करती है या उस पर अन्यथा प्रभाव डालती है ।"

"109 – ऐसे नियमों के जो सपरिषद् हिज मैजेस्टी द्वारा समय-समय पर ब्रिटिश भारत के न्यायालयों से अपीलों के विषय में बनाए जाएं तथा यहां आगे दिए गए उपबंधों के अधीन रहते हुए सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील निम्नलिखित से होगा –

(क) .....

(ख) किसी उच्च न्यायालय द्वारा आरंभिक सिविल अधिकारिता का प्रयोग करके पारित किसी डिक्री या अंतिम आदेश से ..... "

धारा 110 अन्य बातों के साथ-साथ उक्त खंड (ख) के संबंध में यह बंधन लगाती है कि वाद व अपील दोनों ही कम से कम 10,000/- रुपए या उतने ही मूल्य की विषय-वस्तु के संबंध में होनी चाहिए ।

धारा 111 सपरिषद् हिज मैजेस्टी के अपील की इजाजत देने के परमाधिकार को अक्षुण्य रखती है ।

अवध न्यायालय अधिनियम, 1925 –

(संयुक्त प्रांत अधिनियम सं. 4 सन् 1925)

12(1) – "तत्समय प्रवृत्त किसी अधिनियमिति द्वारा अन्यथा उपबंधित के सिवाय, मुख्य न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा की गई किसी मूल डिक्री से अथवा किसी ऐसे आदेश से जिसके विरुद्ध अपील तत्समय प्रवृत्त किसी विधि द्वारा अनुमत है, मुख्य न्यायालय के दो अन्य न्यायाधीशों से बनने वाले न्यायपीठ को होगा ।"

7. अवध न्यायालय अधिनियम से मिलती-जुलती व्यवस्था पंजाब और ब्रह्मा में भी रही है । किंतु वहां इस बोर्ड के समक्ष अपील की कोई ऐसी समस्या नहीं उठी । कठिनाई इस प्रारंभिक शब्दों के कारण होती हैं : "तत्समय प्रवृत कि अधिनियमिति द्वारा अन्यथा उपबंधित के सिवाय" । इन्हीं के आश्रय से अपीलार्थी सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 109(ख) के

अधीन अपील के अधिकार का दावा करते हैं । 1934 में उक्त शब्दों के स्थान पर एक बिल्कुल विपरीत व्यवस्था कर दी गई : "सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 98 में या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य अधिनियमिति में किसी बात के होते हुए भी" । किंतु यह संशोधन 1934 में हुआ था और भूतलक्षी नहीं है । अतः यह प्रस्तुत मामले को लागू नहीं होगा और हमें निर्वचन मूल धारा के आधार पर ही करना है । 1935 के भारत शासन अधिनियम के पूर्व ऐसा कोई उपनिवेशिक न्यायालय भी भारत में नहीं था जिसे प्रांत के उच्च न्यायालय से अपीलें होतीं । अतः स्थिति कनाडा या आस्ट्रेलिया वाली भी नहीं है ।

8. जब उक्त धारा में कहा गया कि अपील अमुक अधिकरण को होगी तो यह निश्चित नहीं है कि इससे क्या यह आशय है कि किसी अन्य अधिकरण को अपील नहीं होगी । इसका आशय यह है कि अपीलार्थी चाहे तो अमुक अधिकरण को अपील कर सकता है अथवा यह है कि यदि अपीलार्थी अपील करना चाहे तो उसे अमुक अधिकरण को ही अपील करनी होगी । यदि किसी अन्य अपील की व्यवस्था न हो तब कोई कठिनाई की बात नहीं है । भारतीय न्याय पद्धति में यह व्यवस्था नहीं रही है कि अपील चाहे एक न्यायालय को करो चाहे दूसरे न्यायालय को । साथ ही साथ हम संहिता की धारा 109 और 110 का यह अर्थ लगाने में भी कठिनाई अनुभव करते हैं कि लेटर्स पेंटेट अपील की भांति मुख्य न्यायालय में भी एकल न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध खंड न्यायपीठ को अपील नहीं होती है । उक्त धारा 109 और 110 के पढ़ने से लगता यह है कि बोर्ड को अपील की व्यवस्था का आशय तभी के लिए है जब कि भारत में अपील नहीं होती है इसके अतिरिक्त, यदि इसका अर्थ यह लगाया जाए कि वह उनमें वर्णित से भिन्न अपील का निषेध करती हैं तो अवध अधिनियम की धारा 12 विवक्षित रूप से विशेषित करनी होगी अथवा यह निष्कर्ष निकालना होगा कि मुख्य न्यायालय में अपील तभी होगी जब कि मूल्यांकन 10,000/- रुपए से कम हो । किंतु 10,000/- रुपए से कम की अपील तो लाखों की संपत्ति के मामले में भी हो सकती है । हमें धारा 12 का ऐसा आशय नहीं लगता ।

9. यह तर्क निस्सार है कि प्रांतीय विधान-मंडल संहिता के उपबंधों का निरसन नहीं कर सकता था और वह हमारे समक्ष दोहराया भी नहीं गया । किंतु हम अपना निर्णय उस पर आश्रित नहीं करते । हम उक्त धारा 12 के प्रारंभिक शब्दों से उत्पन्न होने वाली कठिनाई पर नहीं जाते और न संहिता की धारा 4(1) का आश्रय लेते हैं जो स्थानीय विधि को अधिमान प्रदान

करती है । हमें धारा 12 का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थ करना होगा । यदि मुख्य न्यायालय के अपील न्यायपीठ को अपील करने का अधिकार प्रांतीय विधान-मंडल ने अपीलार्थी को, धारा 109 का अपवर्जन किए बिना या धारा 111 के अंतर्गत लाए बिना, दिया तो सपरिषद् हिज मैजेस्टी को यह सलाह देने के पूर्व कि वे अनुकल्पी अपील न्यायालय की भूमिका अपनाएं हमें यह देखना होगा कि संहिता की धारा 109 और अपीलार्थियों को दिए गए अधिकार की प्रकृति क्या है । सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील के परमाधिकार की व्याख्या एक वृहत्त कार्य है और क्योंकि अपीलार्थी संहिता की धारा 109 का आश्रय लेते है, अतः हम इस ओर ध्यान देते हैं कि यह धारा 111 के प्रारंभिक शब्दों द्वारा ही नहीं अपितु धारा 112 द्वारा भी विशेषित है । संहिता की भाषा से यह स्पष्ट है कि भारतीय विधान-मंडल परमाधिकार को बढ़ा-घटा नहीं रहा था । यह नहीं माना जा सकता कि 1925 में संयुक्त प्रांत के विधान-मंडल को अवध मुख्य न्यायालय की स्थापना के समय सांविधानिक स्थिति का ज्ञान नहीं था । धारा 112 के अधीन अपील ग्रहण भी की जा सकती है और अग्राह्य भी और इसके लिए धारा 109 निश्चायक नहीं है । अपीलार्थी यह नहीं कह सकते कि उन्हें अपने विकल्प के अनुसार मुख्य न्यायालय और सपरिषद् हिज मैजेस्टी दोनों को अपील करने का अधिकार प्राप्त है । वैसे भी यहां अपील ग्रहण करते समय परमाधिकार के उचित प्रयोग का प्रश्न उठेगा । यह स्पष्ट ही है कि प्रांतीय विधान-मंडल मुख्य न्यायालय को नई अधिकारिता प्रदान कर सकता था । उससे न्याय प्रशासन की हानि होती यदि मुख्य न्यायालय की अपीली अधिकारिता की उपेक्षा कर दी जाती ।

विभिन्न पक्षों पर विचार करने के बाद हमारा निष्कर्ष अपीलार्थियों के विरुद्ध है । यदि अपीलार्थी अब भी मुख्य न्यायालय के अपील न्यायपीठ के समक्ष जाने का दावा कर सकते हैं तो हमारा यह निर्णय उन्हें किसी प्रकार दुषप्रभावित नहीं करेगा । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि उनको अपील की यह विशेष इजाजत नहीं दी जानी चाहिएं थी और तद्नुसार ये समेकित अपीलें खारिज की जानी चाहिए । अपीलार्थी इकहरा खर्चा अदा करें जो कि राजा सआदत अली खां तथा राजा मुमताज अली खां के प्रतिनिधियों में बांट दिया जाए ।

अपील खारिज की गई ।

कुंवर सुरेन्द्र बहादुर सिंह तथा अन्य ..... अपीलार्थी

बनाम

ठाकुर बिहारी सिंह तथा अन्य ..... प्रत्यर्थी

17.3.1939

न्यायमूर्ति लार्ड रोमर, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर, न्यायमूर्ति सर लांसलाट सेंडरसन, न्यायमूर्ति लार्ड नारमंड (कोर्ट आफ सेशन के लार्ड प्रेसिडेंट) व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 68 – जब विधितः अनुप्रमाणन आवश्यक है तो वह साबित किया जाना चाहिए – जब अनुप्रमाणन साबित करने के लिए बुलाया गया साक्षी अविश्वसनीय ठहराया गया तो अनुप्रमाणन का अन्य साक्ष्य आवश्यक है ।

संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1182 – धारा 59 व रजिस्ट्रीकरण अधिनियम – धारा 58व 59 – अनुप्रमाणन के लिए यह आवश्यक है कि अनुप्रमाणक साक्षी दस्तावेज के निष्पादी की उपस्थिति में अपने हस्ताक्षर करे – अतः अनुप्रमाणन साबित करने के लिए यह साबित किया जाना चाहिए कि अनुप्रमाणक साक्षियों ने हस्ताक्षर निष्पादी की उपस्थिति में किए – रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्री के समय साक्षियों के हस्ताक्षर होते हैं, किंतु उसमें यह अपेक्षा नहीं है कि साक्षी हस्ताक्षर निष्पादी की उपस्थिति में करे – अतः रजिस्ट्री वाले हस्ताक्षरों से अनुप्रमाणन का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता जब तक कि अलग से यह साबित न किया जाए कि साक्षियों के हस्ताक्षर के समय निष्पादी उपस्थित था ।

यह अपील इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 28.11.1933 के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध की गई है, जिसके द्वारा वर्तमान प्रत्यर्थियों में से एक अपील मंजूर करके वाद उक्त लक्ष्मण सिद्ध तथा बंधक संपत्ति में उसके हिस्से के विरुद्ध खारिज कर दी गई । वादी कुंवर सुरेन्द्र बहादुर सिंह और उसके दो अवयस्क पुत्र हैं और वाद 23.6.1909 के बंधक के पुरोबंध के लिए किया गया था । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – फिर यह बहस की गई कि कम से कम अनुप्रमाणन साक्षी अर्थात् बद्री प्रसाद विचारण में बुलाया गया और इस प्रकार साक्ष्य अधिनियम की धारा 68 के उपबंध का अनुपालन हो गया तथा बंधक विलेख के सम्यक् निष्पादन और अनुप्रमाणन का और साक्ष्य आवश्यक नहीं था । यह अतिरिक्त तर्क हम नहीं मान सकते क्योंकि यद्यपि बद्री प्रसाद का

अनुप्रमाणक साक्षी होना तात्पर्यित था और यद्यपि वह बंधक विलेख का निष्पादन साबित करने के प्रयोजनार्थ विचारण में बुलाया गया था, किंतु उसका बयान ऐसा साक्ष्य नहीं माना गया है जिसका कोई विश्वास किया जा सके । फिर बहस की गई कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 71 के उपबंध को देखते हुए बंधक विलेख का निष्पादन अन्य साक्ष्य द्वारा साबित किया जा सकता है । वह धारा तभी लागू होती है जब कि अनुप्रमाणक साक्षी दस्तावेज के निष्पादन से इंकार करे या उसे स्मरण न हो । रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 60(2) में उपबंध है कि रजिस्ट्री करने वाले अधिकारी के प्रमाणपत्र पर रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी द्वारा हस्ताक्षर किए जाएंगे, मुहर लगाई जाएगी और तारीख डाली जाएगी और तब वे यह साबित करने के प्रयोजनार्थ ग्राह्य होंगी कि दस्तावेज अधिनियम द्वारा उपबंधित ढंग से सम्यक् रूप से रजिस्ट्रीकृत हो गई है और धारा 59 में निर्दिष्ट पृष्ठांकन में वर्णित तथ्य उसके वर्णन के अनुसार सही हैं । किंतु जो विशिष्टियां रजिस्ट्रीकरण के लिए स्वीकार की गईं दस्तावेजों पर धारा 58 के अधीन पृष्ठांकित की जानी हैं उनमें उपर्युक्त तथ्यों का उल्लेख नहीं आता, जो कि हमारी राय में बंधक विलेख के संपत्ति अंतरण अधिनियम के अनुसार सम्यक् अनुप्रमाणन को साबित करने के लिए आवश्यक हैं । अतः रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 58, 59 और 60 इस विषय में अपीलार्थियों के लिए उपयोगी नहीं है । रजिस्ट्रीकरण के समय किए गए पृष्ठांकनों को समग्र रूप से लेने पर और उन्हें उनका स्वाभाविक अर्थ देने पर वे केवल रजिस्ट्रीकरण के मामले में सुसंगत प्रतीत होते हैं और साक्षी श्रीमती जमुना कुंवर की पहचान करने के प्रयोजनार्थ और केवल उसी प्रयोजनार्थ उपस्थित होते हैं । यदि रजिस्ट्रीकरण की कार्यवाही का आश्रय इस आशय से लेने का था कि वह प्रकट करती है कि संपत्ति अंतरण अधिनियम के बंधक विलेख के सम्यक् निष्पादन और अनुप्रमाणन के उपबंधों का अनुपालन किया गया तो वादी की ओर से यह साबित करने के लिए साक्ष्य दिया जाना चाहिए था जो आवश्यक और तात्विक था । (पैरा 12, 20 और 21)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[1929]	इं. ला रि. 52 मद्रास 123 =	
	ए. आई. आर. 1929 मद्रास 1 :	
	वीरप्पा चेट्टियार बनाम **सुब्रमण्यम अय्यर** ।	3

सिविल अपीली अधिकारिता : 1937 की अपील सं. 22.

अपीलार्थी की ओर से श्री ए. जी. पी. पुलन

प्रत्यर्थी की ओर से कोई नहीं

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति सर लांसलाट सेंडरसन ने दिया ।

न्या. सेंडरसन – वाद के वादियों द्वारा यह अपील इलाहाबाद उच्च न्यायालय क 28.11.1933 के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध है, जिसके द्वारा वर्तमान प्रत्यर्थियों में से एक, अर्थात् लछमन सिंह, की अपील मंजूर करके वाद उक्त लछमन सिंह तथा बंधक संपत्ति में उसके हिस्से के विरुद्ध खारिज कर दी गई । वादी कुंवर सुरेन्द्र बहादुर सिंह और उसके दो अवयस्क पुत्र हैं और वाद 23.6.1909 के बंधक के पुरोबंध के लिए किया गया था । वह बंधक हिम्मत सिंह (अब मृत), मूलू सिंह और श्रीमती जमना कुंवर, जो कि उक्त लछमन सिंह की मां और प्रमाणित संरक्षक थीं, द्वारा निष्पादित किया गया था । लछमन सिंह तब अवयस्क था । बंधक सुरेन्द्र बहादुर सिंह के हक में था । वह 18,000 रु. के उधार तथा 4-1/2 प्रतिशत ब्याज की प्रतिभूति-स्वरूप जमींदारी संपत्ति का था । वह बंधक उच्चतर ब्याज वाले पूर्ववर्ती बंधकों को चुकाने के लिए था । प्रतिवादी-प्रत्यर्थी 1-9 तक हिम्मत सिंह के वारिस हैं । प्रत्यर्थी सं. 10 लछमन सिंह है । प्रत्यर्थी सं. 11, 12 व 13 मूलू सिंह और उसके दो पुत्र हैं और सं. 14 से 24 तक विभिन्न अंतरिती हैं ।

2. बंधक के निष्पादन के पूर्व श्रीमती जमुना कुंवर ने उक्त संपत्ति में लछमन सिंह के एक चौथाई हिस्से को आडमान करके 4,500 रु. (18,000 रु. का एक चौथाई) उधार लेने के लिए जिला न्यायाधीश की अनुज्ञा प्राप्त की । मूलधन और ब्याज 23.6.1916 को देय था । बंधक विलेख रजिस्ट्रीकरण के लिए 24.6.1909 को इटावा के उप रजिस्ट्रार के कार्यालय में हिम्मत सिंह द्वारा पेश किया गया और वह सम्यक् रूप से रजिस्टर कर लिया गया । रजिस्ट्रीकरण की कार्यवाही की और विस्तार से चर्चा आवश्यक होगी । वाद मूलधन और ब्याज की बाबत कुल 41,400 रु. 14 आ. 6 पा. के लिए 25.5.1928 को किया गया था । लछमन सिंह और अंतरिती में से दो ने लिखित कथन दाखिल किए । जिस अभिवचन का उल्लेख करना आवश्यक है वह लछमन सिंह के लिखित कथन के पैरा 9 में दिया गया है :–

> "विरोधकारी प्रतिवादी वाद की आधारभूत दस्तावेज का निष्पादन और पूरा किया जाना स्वीकार नहीं करता और उसके किसी प्रतिफल

की प्राप्ति स्वीकार है ।"

3. लिखित कथन में अन्य अभिवचन भी थे, किंतु केवल उक्त अभिवचन इस अपील के विनिश्चय के लिए तात्विक है । बंधक विलेख पर हिम्मत सिंह और मूलू सिंह के हस्ताक्षर थे और वह लछमन सिंह को श्रीमती जमुना कुंवर के अंगूठे के निशान से निष्पादित किया गया था और उस पर पांच व्यक्तियों के नाम थे जिनका विलेख के निष्पादन के साक्षियों के रूप में हस्ताक्षर करना तात्पर्यित था । विचारण में हिम्मत सिंह के वारिसों और मूलू सिंह ने विलेख के निष्पादन पर विवाद नहीं किया । किंतु लछमन सिंह की ओर कहा गया कि जहां तक उसकी माता का संबंध था, बंधक पत्र का निष्पादन और सम्यक् अनुप्रमाणन साबित नहीं किया गया । कथित पांच साक्षियों में से केवल एक, अर्थात् बद्री प्रसाद, को वादी की ओर से 23.6.1909 को बुलाया गया कि वह 23.6.1909 के बंधक विलेख के निष्पादन और अनुप्रमाणन का साक्ष्य दे । वादी के मुख्तारआम तथा बंधक लेखक ने भी बयान दिए, किंतु वे अनुप्रमाणक साक्षी नहीं थे । उक्त साक्षियों द्वारा विरोधी बयान दिए जाने के परिणामस्वरूप अधीनस्थ न्यायाधीश इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वे उनके साक्ष्य का विश्वास नहीं कर सकते । किंतु **वीरप्पा चेट्टियार** बनाम **सुब्रमण्यम अय्यर**[1] वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का आशय लेते हुए उन्होंने निर्णय किया कि रजिस्ट्रीकरण करने वाले अधिकारी तथा पहचान करने वाले साक्षी के रजिस्ट्रीकरण पृष्ठांकन पर किए गए हस्ताक्षर संपत्ति अंतरण अधिनियम और उसके बाद के संशोधन अधिनियमों के अर्थ में पर्याप्त अनुप्रमाणन हैं । अतः उन्होंने हिम्मत सिंह के प्रतिनिधियों, मूलू सिंह और लछमन सिंह के विरुद्ध डिक्री दे दी, जिसमें घोषित किया कि दायित्वाधीन विभिन्न व्यक्ति बंधक के मूलधन तथा ब्याज और खर्चे की बाबत देय राशि में अपने आनुपातिक अंश अदा करें । यह राशि उन्होंने 44,229 रु. निर्धारित की । लछमन सिंह ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में अपील की । अपील सुनने वाले विद्वान् न्यायाधीशों ने पूर्ण न्यायपीठ को निम्नलिखित प्रश्न निर्देशित किए :–

> "(1) जब बंधकदार अपने बंधक को प्रवर्तित कराने के लिए वाद करे और दस्तावेज का निष्पादन और अनुप्रमाणन स्वीकार न हो तो बंधकदार को डिक्री प्राप्त करने के लिए तथा साबित करना चाहिए ?
>
> (2) क्या रजिस्ट्रीकरण के समय उप रजिस्ट्रार तथा निष्पादी को

---

[1] इं. ला रि. 52 मद्रास 123 = ए. आई. आर. 1929 मद्रास 1.

पहचानने वाले साक्षियों के हस्ताक्षर संपत्ति अंतरण अधिनियम के प्रयोजनार्थ विलेख का पर्याप्त अनुप्रमाणन हैं, यह मानते हुए कि उप रजिस्ट्रार और पहचानने वाले साक्षियों ने निष्पादी से उसके हस्ताक्षर या चिह्न की स्वीय अभिस्वीकृति प्राप्त की और उन्होंने हस्ताक्षर निष्पादी की उपस्थिति में किए थे ?"

4. पूर्ण न्यायालय ने 26.6.1932 को प्रथम प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया :–

"जहां कि बंधकदार अपने बंधक का प्रवर्तन कराने के लिए वाद करता है और विलेख का निष्पादन और अनुप्रमाणन स्वीकृत नहीं है वहां बंधकदार को केवल इतना साबित करने की आवश्यकता है कि बंधककर्ता ने एक अनुप्रमाणक साक्षी की उपस्थिति में दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए और एक व्यक्ति ने दस्तावेज का अनुप्रमाणन किया ; किंतु यह तब जब कि स्वयं दस्तावेज पर एक से अधिक व्यक्ति का अनुप्रमाणन हो ; किंतु यदि बंधक की विधिमान्यता से इंकार विनिर्दिष्ट तौर पर किया गया हो और वह इस अर्थ में कि दस्तावेज से विधि की दृष्टि से बंधक नहीं हुआ तो बंधकदार द्वारा साबित किया जाना चाहिए कि बंधक विलेख का अनुप्रमाणन कम से कम दो साक्षियों ने किया ।"

5. दूसरे प्रश्न पर पूर्ण न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों की राय थी कि क्योंकि निर्णय परस्पर विरोधी हैं अतः उन्हें मामले का विनिश्चय केवल सिद्धांत की दृष्टि से करना चाहिए । और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि द्वितीय प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए । 10.11.1932 को दिए गए खंड न्यायपीठ के निर्णय से यह प्रकट होता है कि जब अपील खंड न्यायपीठ के समक्ष आगे सुनवाई के लिए आई तो यह माना गया कि यथाविद्यमान अभिलेख से जहां तक श्रीमती जमुना कुंवर का संबंध है, बंधक विलेख का सम्यक् अनुप्रमाणन वादी साबित नहीं कर पाए हैं और वादियों की ओर से आवेदन दिया गया कि दो अन्य साक्षी पेश करें तथा उक्त बद्री प्रसाद और कुंदन दस्तावेज लेखक से, जो पक्षद्रोही हो गए बताए गए, जिरह करने की अनुज्ञा दी जाए । आवेदन का आधार यह था कि वादी कलकत्ता और मद्रास उच्च न्यायालय के कुछ निर्णयों से भ्रांत हो गए थे । विद्वान् न्यायाधीशों ने मामला विचारण न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने का आदेश किया कि वह न्यायालय दो और साक्षियों के बयान ले और बद्री प्रसाद तथा कुंदन से जिरह भी हो ।

6. यह व्यवस्था की गई कि लछमन सिंह को भी साक्षियों से जिरह

का और खंडन में साक्ष्य देने का अवसर दिया जाना चाहिए । उच्च न्यायालय ने यह भी निदेश दिया कि विचारण न्यायालय यह साक्ष्य लेने के बाद समग्र साक्ष्य के आधार पर, जिसमें नया साक्ष्य भी होगा, इस प्रश्न पर निष्कर्ष लेखबद्ध करें कि बंधक विलेख श्रीमती जमुना कुंवर के संबंध में समग्र रूप से निष्पादित और अनुप्रमाणित था । हम इस विषय में कोई राय व्यक्त नहीं करते कि क्या मामला विचारण न्यायालय को भेजने का आदेश उचित प्ररूप में था अथवा कि उक्त आदेश के लिए आधार पर्याप्त था । यह आदेश वादियों के अनुरोध पर किया गया था । उसका क्रियान्वयन हुआ और विचारण न्यायालय ने उक्त आदेशानुसार निष्कर्ष दिया । प्रकट यह होता है कि वादियों ने नए साक्षी पेश करने के अवसर का उपयोग नहीं किया, किंतु बद्री प्रसाद और कुंदन से जिरह की गई । अधीनस्थ न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि जहां तक श्रीमती जमुना कुंवर का संबंध है बंधकपत्र का निष्पादन और अनुप्रमाणन सम्यक् रूप से साबित नहीं हुआ है ।

7. उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ ने अपील पर आगे विचार किया और 28.11.1933 को वे विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश के इस निष्कर्ष से सहमत हुए कि वादी, जहां तक कि श्रीमती जमुना कुंवर का संबंध है, बंधक पत्र का सम्यक् अनुप्रमाणन साबित नहीं कर पाए हैं । अतः उन्होंने निर्णय किया कि बंधक लछमन सिंह के हिस्से के संबंध में अविधिमान्य है । उन्होंने अपील मंजूर करके लछमन सिंह तथा बंधक संपत्ति में उसके हिस्से के संबंध में वाद खारिज कर दिया । उसके अनुसरण में दिए गए निर्णय और डिक्री के विरुद्ध ही वादियों ने सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील की है । भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872 का 1) तथा संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की कुछ धाराओं का उल्लेख करना आवश्यक है । सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं साक्ष्य अधिनियम की धारा 68 और संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 3 और 59 । साक्ष्य अधिनियम की धारा 68 इस प्रकार है :–

> "68. यदि किसी दस्तावेज का अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है तो उसे साक्ष्य के रूप में उपयोग में न लाया जाएगा, जब तक कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी, यदि कोई अनुप्रमाणक साक्षी जीवित और न्यायालय की आदेशिका के अध्यधीन हो तथा साक्ष्य देने के योग्य हो, उसका निष्पादन साबित करने के प्रयोजन से न बुलाया गया हो :
>
> परंतु ऐसी किसी दस्तावेज के निष्पादन को साबित करने के

लिए जो विल नहीं है, और जो भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम (1908 का 16) के उपबंधों के अनुसार रजिस्ट्रीकृत है, किसी अनुप्रमाणक साक्षी को बुलाना आवश्यक न होगा, जब तक कि उसके निष्पादन का प्रत्याख्यान उस व्यक्ति द्वारा जिसके द्वारा उसका निष्पादित होना तात्पर्यित है विनिर्दिष्ट न किया गया हो ।"

8. संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 59 में उपबंध है :–

"59. जहां कि प्रतिभूत मूलधन 100 रु. या उससे अधिक है, वहां वह बंधक, जो हक विलेख के निक्षेपों द्वारा बंधक से भिन्न है, बंधककर्ता द्वारा हस्ताक्षरित और कम से कम दो साक्षियों द्वारा अनुप्रमाणित रजिस्ट्रीकृत लिखत द्वारा ही किया जा सकेगा ।"

9. संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 3 में बताया गया कि "अनुप्रमाणित" शब्द से क्या अभिप्रेत है । यह परिभाषा निर्वचन खंड में अधिनियम सं. 27 सन् 1926 द्वारा जोड़ी गई और अधिनियम सं. 10 सन् 1927 द्वारा भूतलक्षी कर दी गई । यह इस प्रकार है :–

"किसी लिखत के संबंध में "अनुप्रमाणित" से ऐसे दो या अधिक साक्षियों द्वारा अनुप्रमाणित अभिप्रेत है और सर्वदा अभिप्रेत रहा होना समझा जाएगा जिसमें से हर एक ने निष्पादी को लिखत पर हस्ताक्षर करते या अपना चिह्न लगाते देखा है, या निष्पादी से उसके अपने हस्ताक्षर या चिह्न की या ऐसे अन्य व्यक्ति के हस्ताक्षर की वैयक्तिक अभिस्वीकृति पाई है, और जिसमें से हर एक ने निष्पादी की उपस्थिति में लिखत पर हस्ताक्षर किए हैं, किंतु यह आवश्यक न होगा कि ऐसे साक्षियों में से एक से अधिक एक ही समय उपस्थित रहे हों और अनुप्रमाणन का कोई विशिष्ट प्ररूप आवश्यक न होगा ।"

10. अतः यह स्पष्ट है कि इस मामले में बंधक, जहां तक श्रीमती जमुना कुंवर का संबंध है, ऐसी रजिस्ट्रीकृत लिखत द्वारा ही किया जा सकता था जिस पर उसने अपना अंगूठा लगाया हो और जो कम से कम दो साक्षियों द्वारा अनुप्रमाणित हो जिनमें से प्रत्येक ने या तो उसे लिखत पर अंगूठा लगाते देखा हो या उसने उनके समक्ष स्वीकार किया हो कि वह अंगूठा हमारा है और जनमें से प्रत्येक ने हस्ताक्षर श्रीमती जमुना कुंवर की उपस्थिति में किए हों । हमने 23.6.1909 को बंधक के कथित निष्पादन संबंधी साक्ष्य की परीक्षा की और हम भारत के न्यायालयों के इन निष्कर्षों से सहमत हैं कि वादी किसी विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा यह साबित नहीं कर सके कि जहां तक कि श्रीमती जमुना कुंवर का संबंध था बंधक विलेख

कानून के उपबंधों के अनुसार सम्यक् रूप से अनुप्रमाणित किया गया । हमारा समाधान हो गया है कि श्रीमती जमुना कुंवर ने बंधक विलेख पर अपना अंगूठा लगाकर उसे निष्पादित किया ; किंतु हमारा इस विषय में समाधान नहीं हुआ है कि तथाकथित अनुप्रमाणक साक्षियों ने उसको अंगूठा लगाते देखा या उनके समक्ष उसने स्वीकार किया कि यह हमारा है या कि उन्होंने लिखत पर हस्ताक्षर उसकी उपस्थिति में किए ।

11. अपीलार्थियों के विद्वान् अभिवक्ता ने साक्ष्य अधिनियम की धारा 68 की भाषा का आश्रय लिया, विशेषतः परंतुक का और निवेदन किया कि वादियों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि विचारण में अनुप्रमाणक साक्षी को बुलाएं, क्योंकि बंधक विलेख रजिस्ट्रीकृत था और उसके श्रीमती जमुना कुंवर द्वारा निष्पादित होने से लछमन सिंह ने विनिर्दिष्ट तौर पर इंकार नहीं किया था । हम यह तर्क स्वीकार नहीं कर सकते । यह स्पष्ट है कि लछमन सिंह ने अपने लिखित कथन में अभिवचन किया था कि वह बंधक विलेख का निष्पादन स्वीकार नहीं करता तथा अधीनस्थ न्यायाधीश के निर्णय से प्रकट होता है कि विचारण में जो प्लीडर लछमन सिंह की ओर से उपस्थित हुए उन्होंने जोरदार बहस की कि "वादगत बंधकपत्र का निष्पादन और सम्यक् अनुप्रमाणन हमारे मुवक्किल के विरुद्ध साबित नहीं हुए हैं ।" इन परिस्थितियों में हमारी राय में निर्णय यही किया जाना चाहिए कि बंधक विलेख का श्रीमती जमुना कुंवर द्वारा निष्पादन ऐसा तथ्य था जिससे लछमन सिंह ने विनिर्दिष्ट तौर पर इंकार किया था ।

12. फिर यह बहस की गई कि कम से कम अनुप्रमाणन साक्षी अर्थात् बद्री प्रसाद विचारण में बुलाया गया और इस प्रकार साक्ष्य अधिनियम की धारा 68 के उपबंध का अनुपालन हो गया तथा बंधक विलेख के सम्यक् निष्पादन और अनुप्रमाणन का और साक्ष्य आवश्यक नहीं था । यह अतिरिक्त तर्क हम नहीं मान सकते क्योंकि यद्यपि बद्री प्रसाद का अनुप्रमाणक साक्षी होना तात्पर्यित था और यद्यपि वह बंधक विलेख का निष्पादन साबित करने के प्रयोजनार्थ विचारण में बुलाया गया था, किंतु उसका बयान ऐसा साक्ष्य नहीं माना गया है जिसका कोई विश्वास किया जा सके । फिर बहस की गई कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 71 के उपबंध को देखते हुए बंधक विलेख का निष्पादन अन्य साक्ष्य द्वारा साबित किया जा सकता है । वह धारा तभी लागू होती है जब कि अनुप्रमाणक साक्षी दस्तावेज के निष्पादन से इंकार करे या उसे स्मरण न हो ।

13. हमें संदेह है कि उक्त वर्णन बद्री प्रसाद के मामले को लागू होता

है । किंतु इस अपील के प्रयोजनार्थ मान लेते हैं कि उसके बयान की कमियां, जिनके परिणामस्वरूप वह विश्वसनीय नहीं माना गया, त्रुटिपूर्ण स्मृति के कारण थी । यह मान लेने पर बंधक विलेख के रजिस्ट्रीकरण संबंध कार्यवाही पर विचार करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि बहस यह की गई कि उस कार्यवाही से दर्शित होता है कि संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 59 के उपबंधों का अनुपालन बंधक विलेख के रजिस्ट्रीकरण और अनुप्रमाणन दोनों के विषय में हो गया था । मामले के इस भाग के संबंध में अपीलार्थियों के विद्वान् अभिवक्ता ने **वीरप्पा चेट्टियार** वाले उक्त मामले में मद्रास उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायापीठ के निर्णय का आश्रय लिया । उस मामले में यह निर्णय लिया गया कि रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का 16) की धारा 58 और 59 के अधीन रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी और पहचानकर्ता साक्षियों के रजिस्ट्रीकरण पृष्ठांकन पर किए गए हस्ताक्षर संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 59 और उसके बाद के संशोधन अधिनियमों के अर्थों में पर्याप्त अनुप्रमाणन हैं ।

14. यह दृष्टव्य है कि जब उस मामले में अपील मूलतः खंड न्यायपीठ के समक्ष थी तो अधीनस्थ न्यायाधीश से उक्त न्यायपीठ ने अपेक्षा की थी कि मामले पर और विचार करें और उच्च न्यायालय द्वारा बताए गए कुछ तथ्य-विषयक प्रश्नों पर निष्कर्ष लिखें, और वह पूर्व इसके कि विधि प्रश्नों पर विचार किया जाए । उस आदेश के अनुपालन में अधीनस्थ न्यायाधीश ने ये तथ्य बताए : (1) जिस उप रजिस्ट्रार ने प्रदर्शक का रजिस्ट्रीकरण किया उन्होंने रजिस्ट्रीकरण पृष्ठांकन पर, जिसमें निष्पादी द्वारा निष्पादन की स्वीकृति थी, अपने हस्ताक्षर निष्पादियों के सामने किए । (2) जिन साक्षियों ने प्रदर्श के निष्पादियों को उप रजिस्ट्रार के समक्ष पहचाना वे सब उस समय उपस्थित थे जब कि निष्पादी ने उस दस्तावेज का निष्पादन स्वीकार किया । (3) पहचानकर्ता दोनों साक्षियों ने अपने हस्ताक्षर प्रदर्श क के निष्पादियों के सामने किए । इन परिस्थितियों को देखते हुए खंड न्यायपीठ ने पूर्ण न्यायपीठ को दो प्रश्न निर्देशित किए जिनमें से दूसरा प्रश्न इस प्रकार था :–

> 2. क्या रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 58 और 59 के अधीन रजिस्ट्रीकरण पृष्ठांकन पर रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी और पहचानकर्ता साक्षियों के हस्ताक्षर पूर्वोक्त संशोधन अधिनियम के साथ पठित संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 59 के अर्थों में पर्याप्त अनुप्रमाणन हो जाते हैं ?

15. पूर्ण न्यायपीठ ने इस प्रश्न का उत्तर "हां" में दिया । यह

महत्वपूर्ण है कि न्यायालय ने यह माना कि यह निर्णय करने के पूर्व कि संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 59 और उसके संशोधन अधिनियमों के उपबंधों का अनुपालन हो गया है उपर्युक्त तथ्य-विषयक निष्कर्ष होना आवश्यक है । इलाहाबाद उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ ने अब विचाराधीन मामले में इं. ला रि. 52 मद्रास 123 वाले उपर्युक्त निर्णय का अनुसरण नहीं किया और अपने निष्कर्षों के लिए उनके कारण उनके द्वारा 21.6.1932 को दिए गए निर्णय में समाविष्ट हैं । इन कारणों का विस्तार से वर्णन आवश्यक नहीं है । मुख्य कारण यह था कि संपत्ति अंतरण अधिनियम तीन भिन्न-भिन्न बातों की अपेक्षा करता है : (1) बंधककर्ता द्वारा सम्यक् निष्पादन ; (2) ऐसे निष्पादन का दो साक्षियों द्वारा सम्यक् अनुप्रमाणन ; (3) विलेख का सम्यक् रजिस्ट्रीकरण । विद्वान् न्यायाधीशों की राय थी कि यदि यह निर्णय किया जाए कि रजिस्ट्रीकरण और रजिस्ट्रीकरण के समय जो होता है वह यदि निष्पादन और अनुप्रमाणन का स्थान ले ले, जो कि अधिनियम की भाषा के अनुसार रजिस्ट्रीकरण के पहले होना चाहिए, तो अधिनियम की संपूर्ण भावना नष्ट हो जाएगी । उन्होंने आगे निर्णय किया कि न तो रजिस्ट्रार का और न पहचानकर्ता साक्षियों का रजिस्ट्रीकरण के समय तात्पर्य बंधक विलेख के निष्पादन के अनुप्रमाणक साक्षियों के रूप में हस्ताक्षर करने का था । अपीलार्थियों के विद्वान् अभिवक्ता ने हमारा ध्यान भारतीय विधि पत्रिकाओं में अनेक निर्णयों की ओर आकर्षित किया, जिनसे प्रकट होता है कि इस प्रश्न पर भारतीय निर्णयों में मतभेद है । हम उनकी विस्तार से परीक्षा करना आवश्यक नहीं समझते और न इस समय इस पर कोई राय व्यक्त करना आवश्यक समझते हैं कि क्या उपर्युक्त इं. ला रि. 52 मद्रास 123 वाला निर्णय या प्रस्तुत मामले में पूर्ण न्यायपीठ का निर्णय बताए गए कारणों से सही था ।

16. प्रथमतः इस मामले के प्रत्यर्थियों का यहां प्रतिनिधित्व नहीं है और यद्यपि हमें विश्वास है कि अपीलार्थियों के विद्वान् अभिवक्ता ने हमारा ध्यान अधिनियमों की सभी धाराओं की और सभी प्रकाशित निर्णयों की ओर, जिन्हें उन्होंने महत्वपूर्ण समझा, आकर्षित किया । किंतु हमें प्रत्यर्थियों की ओर से किसी बहस का लाभ नहीं मिला । ऐसी अपील में जो एकतरफा सुनी गई विचाराधीन जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर राय व्यक्त करने में हमें संकोच है, सिवाय उस दशा के जब कि ऐसा करना वस्तुतः आवश्यक हो । दूसरे, हमारी राय में इस अपील में ऐसा कना हमारे लिए आवश्यक नहीं है ।

17. यह मामला उपर्युक्त इं. ला रि. 52 मद्रास 123 में प्रकाशित निर्णय से इस दृष्टि से भिन्न है कि इसमें कोई तथ्यविषयक निष्कर्ष नहीं है

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका [2018] 3 उम. नि. प. 19

कि रजिस्ट्रीकरण के समय क्या हुआ जैसे कि मद्रास वाले मामले में थे । बंधकपत्र और उस पर किए गए रजिस्ट्रीकरण के पृष्ठांकन पर प्रकट होने वाले के अतिरिक्त साक्ष्य नहीं हैं । उस पृष्ठांकन से प्रकट होता है कि 24.6.1909 को अपराह्न 1 और 2 के बीच हिम्मत सिंह ने इटावा के विभागीय उप रजिस्ट्रार के कार्यालय में यह दस्तावेज पेश किया । उस दस्तावेज के पृष्ठांकन पर उप रजिस्ट्रार और हिम्मत सिंह ने हस्ताक्षर किए । पृष्ठांकन में तत्पश्चात् लिखा गया है कि हिम्मत सिंह और मूलू सिंह ने दस्तावेज पूरा होना और उसका निष्पादन स्वीकार किया तथा उनकी पहचान गेंदा लाल और नारायण सिंह ने की । रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी ने आगे लिखा कि साक्षियों में से एक को वे स्वयं जानते हैं ।

18. तत्पश्चात् हिम्मत सिंह और मूलू सिंह के हस्ताक्षर और अंगूठा निशान हैं तथा गेंदा लाल के हस्ताक्षर और नारायण सिंह के हस्ताक्षर और अंगूठा निशान साक्षियों के रूप में हैं । तत्पश्चात् और पृष्ठांकन है कि श्रीमती जमुना कुंवर ने दस्तावेज पूरा होने और उसका निष्पादन उस कमरे के दरवाजे के पीछे से जोर की आवाज में स्वीकार किया जिसमें वह थी । फिर यह लिखा गया कि उसकी पहचान नारायण सिंह और अयोध्या सिंह ने की । ये दोनों साक्षी दृश्यतः महिला की पहचान करने के लिए परदे के पीछे गए । तत्पश्चात् पृष्ठांकन में लिखा गया कि श्रीमती जमुना कुंवर का चिह्न आर अंगूठा निशान पहचानकर्ता साक्षियों की उपस्थिति में प्राप्त किए गए । उसके लिए उसने अपने हाथ परदे के बाहर निकाला था अयोध्या सिंह और नारायण सिंह के हस्ताक्षर और अंगूठा निशान तथा गेंदा लाल के हस्ताक्षर साक्षियों के रूप में हैं ।

19. हम यह मानने को तैयार हैं कि उप रजिस्ट्रार ने रजिस्ट्रीकरण के संबंध में कार्यवाही सही और सम्यक् तौर पर की, किंतु यह मान लेने पर भी कि इस बात का साक्ष्य नहीं है कि उन्होंने पृष्ठांकन पर हस्ताक्षर श्रीमती जमुना कुंवर की उपस्थिति में किए । रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 59 में उपबंध है कि उनको हस्ताक्षर उसी दिन करना चाहिए तथा समय के साक्ष्य के अभाव में कि उन्होंने कब हस्ताक्षर किए, यह नहीं माना जा सकता कि उन्होंने पृष्ठांकन पर हस्ताक्षर श्रीमती जमुना कुंवर की उपस्थिति में किए । फिर, ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जिससे कि हम यह निष्कर्ष निकालें कि जिन साक्षियों ने उसकी पहचान की उन्होंने पृष्ठांकन पर हस्ताक्षर श्रीमती जमुना कुंवर की उपस्थिति में किए या कि उन्होंने उसको बंधक विलेख का पूरा होना और निष्पादन स्वीकार करते सुना था ।

20. रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 60(2) में उपबंध है कि

रजिस्ट्री करने वाले अधिकारी के प्रमाणपत्र पर रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी द्वारा हस्ताक्षर किए जाएंगे, मुहर लगाई जाएगी और तारीख डाली जाएगी और तब वे यह साबित करने के प्रयोजनार्थ ग्राह्य होंगी कि दस्तावेज अधिनियम द्वारा उपबंधित ढंग से सम्यक् रूप से रजिस्ट्रीकृत हो गई है और धारा 59 में निर्दिष्ट पृष्ठांकन में वर्णित तथ्य उसके वर्णन के अनुसार सही हैं । किंतु जो विशिष्टियां रजिस्ट्रीकरण के लिए स्वीकार की गईं दस्तावेजों पर धारा 58 के अधीन पृष्ठांकित की जानी हैं उनमें उपर्युक्त तथ्यों का उल्लेख नहीं आता, जो कि हमारी राय में बंधक विलेख के संपत्ति अंतरण अधिनियम के अनुसार सम्यक् अनुप्रमाणन को साबित करने के लिए आवश्यक हैं । अतः रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 58, 59 और 60 इस विषय में अपीलार्थियों के लिए उपयोगी नहीं है ।

21. रजिस्ट्रीकरण के समय किए गए पृष्ठांकनों को समग्र रूप से लेने पर और उन्हें उनका स्वाभाविक अर्थ देने पर वे केवल रजिस्ट्रीकरण के मामले में सुसंगत प्रतीत होते हैं और साक्षी श्रीमती जमुना कुंवर की पहचान करने के प्रयोजनार्थ और केवल उसी प्रयोजनार्थ उपस्थित होते हैं । यदि रजिस्ट्रीकरण की कार्यवाही का आश्रय इस आशय से लेने का था कि वह प्रकट करती है कि संपत्ति अंतरण अधिनियम के बंधक विलेख के सम्यक् निष्पादन और अनुप्रमाणन के उपबंधों का अनुपालन किया गया तो वादी की ओर से यह साबित करने के लिए साक्ष्य दिया जाना चाहिए था जो आवश्यक और तात्विक था ।

22. अतः यह मानकर चलते हुए, किंतु विनिश्चय किए बिना, कि बंधक विलेख के रजिस्ट्रीकरण संबंधी कार्यवाही को श्रीमती जमुना कुंवर द्वारा बंधक विलेख के सम्यक् निष्पादन और अनुप्रमाणन को साबित करने के लिए देखना वैध होगा, हमारी राय में वादी उपर्युक्त तात्विक तथ्य साबित करने में असफल रहे जो कि संपत्ति अंतरण अधिनियम के उपबंधों के अनुपालन के लिए आवश्यक थे । इन कारणों से हमारी राय है कि अपील खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तद्नुसार है ।

अपील खारिज की गई ।

जुगल किशोर नारायण सिंह तथा अन्य ..... अपीलार्थी

बनाम

चारु चन्द्र सूर तथा अन्य ..... प्रत्यर्थी

21.3.1939

न्यायमूर्ति लार्ड रोमर, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

पर्दानशीन महिला – पर्दानशीन महिला द्वारा पट्टे के मामले में यह साबित करने का भार पट्टेदार पर होगा कि उसने संव्यवहार समझकर किया – किंतु जब यह प्रश्न विचारण न्यायालय में नहीं उठाया गया तो उच्च न्यायालय या प्रिवी काउंसिल में नहीं उठाया जा सकता, विशेषतः जब कि महिला ने अपने जीवनपर्यन्त उसे प्रश्नगत नहीं किया ।

हिन्दू विधि – विधवा द्वारा पट्टा जिसकी अवधि पूरी होने पर पूर्व विधवा की मृत्यु – उत्तरभोगियों के आचरण से पट्टे की पुष्टि मानी गई अतः वे पट्टेदार को समय-पूर्व बेदखल करने के लिए अंतःकालीन लाभ के देनदार ।

प्रस्तुत मामले में अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि बिहार के गया जिले में एक गांव का पट्टा प्रत्यर्थियों पर आबद्धकर है या नहीं । अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – अपने पक्ष के समर्थन में अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी ने प्रतिवादी सं. 4 द्वारा उसे दी गई लगान की रसीदें पेश करने के अतिरिक्त न्यायालय के समक्ष 2.4.1925 का एक वासिलबा का खाता पेश किया, जो वर्ष 1923, 1924 और अंशतः 1925 की बाबत हिसाब तय करता था । दस्तावेज में विधवा की मृत्यु के पूर्व तथा तत्पश्चात् के समय की बाबत लगान की अदायगी मुजरा की गई है और उन सब दायगियों को एक ही चालू खाता मानता है । कहा गया कि उससे पट्टे की मान्यता और पुष्टि प्रकट होती है । किंतु हम यह साक्ष्य मानने को तैयार नहीं हैं । प्रत्यर्थियों के इस तर्क में बल है कि यदि यह खाता अपने प्रकट रूप में उस समय होता जब उपखंड अधिकारी के समक्ष कार्यवाही चल रही थी तो वह अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी के इस दावे के समर्थन में पेश किया गया होता कि वह गांव के कब्जे या हकदार है । यदि उस समय अस्तित्व में भी था, फिर भी प्रतिवादी सं. 4 ने यह स्वयं नहीं लिखा था और न वह उस भाषा

को ठीक से समझता था जिससे वह लिखा हुआ है और यह किसी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि वह तीन प्रतिवादियों के सम्मति से तैयार किया गया था । किंतु इस दस्तावेज के समर्थन के अलावा हमारा मत यह है कि साक्ष्य पर्याप्त रूप से सिद्ध कर देता है कि प्रतिवादी पट्टे को अपने पर आबद्धकर मानने और उसके अधीन लगान प्राप्त करने में संतुष्ट थे । यह प्रतीत नहीं होता कि अपना निष्कर्ष निकालने में उच्च न्यायालय ने आचरण द्वारा पुष्टि के प्रश्न पर विचार किया । किसी भी दशा में उनके अभिव्यक्त विनिश्चय का आशय यह था कि मुख्तारनामे या मुख्तारनामों ने प्रतिवादी सं. 4 को यह प्राधिकार नहीं दिया कि पट्टे की पुष्टि करे । वह निष्कर्ष निःसंदेह सही है, किंतु बताए गए कारणों से वह इस विषय में निश्चायक नहीं है । (पैरा 9)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1925] 52 इंडियन अपील्स 342 =
आ. इं. रि. 1925 प्रि. कौं. 204 :
फरीदुभिसा बनाम **मुख्तार अहमद** । 6

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 1937 की अपील सं. 18.

अपीलार्थी की ओर से श्री एस. हयाय

प्रत्यर्थियों की ओर से श्री डब्ल्यू वालच

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर ने दिया ।

न्या. पोर्टर – प्रस्तुत मामले में अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि बिहार के गया जिले में एक गांव का पट्टा प्रत्यर्थियों पर आबद्धकर है या नहीं । प्रश्नगत भूमि एक निवारण चन्द्र विश्वास की संपत्ति थी। उसकी मृत्यु निःसंतान हो गई । उसने एक विधवा श्रीमती किरण शशि दासी छोड़ी, जिसे पति की मृत्यु के बाद संपत्ति में हिन्दू विधवा की संपदा मिली । उसकी मृत्यु पर प्रत्यर्थी, जो उसके दिवंगत पति की संपदा के उत्तरभागी थे, संपत्ति के हकदार हुए । पति की मृत्यु 1895 में हुई । उसकी विधवा की आयु उस समय लगभग 24 वर्ष की थी । 7.4.1919 को उसने थाना नवादा में स्थित चोकटी अमरवां गांव का 11 वर्ष के लिए पट्टा अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी के पक्ष में 3,350 रु. वार्षिक लगान पर कर दिया । यह लगान पांच किस्तों में देय था । पट्टे में उपबंध था कि

काश्तकार 3,350 रु. जमा करें, जो पट्टादात्री के पास ब्याजरहित रूप में रहेगा और इसकी काश्तकार को वापसी पट्टे के अंतिम दो वर्षों में देय अंतिम तीन किस्तों में से मुजरा करके की जाएगी । इसमें काश्तकार द्वारा की गई अनेक प्रसंविदाएं थीं जिनमें उस पर भूमि की कृषि, प्रबंध और सुधार के विषय में अनेक वे बाध्यताएं थीं और यह भी दायित्व था कि सरकारी देयों के सिवाय सभी देय अदा करें और मुकदमेबाजी का कुछ खर्च भी वहन करें ।

2. पट्टे में हावड़ा न्यायालय के प्लीडर अमूल्य कृष्ण मिश्र का हस्ताक्षरयुक्त यह कथन है कि यह पट्टादात्री को पढ़कर सुना-समझा दिया गया और इस पर एक पृष्ठांकन भी है जो संभवतः कलकत्ता के रजिस्ट्रार या उनके प्रतिनिधि द्वारा हस्ताक्षरित है । यह इस आशय का है कि पट्टादात्री ने निष्पादन स्वीकार किया और रजिस्ट्रार का समाधान हो गया कि उसने दस्तावेज का निष्पादन स्वेच्छा से किया है । पट्टा मई, 1930 के पूर्व समाप्त नहीं हुआ, किंतु विधवा की मृत्यु 21.9.1924 को हो गई, अर्थात् पट्टे की समाप्ति के लगभग 6 वर्ष पूर्व । उसकी मृत्यु के बाद अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी का संपत्ति पर स्वीकृततः कब्जा दिसंबर, 1926 तक रहा, जब कि प्रत्यर्थियों ने उसे बेदखल कर दिया । इसी बीच 20.12.1924 को प्रत्यर्थियों में से दो ने अर्थात् प्रसन्न कुमार सूर और चारु चन्द्र सूर ने नरेन्द्र नाथ नियोगी प्रतिवादी सं. 4 के हक में एक मुख्तारनामा लिखा दिया । यह मुख्तारनामा सीमित था किंतु किसी भी दशा में मुख्तारों को हक दे दिया गया था कि धन संग्रह करें और उसके लिए रसीद दें । प्रतिवादी सं. 3 इस दस्तावेज में पक्षकार नहीं था, किंतु साक्ष्य से प्रकट होता है कि उसने भी एक मुख्तारनामा लिखा था, किंतु वह निष्पादन के लगभग एक वर्ष बाद उसे वापस कर दिया गया और तत्पश्चात् उस पर कार्य नहीं किया गया । मुख्तारनामों का जो भी प्रभाव रहा हो, प्रकट यह होता है कि प्रतिवादी सं. 4 अपने सहप्रतिवादियों के कामकाज का प्रबंध करता रहा, जिसमें वह सब भी शामिल था जो अब विवादित पट्टे के अधीन किया जाना था और उसके अधीन देय लगान की वसूली भी । उसने अपने बयान में यही कहा कि किसी से उसका खंडन नहीं किया । अपने कथन की पुष्टि के लिए उसने 4.11.1925 की तथा मार्च, जून, जुलाई, सितंबर और अक्तूबर 1926 की रसीदें पेश कीं ।

3. अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी के बेदखल किए जाने के कुछ ही समय बाद पट्टे के विषयभूत गांव की कुछ भूमि की एक रैयत ने नवादा

के उपखंड अधिकारी के समक्ष एक कार्यवाही प्रत्यर्थियों के विरुद्ध दाखिल की, जिसमें उसने मांग की कि उस भूमि के उपज बंगाल भू-धृति अधिनियम, 1855 की धारा 69 के अधीन उसमें और भू-स्वामियों में विभाजित कर दी जाए । लगभग उसी समय अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी ने दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन कार्यवाही प्रारंभ की कि उसे गांव के अपने कब्जे के संबंध में प्रत्यर्थियों ने विरोध में अर्जियां दाखिल करके कहा कि पट्टा विधवा की मृत्यु पर समाप्त हो गया और तत्पश्चात् उन्होंने लगातार दो वर्ष अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी को मौखिक पट्टा दिया था दूसरे वर्ष की समाप्ति पर उन्होंने उक्त गांव का कब्जा ले लिया था । तत्पश्चात् 1.9.1929 को अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी ने यह वाद दाखिल किया, जिसमें बेदखली की तारीख से पट्टे की समाप्ति तक के लिए अंतःकालीन लाभों की और पट्टे के प्रारंभ में लगान की बाबत जमा की गई राशि की वापसी की मांग की । उस दावे के उत्तर में प्रत्यर्थियों ने कहा कि पट्टा करने में विधवा ने प्रज्ञावान् प्रबंधक के रूप में कार्य नहीं किया था और न वह संपदा के फायदे के लिए था । उन्होंने इंकार किया कि उन्होंने प्रतिवादी सं. 4 को कभी शक्ति या प्राधिकार प्रदान किया था कि पट्टे का अनुसमर्थन करें या वह दें । उन्होंने इस बात से भी इंकार किया कि उन्होंने कभी प्रश्नगत पट्टे का अनुसमर्थन किया और कहा कि उन्होंने 6.6.1927 को मुख्तारनामा, उनका जो भी प्रभाव रहा हो, वापस ले लिया । प्रतिरक्षा में यह कथन नहीं था कि विधवा ने पट्टा ठीक-ठीक नहीं समझा था या स्वेच्छा से निष्पादित नहीं किया था ।

4. वाद की सुनवाई में अधीनस्थ न्यायाधीश ने कुछ विवादों की विरचना की जिनमें से निम्नलिखित उद्धृत किए जा सकते हैं : (2) क्या प्रश्नगत पट्टा औचित्य प्रदान करने वाली आवश्यकता संपदा के फायदे के लिए था ? (3) क्या प्रत्यर्थियों ने वर्ष 1332 व 1333 में, अर्थात् 1925 व 1926 में, वादी को वार्षिक पट्टे दिए थे ? (4) क्या प्रत्यर्थी सं. 1 से 3 तक ने पट्टे का अनुसमर्थन और पुष्टि की ? (5) क्या अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी वर्ष 1927 से गलत तौर पर बेदखल कर दिए गए ? (7) क्या अपीलार्थियों का पूर्वाधिकारी अंतःकालीन लाभों का हकदार था ? (8) क्या अपीलार्थी का पूर्वाधिकारी किसी अनुतोष का हकदार था और यदि था तो किसका ? इन विवाद्यकों को उन्होंने उत्तर दिया कि मामले की परिस्थितियों में पट्टा औचित्य प्रदान करने वाली आवश्यकतावश और संपदा के फायदे के लिए था, प्रत्यर्थियों ने वार्षिक पट्टे नहीं दिए थे बल्कि उसने मूल पट्टे का अनुसमर्थन और पुष्टि की थी, अपीलार्थियों के

पूर्वाधिकारी को 1927 से गलत तौर पर बेदखल कर दिया गया और वह अंतःकालीन लाभों और तीन चौथाई जमा राशि की वापसी का हकदार था । 16.6.1928 को और वाद की तारीख के पहले प्रतिवाद सं. 4 ने अपने गांव में अपना 1/4 हिस्सा अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी को बेच दिया था । सुनवाई के बाद उसकी मृत्यु हो गई और उसका नाम अभिलेख से काट दिया गया । अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री के विरुद्ध अन्य तीन प्रतिवादियों ने पटना उच्च न्यायालय में अपील की । अपील विचाराधीन रहते प्रतिवादी सं. 1 प्रसन्न कुमार सूर ने अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी से अपना विवाद तय कर लिया और एक समझौता अर्जी दाखिल की । फिर अपील कर आगे कार्रवाई प्रतिवादी सं. 2 व 3 ने ही की ।

5. उच्च न्यायालय ने अपील दो आधारों पर मंजूर कर ली । न्यायमूर्ति वर्मा द्वारा दिए गए निर्णय से प्रथमतः यह विनिश्चय किया गया कि पट्टे का अनुसमर्थन नहीं किया गया था । उस निर्णय में इस प्रश्न की स्पष्ट रूप से चर्चा नहीं की गई कि क्या प्रत्यर्थियों ने पट्टे का मौखिक अनुसमर्थन किया था, जैसा कि अधीनस्थ न्यायाधीश ने पाया । इस प्रश्न पर विनिश्चय केवल इस बात पर आधारित था कि पेश किए गए एकमात्र मुख्तारनामे पर हस्ताक्षर प्रत्यर्थियों में से दो के थे, न कि तीन के और किसी भी दशा में उसने पट्टा देने या अनुसमर्थित करने की शक्ति प्रदान नहीं की थी । अतः यद्यपि अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी का कब्जा पट्टादात्री की मृत्यु के बाद दो वर्ष बना रहा, किंतु कोई अनुसमर्थन नहीं रहा । दूसरे, यह निर्णय किया गया कि पेश किए गए साक्ष्य में ऐसा कुछ नहीं है जो प्रकट करे कि पट्टादात्री, जो एक पर्दानशीन महिला थी, उस संव्यवहार की प्रकृति समझती थी जो वह कर रही थी और अन्य बातों के साथ-साथ उसे कभी सूचित नहीं किया गया कि पट्टेदार की दृष्टि में संपत्ति अपेक्षाकृत थोड़ा-सा खर्च करने पर 50 से 100 प्रतिशत तक अधिक आय दे सकती है । अतः निर्णय किया गया कि पट्टा केवल प्रथम आधार पर उत्तरभोगी के विरुद्ध ही शून्यकरणीय नहीं था अपितु द्वितीय आधार पर विधवा के विरुद्ध भी शून्य था ।

6. जहां तक उत्तरोक्त आधार का संबंध है, हमारे विचार से प्रत्यर्थियों को यह अनुमत नहीं था कि उच्च न्यायालय में या इस बोर्ड के समक्ष उसका आश्रय लें । ऐसा अभिवचन सफल होने पर पट्टा प्रारंभ से ही शून्य हो जाएगा । निःसंदेह यह सही है कि जो व्यक्ति पर्दानशीन महिला द्वारा दिए गए पट्टे को विधिमान्य बताए उस पर यह साबित करने का भार होता है कि वह अपने कार्य की प्रकृति और प्रभाव समझती थी, देखिए -

पुरीदुन्निसा बनाम **मुख्तार अहमद**[1] किंतु पट्टे की विधिमान्यता को प्रश्नगत करने का कोई अभिवचन प्रतिवादियों के लिखित कथन में नहीं था । और हम ऐसा अभिवचन ऐसे मामले में अनुमत करने के अनिच्छुक होंगे जिसमें कि स्वयं महिला ने अपने जीवनकाल में उस बाबत शिकायत नहीं की और जहां कि उसने अपनी मृत्यु के पूर्व कई वर्ष पर्यन्त लगान प्राप्त किया और उसका फायदा उठाया । इस तक से कि पट्टा न प्रज्ञापूर्ण था और न संपदा के फायदे के लिए, पट्टा शून्य नहीं हो जाएगा, बल्कि वह केवल आजीवन हित की समाप्ति पर उत्तरजीवी के विकल्प पर शून्यकरणीय होगा । अतः हमें पहले यह विनिश्चय करना है कि क्या पट्टा प्रज्ञापूर्ण और फायदाप्रद था ; और दूसरे, यदि वह ऐसा साबित नहीं किया जाए तो क्या उत्तरभोगियों ने उसे शून्य किया या उसकी पुष्टि की ।

7. अपीलार्थियों का कहना है कि पट्टा प्रज्ञापूर्ण भी था और फायदा भी । उनके अनुसार साक्ष्य से साबित किया गया है कि महिला पर्दानशीन थी तथा कलकत्ता में रहती थी, जब कि संपदा बिहार के मध्य में थी ; उसे स्वयं उसका प्रबंध करने में बड़ी कठिनाई थी ; उसका कोई संबंधी भी नहीं था जो कि संपदा की देखभाल कर सकता ; गांव का प्रबंध वस्तुतः ठीक नहीं था और उसकी सिंचाई भी उपेक्षित थी ; अनेक काश्तकार लगान नहीं दे रहे थे और लगान के आधे दर्जन विवादपूर्ण मामले काश्तकारों और महिला के बीच चल रहे थे । दूसरी ओर प्रत्यर्थियों का कहना था कि साक्ष्य से संपदा के प्रबंध की कोई असाधारण कठिनाई प्रकट नहीं होता और जो वाद विचाराधीन है उनमें काश्तकारों ने केवल अपना यह विधिक अधिकार सिद्ध करना चाहिए था कि उनकी जोत की फसल उनमें और पट्टादात्री में साम्यापूर्ण ढंग से बांट दी जाए और यदि यह सही भी हो कि सिंचाई की कुछ उपेक्षा की गई तो भी पट्टेदार से कहीं बेहतर शर्तें प्राप्त की जा सकती थीं विशेषतः अपीलार्थी के स्वयं साक्ष्य के अनुसार उसके पूर्वाधिकारी ने अपने को मिलने वाला लगान 800-900 रु. खर्च करके बढ़ाकर 9,000 से 12,000 रु. वार्षिक तक कर लिया था । इसके अतिरिक्त उनका कहना है कि महिला ने 3,350 रु. प्राप्त कर लिए थे जो सारतः पेशगी लगान था और उसके परिणामस्वरूप पट्टे के अंतिम दो वर्षों में उसके उत्तराधिकारियों को 3,350 रु. नहीं बल्कि प्रतिवर्ष 1,675 रु. घटकर शेष 1,675 ही मिलेंगे । हमारा यह विश्वास नहीं बना है कि पट्टा प्रज्ञापूर्ण या संपदा के लिए फायदाप्रद था । हमारे विचार से संपदा का प्रबंध

---

[1] 52 इंडियन अपील्स 342 = आ. इं. रि. 1925 प्रि. कौं. 204.

इतना कठिन नहीं था कि पट्टा दिया जाए जो पट्टेदार को अपेक्षाकृत कम व्यय करके इतना अधिक फायदा दे सकता था और हम इस बात से भी प्रभावित हुए हैं कि विधवा ने 3,350 रु. प्राप्त किए थे तथा पट्टे की शर्तों के अनुसार पट्टे के अंतिम दो वर्षों के दौरान लगान उतना कम हो जाना था । किंतु प्रश्न बचता है पुष्टि का । इसके विषय में अपीलार्थियों का निवेदन है कि प्रतिवादी सं. 4 को दिया गया जो मुख्तारनामा पेश किया गया उससे तीन अन्य प्रतिवादियों में से केवल दो आबद्ध थे, किंतु वैसा ही दूसरा मुख्तारनामा प्रतिवादी सं. 3 द्वारा दिया गया साबित किया गया और यद्यपि इस मुख्तारनामे से प्रतिवादी सं. 4 को यह प्राधिकार नहीं मिला था कि पट्टा दे या उसकी पुष्टि करे, किंतु उससे उसे यह प्राधिकार अवश्य मिला कि लगान प्राप्त करे और वस्तुतः प्रत्यर्थियों ने प्रतिवादी सं. 4 पर ही दो वर्ष के लिए संपदा का प्रबंध छोड़ रखा था और उन्हें पट्टे का ज्ञान होगा और इस बात का भी कि उनका प्रबंधक अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी को संपदा पर दखल बनाए रहने दे रहा है और उसके अधीन लगान प्राप्त कर रहा है और साक्ष्य से सिद्ध हो जाता है कि चारों प्रतिवादियों ने पट्टे की पुष्टि मौखिक रूप से कर दी थी । प्रश्नगत तीन प्रतिवादियों में से केवल पहले ने बयान दिया ; किंतु उनकी ओर से कहा गया कि इस बोर्ड को चाहिए कि उसका यह बयान मानें कि अन्य तीन प्रतिवादियों को न पट्टे का ज्ञान था और न उन्होंने कभी उसके अधीन लगान प्राप्त किया तथा पट्टेदार उस पट्टे के अधीन नहीं बल्कि वार्षिक अभिधृति के मौखिक करार के आधार पर था ।

8. हम यह मत स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि पट्टे की विनिर्दिष्ट तौर पर पुष्टि चारों प्रतिवादियों ने की या केवल प्रतिवादी सं. 4 ने की और न हम इस साक्ष्य का विश्वास करते हैं कि वार्षिक अभिधृति का कोई करार हुआ । हमारी दृष्टि में सही निष्कर्ष यह है कि प्रतिवादी इस बात से संतुष्ट थे कि प्रतिवादी सं. 4 संपदा का प्रबंध करे और उसका लगान प्राप्त करे और ऐसा उन्होंने अभिधृति होने की पूरी जानकारी के साथ किया और जब पट्टा समाप्त होने वाला था तभी अपने को मिलने वाले लगान की कमी को देखते हुए उन्होंने पट्टा समाप्त करने का और काश्तकार को बेदखल करने का निश्चय किया । हम यह मत स्वीकार नहीं कर सकते कि काश्तकार किसी आपत्ति के बिना वार्षिक अभिधृति उतने समय के लिए स्वीकार कर लेता जब तक कि प्रत्यर्थी देना चाहे और वह सारा फायदा छोड़ देता जो उसे जमा राशि के कारण मिलने वाला था । कहा यह गया कि अपीलार्थियों की आरे से मूलतः यह बात नहीं कही गई

थी और केवल यह कहा गया था कि पट्टे की विनिर्दिष्ट तौर पर पुष्टि की गई थी और इस बोर्ड को चाहिए कि उन्हें वादपत्र की शब्दावली से कड़ाई से बंधा रखें । किंतु हमारी राय में आचरण द्वारा पुष्टि उस तर्क से असंगत नहीं है और उस दावे में विवक्षित है ।

9. अपने पक्ष के समर्थन में अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी ने प्रतिवादी सं. 4 द्वारा उसे दी गई लगान की रसीदें पेश करने के अतिरिक्त न्यायालय के समक्ष 2.4.1925 का एक वासिलबा का खाता पेश किया, जो वर्ष 1923, 1924 और अंशतः 1925 की बाबत हिसाब तय करता था । दस्तावेज में विधवा की मृत्यु के पूर्व तथा तत्पश्चात् के समय की बाबत लगान की अदायगी मुजरा की गई है और उन सब दायगियों को एक ही चालू खाता मानता है । कहा गया कि उससे पट्टे की मान्यता और पुष्टि प्रकट होती है । किंतु हम यह साक्ष्य मानने को तैयार नहीं हैं । प्रत्यर्थियों के इस तर्क में बल है कि यदि यह खाता अपने प्रकट रूप में उस समय होता जब उपखंड अधिकारी के समक्ष कार्यवाही चल रही थी तो वह अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी के इस दावे के समर्थन में पेश किया गया होता कि वह गांव के कब्जे या हकदार है । यदि उस समय अस्तित्व में भी था, फिर भी प्रतिवादी सं. 4 ने यह स्वयं नहीं लिखा था और न वह उस भाषा को ठीक से समझता था जिससे वह लिखा हुआ है और यह किसी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि वह तीन प्रतिवादियों के सम्मति से तैयार किया गया था । किंतु इस दस्तावेज के समर्थन के अलावा हमारा मत यह है कि साक्ष्य पर्याप्त रूप से सिद्ध कर देता है कि प्रतिवादी पट्टे को अपने पर आबद्धकर मानने और उसके अधीन लगान प्राप्त करने में संतुष्ट थे । यह प्रतीत नहीं होता कि अपना निष्कर्ष निकालने में उच्च न्यायालय ने आचरण द्वारा पुष्टि के प्रश्न पर विचार किया । किसी भी दशा में उनके अभिव्यक्त विनिश्चय का आशय यह था कि मुख्तारनामे या मुख्तारनामों ने प्रतिवादी सं. 4 को यह प्राधिकार नहीं दिया कि पट्टे की पुष्टि करे । वह निष्कर्ष निःसंदेह सही है, किंतु बताए गए कारणों से वह इस विषय में निश्चायक नहीं है ।

10. जैसा कि हमारा विचार है, यदि अपीलार्थियों का पूर्वाधिकारी अवधि की समाप्ति तक उपभोग करने का हकदार था तो प्रश्न उठता है कि अंतःकालीन लाभों की गणना किस प्रकार की जाए । विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने 3,350 रु. की जमा राशि की तीन-चौथाई की वापसी और वर्ष 1927 से 1930 तक के अंतःकालीन लाभों की डिक्री दी है, यद्यपि उन्होंने प्रथम तीन प्रतिवादियों को वह लगान मुजरा दिया है जो कि वादी ने वर्ष 1927 के लिए वसूल किया हो । यह डिक्री सारतः तो सही है, किंतु

प्ररूप की दृष्टि से गलत है । अपीलार्थी जमा राशि या उसके किसी भाग की वापसी के हकदार नहीं हैं । किंतु वे अंतःकालीन लाभों का हिसाब लेने में उस अंतर के हकदार होंगे जो कि उस लगान में जो प्रत्यर्थियों को उनके पूर्वाधिकारी के कब्जे में रहने पर प्राप्त होता, और उस राशि में हो जो उन प्रत्यर्थियों ने वस्तुतः प्राप्त की, चाहे धन के रूप में चाहे वस्तु के रूप में और चाहे अन्यथा, क्योंकि संपदा पर कब्जा उनका था । किंतु जो लगान उन्हें अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी से मिलता वह अंतिम दो वर्षों में प्रतिवर्ष, 3,350 रु. न होकर केवल 1,675 रु. होता । इस आधार पर अपीलार्थी हकदार है कि उस अवधि का अंतःकालीन लाभ प्राप्त करें जो उस तारीख से प्रारंभ होती हो जब कि उनके पूर्वाधिकारी को बेदखल किया गया और पट्टे की समाप्ति के साथ समाप्त होती हो और उन अंतःकालीन लाभों पर ब्याज भी प्राप्त करें । यह ब्याज 5 प्रतिशत की दर से वार्षिक रूप से आकलित किया जाएगा । किंतु वह पूरे 16 आने हिस्से के हकदार नहीं हैं क्योंकि प्रतिवादी सं. 1 और 4 ने अब मामले में समझौता कर लिया है । अतः वे उपर्युक्त प्रकार से अभिनिश्चित कुल राशि का आधा हिस्सा ही पाने के हकदार हैं ।

11. अपीलार्थी सारतः अपनी अपील में सफल हुए हैं और उन्हें इस बोर्ड का तथा उच्च न्यायालय का अपना खर्चा मिलना चाहिए । हमारे द्वारा व्यक्त किए गए विचारों के अनुसार हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील मंजूर की जाए, अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री संशोधित कर दी जाए और वाद प्रतिवादी सं. 2 और 3 के विरुद्ध प्रत्यर्थियों को देय अंतःकालीन लाभों के आधे के लिए डिक्री किया जाए जो अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी के बेदखल किए जाने के कारण हुआ । यह अवधि 1334 फसली के प्रारंभ से 1337 फसली के अंत तक होगी और उस पर वार्षिक रूप से आकलित 5 प्रतिशत का ब्याज भी मिलेगा । अपीलार्थियों के पूर्वाधिकारी ने 1334 फसली के लिए यदि कोई लगान वसूल किया हो तो उसका आधा प्रत्यर्थियों के पक्ष में गिना जाएगा । अधीनस्थ न्यायाधीश की खर्चे के विषय में डिक्री पुनः स्थापित की जाए और प्रत्यर्थी अपीलार्थियों का उच्च न्यायालय का और इस बोर्ड का खर्चा अदा करें ।

अपील मंजूर की गई ।

सेठ विरध मल और अन्य ..... अपीलार्थी

बनाम

सेठानी प्रभावती कुंवर और अन्य ..... प्रत्यर्थी

27.3.1939

न्यायमूर्ति लार्ड रोमर, न्यायमूर्ति सर लांसलाट सेंडरसन व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

हिन्दू विधि – जैन – दत्तक-ग्रहण – जब जैन विधवा ने अपने दिवंगत पति के लिए पुत्र गोद लिया और उस बाबत रजिस्ट्रीकृत विलेख निष्पादित किया तो सब रजिस्ट्रार के समक्ष पुत्र के नैसर्गिक पिता और दत्तकग्राही माता का एक साथ उपस्थित होना और प्रश्नों का उत्तर देना दत्तक-ग्रहण साबित करने के लिए पर्याप्त – अलग से यह स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है कि नैसर्गिक पिता ने बालक दत्तकग्राही माता को वस्तुतः दिया ।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 41, नियम 27 – जब विचारण न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण साक्षी का बयान लेने से इंकार कर दिया तो अपील न्यायालय उसका बयान इस नियम के अधीन लिख सकता है ।

प्रक्रिया – प्रिवी कौंसिल – निचले न्यायालय के तथ्य-विषयक समान निष्कर्ष में सामान्यतः प्रिवी कौंसिल तब तक हस्तक्षेप नहीं करेगी जब तक कि यह न दिखाया जाए कि निचले न्यायालय ने गलत ढंग अपनाया या साक्ष्य की उपेक्षा की या अन्य गलती की जिससे निष्कर्ष गलत हो गया ।

इस अपील में मुख्य प्रश्न यह है कि क्या यदि जैन विधवा अपने दिवंगत पति के लिए पुत्र गोद ले और उस बाबत रजिस्ट्रीकृत विलेख निष्पादित करे तो सब रजिस्ट्रार के समक्ष पुत्र के नैसर्गिक पिता और दत्तकग्राही माता के एक साथ उपस्थित होने और प्रश्नों का उत्तर देना दत्तकग्रहण साबित करने के लिए पर्याप्त नहीं है । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – विधवा ने इस डिक्री के विरुद्ध अपील नहीं की । वस्तुतः उसका उससे कोई असंतोष नहीं था । किंतु वादियों ने न्यायिक आयुक्त न्यायालय में अपील सं. 68 सन् 1930 दाखिल की । इसी प्रकार से बालक

और उसके पिता भंवर मल ने अपील सं. 50 सन् 1930 दाखिल की । अपीलें एक साथ सुनी गई ; किंतु उनके परिणाम भिन्न हुए । 4.5.1931 का विद्वान् न्यायिक आयुक्त ने वह अपील खारिज कर दी जो कि वादियों ने विधवा को कारबार में हस्तक्षेप करने से रोकने का व्यादेश देने से इंकार के विरुद्ध की थी । किंतु उन्होंने दत्तक-ग्रहण विधिमान्य ठहराया और संपूर्ण कार्यवाही के खर्चे सहित पूरा वाद खारिज कर दिया । इस अपील में प्रत्यर्थियों को स्वीकार किया है कि बालक देने और लेने के सबूत के बिना दत्तक-ग्रहण विधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता । दूसरी ओर अपीलार्थियों की ओर से यह माना गया कि इस कुटुंब के विषय में साक्ष्य को देखते हुए कोई आपत्ति इस आधार पर सफल नहीं हो सकती कि विधवा को पति से प्राधिकार नहीं था और न उसके निकट संबंधियों की सम्मति थी और न इस कारण कि बालक निकट संबंधी नहीं था । एकमात्र प्रश्न जिसकी हमारे समक्ष चर्चा की गई इस तथ्य का था कि क्या 30.6.1924 को सायं लगभग 6 बजे जब दत्तक विलेख की रजिस्ट्री हो रही थी तब बालक उपस्थित था और उसे भंवर मल ने दिया तथा विधवा ने लिया । इस प्रश्न पर भारत के न्यायालयों में मतभेद रहा है । किंतु न्यायिक आयुक्त के समक्ष साक्ष्य वही नहीं था जो विचारण न्यायाधीश के समक्ष था । दत्तक विलेख के रजिस्ट्रीकरण के समय की कार्यवाही के एक महत्वपूर्ण साक्षी बैरिस्टर श्री किशन स्वरूप थे । विचारण में उन्हें साक्षी के रूप में पेश किया गया, किंतु हमें बताया गया कि विचारण न्यायाधीश ने उनके बयान लेने से इस आधार पर इंकार कर दिया कि वह इस मामले में वकील हैं । न्यायिक आयुक्त ने अपील में उनके बयान आदेश 41, नियम 27 के अधीन लेखबद्ध किए, यद्यपि प्रकट यह होता है कि नियम की अपेक्षानुसार उन्होंने अपने कारण लेखबद्ध नहीं किए । हमारी राय में यह साक्ष्य सही तौर पर लिया गया । इस बात के लिए मान्य कारण हो सकते थे कि श्री किशन स्वरूप अपना वकालतनामा रद्द करा दें और मामले में वकील के रूप में कार्य करना बंद कर दें, किंतु किसी पक्षकार को साक्षी के बयान से वंचित करना बिल्कुल अलग बात है । श्री पेज ने बहस की कि यदि वंशावली में प्रकट किए गए दत्तक ग्रहण का हिसाब लगाया जाए तो यह मान लेने पर कि समीर मल की शाखा के सदस्य परस्पर संयुक्त नहीं थे और दत्तक-ग्रहण के समय कोई विशिष्ट सौदे नहीं हुए, कारबार के लाभों का तिहाई और छठे हिस्सों में विभाजन किसी भी दृष्टि से देखने पर पक्षकारों के अधिकारों के अनुरूप

नहीं है । किंतु यह तर्क मामले के किसी पूर्व प्रक्रम पर किया गया नहीं प्रतीत होता और जिन तथ्यों पर वह निर्भर करता है वे पर्याप्त रूप से अभिनिश्चित नहीं किए गए हैं । हमें समाधान प्रदान करने वाले रूप में यह दर्शित नहीं किया गया है कि जीत मल के कुटुंब के विभाजित या अविभाजित होने के प्रश्न पर समान निष्कर्ष ढंग की किसी त्रुटि या किसी गलती या साक्ष्य के किसी पक्ष की उपेक्षा पर आधारित हैं । भारत के न्यायालयों को निष्कर्ष आचरण के साक्ष्य से निकालना था, जो सदैव संगत नहीं था, और उन बयानों से भी जो परस्पर विरोधी थे । उन्होंने यह विचार सही तौर पर किया कि कारबार के लाभ और संपत्ति के प्रति व्यवहार उस दशा में प्रत्याशित से बहुत भिन्न था जब वे एक संयुक्त कुटुंब के होते जिसके सदस्य समीर मल के पुत्र और पौत्र भी थे, जिनके अधिकार संयुक्त रहने की दशा में जीत मल के अधिकारों के बराबर थे । यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता कि कारबार के लाभ और संपत्तियां घरों के अनुसार इसलिए बांटी गई कि यह एक उचित तरीका था जिससे कि कुटुंब के सभी सदस्यों की आवश्यकताएं पूरी हो जाएं । घरों के हिसाब से विभाजन चार भागों में होता । जीत मल और कान मल ने परस्पर एक-तिहाई का विभाजन किया । जीत मल की विधवा को की गई अदायगियां और उन्हें 52 मूल्यवान शेयरों के आबंटन को महत्व देने में भारत के न्यायालयों ने बड़े विश्वसनीय साक्ष्य को आधार बनाया है । इन परिस्थितियों में हम उस महत्वपूर्ण पद्धति से, (यद्यपि वह अनम्य नहीं है) कि तथ्य विषयक समान निष्कर्षों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, विचलन के लिए पर्याप्त कारण नहीं पाते । (पैरा 3 और 8)

अपीलार्थियों की ओर से — सर्वश्री एल. पी. ई. पुग, एम. एम. प्रिंगल और डब्ल्यू. डब्ल्यू. के. पेज

प्रत्यर्थियों की ओर से — सर्वश्री ए. एम. दुने, डब्ल्यू. वालच सी. एस. रेवकासल, सर एच. एस. गौड, जे. एम. पारिख, दिंगल फुट, सर थामस स्ट्रांगमैन और ए. जी. पी. पुलन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन ने दिया ।

न्या. रैंकिन – अजमेर की लोध नामक एक उपजाति के एक कुटुंब

की वंशावली इस प्रकार है :–

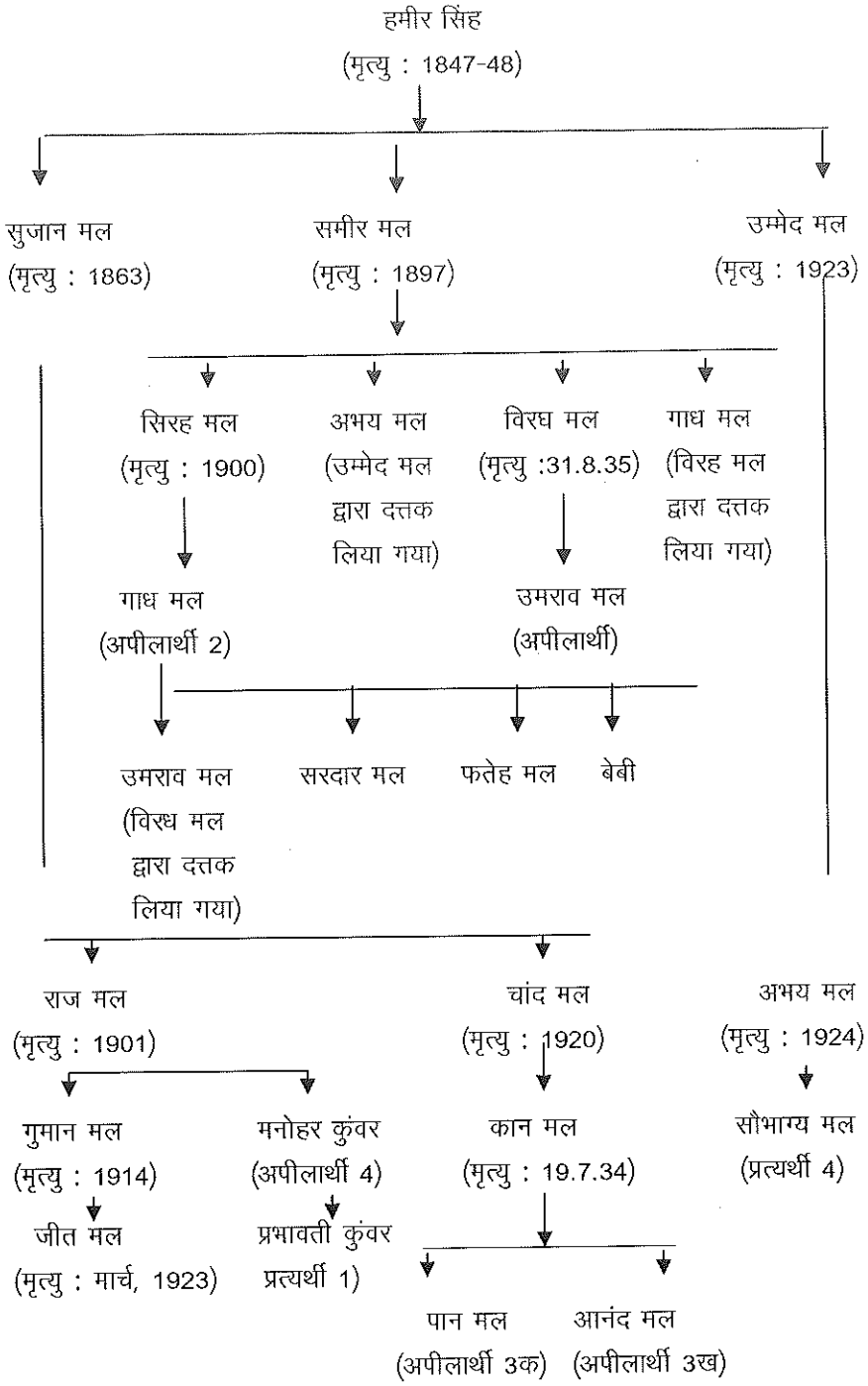

यह कुटुंब कंवल नयन हम्मीर सिंह के नाम से व्यापार और महाजनी

कारबार करता है । इस कारबार का मुख्यालय अजमेर में है, किंतु कारबार पूरे भारत के सोलह विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से किया जाता है और इनमें से कारबार की तीन शाखाओं के विषय में यह कहा गया है कि उनमें कुटुंब के बाहर के व्यक्ति का भी हित है । इस कुटुंब के पास प्रचुर स्थावर संपत्ति है । इसका उपयोग कारबार में नहीं होता है, किंतु उसके किराए और लाभ को आय के रूप में बरता जाता है । यह कारबार एक शताब्दी से अधिक से स्थापित बताया गया है । कुटुंब के सही वर्णन के विषय में कुछ विवाद है । ये ओसवाल जैन कहलाते हैं, किंतु अपीलार्थियों का कहना है कि यद्यपि वे जाति से ओसवाल हैं किंतु वे जैन नहीं हैं तथा मिताक्षरा द्वारा शासित होते हैं । जीत मल का 26.3.1923 को कोई संतान छोड़े बिना देहांत हो गया । उसने एक विधवा सेठानी प्रभावती कुंवर छोड़ी जो अब प्रत्यर्थी सं. 1 है । उस समय वह लगभग 18 वर्ष की थी । 30.6.1924 को उसने एक दत्तक विलेख निष्पादित किया जिसके द्वारा उसने मनमोहन लाल नाम के एक 11 वर्षीय बालक को अपने पति के लिए दत्तक देना व्यक्त किया । अगले दिन, अर्थात् 1.7.1924 को, अपीलार्थियों और प्रत्यर्थी सं. 4 या उनके पूर्वाधिकारियों ने अजमेर-मारवाड़ के जिला न्यायाधीश न्यायालय में एक वाद दाखिल किया, जिससे यह अपील उत्पन्न हुई । उन्होंने विधवा, बालक और भंवर मल पर वाद करके यह घोषणा चाही कि दत्तक-ग्रहण अविधिमान्य था और एक व्यादेश चाहा जो प्रतिवादियों को उसे क्रियान्वित करने से रोके । उन्होंने प्रतिवादियों को कुटुंब के कामकाज, संपत्ति और कारबार में हस्तक्षेप करने से भी रोकना चाहा । उनका कहना था कि कुटुंब संयुक्त है, विधवा केवल भरण-पोषण और आवास की हकदार है और वह अपने पति की वारिस होने के नाते कुटुंब के कारबार या संपत्ति में किसी हिस्से की हकदार नहीं है ।

2. वादियों ने बालक के लिए कोई वादकालीन संरक्षक नियुक्त कराने की कार्रवाई नहीं की । किंतु उसके पिता और विधवा ने 30 जुलाई को एक जैसे लिखित कथन दाखिल किए, जिनमें कुटुंब का संयुक्त होना स्वीकार किया और दत्तक-ग्रहण को विधिमान्य बताया । दिसंबर में उन्होंने अभिवचन में यह संशोधन करना चाहा किंतु संशोधन की इजाजत देने से 14.3.1925 को इंकार कर दिया गया । 6.11.1925 को विधवा ने अपनी प्रतिरक्षा के संशोधन के लिए पुनः आवेदन यह कहकर दिया कि उसके पति की मृत्यु पृथक् आस्ति में हुई और उसने दत्तक से भी यह कहकर इंकार

किया कि दत्तक-ग्रहण उसके प्रति किए गए कपट और दुर्व्यपदेशन के कारण हुआ । 31.8.1926 को जिला न्यायाधीश ने उसका अपनी प्रतिरक्षा अपने पति की पृथक् आस्ति के संदर्भ में संशोधन करने की अनुज्ञा दे दी, किंतु दत्तक-ग्रहण से इंकार करने की अनुज्ञा नहीं दी । बालक के पिता भंवर मल को लिखित कथन में ऐसा संशोधन नहीं करने दिया गया कि वह जीत मल की संयुक्त आस्ति की अपनी स्वीकृति वापस ले । अगस्त, 1926 में यह पता चला कि बालक के लिए कोई संरक्षक नियुक्त नहीं किया गया और तब भंवर मल नियुक्त कर दिया गया । 22.11.1929 को विद्वान् अपर जिला न्यायाधीश ने वाद में निर्णय दिया । उनका निष्कर्ष था कि दत्तक-ग्रहण का तथ्य सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि 30.6.1924 को बालक देना और लेना साबित नहीं किया गया था । तद्नुसार उन्होंने दत्तक-ग्रहण को शून्य घोषित करते हुए रद्द कर दिया । उन्होंने इस व्यादेश के दावे को खारिज कर दिया कि विधवा को कारबार में हस्तक्षेप करने से रोका जाए । उन्होंने अपनी डिक्री में कहा कि निर्णय यह किया जाता है कि हिन्दू विधि द्वारा शासित विभाजित जैन की विधवा के रूप में वह विधवा होने के नाते तीसरा या अविभाजित संपत्ति और कंवल नयन हम्मीर सिंह फर्म की आस्तियों में एक तिहाई हिस्से के आधे की हकदार है, जिसका हकदार उसका दिवंगत पति जीत मल था ।

3. विधवा ने इस डिक्री के विरुद्ध अपील नहीं की । वस्तुतः उसका उससे कोई असंतोष नहीं था । किंतु वादियों ने न्यायिक आयुक्त न्यायालय में अपील सं. 68 सन् 1930 दाखिल की । इसी प्रकार से बालक और उसके पिता भंवर मल ने अपील सं. 50 सन् 1930 दाखिल की । अपीलें एक साथ सुनी गई ; किंतु उनके परिणाम भिन्न हुए । 4.5.1931 का विद्वान् न्यायिक आयुक्त ने वह अपील खारिज कर दी जो कि वादियों ने विधवा को कारबार में हस्तक्षेप करने से रोकने का व्यादेश देने से इंकार के विरुद्ध की थी । किंतु उन्होंने दत्तक-ग्रहण विधिमान्य ठहराया और संपूर्ण कार्यवाही के खर्चे सहित पूरा वाद खारिज कर दिया । इस अपील में प्रत्यर्थियों को स्वीकार किया है कि बालक देने और लेने के सबूत के बिना दत्तक-ग्रहण विधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता । दूसरी ओर अपीलार्थियों की ओर से यह माना गया कि इस कुटुंब के विषय में साक्ष्य को देखते हुए कोई आपत्ति इस आधार पर सफल नहीं हो सकती कि विधवा को पति से प्राधिकार नहीं था और न उसके निकट संबंधियों की सम्मति थी और न

इस कारण कि बालक निकट संबंधी नहीं था । एकमात्र प्रश्न जिसकी हमारे समक्ष चर्चा की गई इस तथ्य का था कि क्या 30.6.1924 को सायं लगभग 6 बजे जब दत्तक विलेख की रजिस्ट्री हो रही थी तब बालक उपस्थित था और उसे भंवर मल ने दिया तथा विधवा ने लिया । इस प्रश्न पर भारत के न्यायालयों में मतभेद रहा है । किंतु न्यायिक आयुक्त के समक्ष साक्ष्य वही नहीं था जो विचारण न्यायाधीश के समक्ष था । दत्तक विलेख के रजिस्ट्रीकरण के समय की कार्यवाही के एक महत्वपूर्ण साक्षी बैरिस्टर श्री किशन स्वरूप थे । विचारण में उन्हें साक्षी के रूप में पेश किया गया, किंतु हमें बताया गया कि विचारण न्यायाधीश ने उनके बयान लेने से इस आधार पर इंकार कर दिया कि वह इस मामले में वकील हैं । न्यायिक आयुक्त ने अपील में उनके बयान आदेश 41, नियम 27 के अधीन लेखबद्ध किए, यद्यपि प्रकट यह होता है कि नियम की अपेक्षानुसार उन्होंने अपने कारण लेखबद्ध नहीं किए । हमारी राय में यह साक्ष्य सही तौर पर लिया गया । इस बात के लिए मान्य कारण हो सकते थे कि श्री किशन स्वरूप अपना वकालतनामा रद्द करा दें और मामले में वकील के रूप में कार्य करना बंद कर दें, किंतु किसी पक्षकार को साक्षी के बयान से वंचित करना बिल्कुल अलग बात है ।

4. अतः श्री किशन स्वरूप का बयान उस साक्ष्य का भाग है जिस पर कि इस बोर्ड को उस एकमात्र तथ्य विषयक प्रश्न जो दत्तक-ग्रहण की विधिमान्यता के संबंध में उठता है, पर विचार करना है । 28 और 29 जून के तार प्रकट करते हैं कि 28 तारीख को बालक नागौर में था और उसे अजमेर लाने के लिए एक नौकर भेजा जा रहा था, किंतु 29 तारीख को उसकी तथा उसके साथी की मेरता रोड में बदलने वाली गाड़ी छूट गई और उन्होंने चाहा कि उन्हें अजमेर लाने के लिए एक मोटर भेज दी जाए । वादियों ने एक नौकर भागजी (अ. सा. 6) को यह साबित करने के लिए बुलाया कि बालक 30 तारीख को सायंकाल 8 बजे तक अजमेर नहीं पहुंचा । किंतु तारों को देखते हुए उसका बयान असफल हो जाता है और हम इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं पाते कि बालक 30 तारीख को अपराह्न के प्रारंभिक समय में अजमेर आ गया था । कुछ अन्य नौकरों के बयानों को भी अविश्वसनीय मानकर अलग रखने के बाद हमारा विचार है देना और लेना साबित करने के लिए यह साक्ष्य पर्याप्त है कि बालक उस समय उपस्थित था जब कि उप रजिस्ट्रार ने उसके पिता और विधवा से यह प्रश्न

पूछा कि क्या उन्होंने यह विलेख निष्पादित किया । जिन साक्षियों ने इस विषय में बयान दिए वे हैं भंवर मल, भूत मल भी उपस्थित थे । दृश्यतः विचारण न्यायाधीश को इस बात में विश्वास नहीं था । उप रजिस्ट्रार का बयान निष्पक्ष है । दस्तावेज लेखक राज नारायण प्रतिवादी साक्षी 17 और अभिलेखपाल अ. सा. 4 ने बालक की उपस्थित नासाबित करने के लिए जो बयान दिए वे हमारी दृष्टि में मान्य नहीं हैं । तारों से यह स्पष्ट है कि आशय यह था कि एक अनुष्ठान हो और बालक उसी लिए अजमेर लाया जा रहा था । यदि यह कहना भी मान लिया जाए कि शुभ मुहूर्त 30 तारीख की दोपहर को समाप्त हो गया तथा विलेख दोपहर के पूर्व निष्पादित किया गया और वह बालक के अजमेर पहुंचने के पूर्व, तब भी यह बिल्कुल अधिसंभाव्य लगता है कि रजिस्ट्री की कार्यवाही की जो व्यवस्था सायंकाल 6 बजे की गई थी वह अवसर उस सीधे-सादे आवश्यक अनुष्ठान के लिए उपयुक्त था । हमें यह विचार करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि बालक के अजमेर आने के बाद कुछ नहीं किया गया, या कि हम इस प्रश्न पर विद्वान् न्यायिक आयक्त के निष्कर्ष में हस्तक्षेप करें ।

5. अब कुटुंब के कामकाज, संपत्ति और कारबार में हस्तक्षेप करने से विधवा को रोकने के व्यादेश का दावा बचता है । मामले के इस पक्ष में एकमात्र प्रश्न यह उठता है कि जीत मल अपनी मृत्यु के समय संपदा के विषय में पृथक् था या संयुक्त कुटुंब का सहदायिक था । विचारण न्यायाधीश ने निर्णय किया कि उसकी मृत्यु हिन्दू विधि द्वारा शासित पृथक् हुए जैन के रूप में हुई और इस प्रश्न पर, जो तथ्य का प्रश्न है, न्यायिक आयुक्त भी उसी निष्कर्ष पर पहुंचे । उनका निष्कर्ष है कि साबित किए गए कुछ तथ्य "इस तर्क से पूर्णतः असंगत हैं कि जीत मल अपनी मृत्यु के समय सहदायिक था जिसका हित कुटुंब के शेष पुरुष सदस्यों को उत्तरजीविता द्वारा मिला । इसके प्रतिकूल ये परिस्थितियां स्पष्टतः प्रकट करती हैं कि पृथक् और परिभाषित हित माना गया जो जीत मल की मृत्यु पर उसकी विधवा को मिला ।"

6. ये तथ्य-विषयक समान निष्कर्ष हैं । इन्हें दिवंगत कान मल के प्रतिनिधियों की ओर से उपस्थित होने वाले श्री पेज ने अपनी विस्तृत एवं योग्य बहस में प्रश्नगत किया और हमारा प्रथम कर्तव्य यह विचार करने का है कि क्या इस बात के लिए पर्याप्त कारण हैं कि हम कार्य पद्धति के अपने इस नियम से विचलन करें कि तथ्य-विषयक समान निष्कर्ष में

हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए । कुटुंब और कारबार का इतिहास दोनों पक्षों के लिए कुछ कठिनाई उपस्थित करता है । 1898 में उन भवनों का अलग-अलग विभाजन हुआ जिनमें कुटुंब रहता था । यह थान मल ने मध्यस्थ के रूप में किया । किंतु यह स्पष्ट है कि कारबार और उसकी आस्तियां (जिनमें जंगम और स्थावर दोनों थीं) मध्यस्थ के कार्यक्षेत्र में नहीं थीं और उनका उल्लेख उनके 26.4.1898 के अधिनिर्णय में नहीं है । आवासीय भवन और उनसे लगी एक छोटी-सी संपत्ति तीन बराबर हिस्सों में लाटरी डालकर बांटी गई और एक-तिहाई हिस्सा इनको दिया गया (क) उम्मेद मल, (ख) राज मल व चांद मल (सुजान मल के पुत्र), (ग) सिराह मल, अभय मल, विरध मल व गाध मल (समीर मल के पुत्र) । कुछ ही समय बाद 15.5.1898 के एक अलग अधिनिर्णय द्वारा सुजान मल के पुत्रों को उक्त प्रकार से आबंटित संपत्ति उसी मध्यस्थ ने दो बराबर हिस्सों में बांटी, जो राज मल और चांद मल को अलग-अलग दिए गए । इन अधिनिर्णयों में कारबार का उल्लेख "सिसिरा" कहकर था तथा संयुक्त फर्म और कुटुंब की अन्य संपत्ति के संयुक्त रहने का भी उल्लेख था । इनका भारत के न्यायालयों ने इस प्रश्न पर सही तौर पर दुविधापूर्ण माना है कि क्या हक का कोई विभाजन हुआ था जिसके परिणामस्वरूप वे सहदायिक की बजाय सामान्यिक अभिधारी (tenants-in-common) हो गए । यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मध्यस्थ थान मल को हक के ऐसे विभाजन का कोई प्राधिकार नहीं था और उसने प्रकटतः उन भवनों के अतिरिक्त, जिन्हें वह अलग-अलग हिस्सों में बांट रहा था, कोई अन्य संपत्ति प्रभावित नहीं की ।

7. उसी समय या उसके लगभग घोड़ों और गाड़ियों का विभाजन हुआ तथा किसी तारीख को जो ठीक-ठीक अभिनिश्चित नहीं है, कुछ आभूषणों का विभाजन हुआ । कुटुंब की विभिन्न शाखाओं की रसोई अलग-अलग थी । राज मल और चांद मल के कारबार के बही खाते में अलग-अलग खाते थे । संयुक्त पूजा का साक्ष्य दुविधापूर्ण है । विवाह और मृत्यु संबंधी व्यय अधिकांशतः संबंधित शाखा या उपशाखा वहन किया गया । तीनों शाखाओं में से प्रत्येक को सामान्य निधि में से एक नियत मासिक राशि मिलती थी : राज मल और चांद मल उस राशि को बराबर-बराबर बांट लेते थे । यह राशि एक समय पर 1,500/- रुपए कर दी गई । शाखाओं को अनुमति थी कि इस राशि के अतिरिक्त भी सामान्य निधि से राशि निकाल सके और इस प्रकार की निकासी संबंधित शाखा के नाम डाली

जाती थी । प्रतिदिन वर्षों में एक बार तीनों शाखाओं की निकासी बराबर-बराबर कर दी जाती थी । सुजान मल की संतान में निकासी दोनों उपशाखाओं द्वारा की जाती थी और उनकी उप शाखाओं के ही नाम में डाली जाती थी । व्यवहार का यह क्रम 1898 के शीघ्र बाद तक मिलता है । जब 1923 में जीत मल की मृत्यु हुई तो जो राशि उसे दी जानी थी वह उसकी विधवा को दी जाने लगी, यद्यपि यदि जीत मल कान मल या किसी अन्य के साथ संयुक्त होता तो विधवा केवल भरण-पोषण की हकदार होती और इस विषय में उसकी स्थिति वही थी जो जीत मल की माता मनोहर कुंवर की थी, जिसे कुछ नहीं मिलता था । इसके अतिरिक्त इस कारबार के व्यावर स्थित एडवर्ड मिल्स कंपनी लि. के 316 शेयर थे और अपने पति की मृत्यु के बाद विधवा को इन मूल्यवान शेयरों का छठा भाग (अर्थात् 52 शेयर) उसकी अपनी संपत्ति के रूप में दे दिया गया । स्पष्टीकरण यह दिया गया कि मार्च, 1923 में जीत मल की मृत्यु के बाद 4,000/- रुपए की मासिक राशि घटाकर, अक्तूबर, 1922 से 2,500/- रुपए कर दी गई और प्रत्येक शाखा को शेयर आबंटित कर दिए गए जिससे कि उसकी आय की पूर्ति शेयरों के लाभांश से हो जाए । किंतु यह समझना कठिन है कि इस स्पष्टीकरण से उस साक्ष्य की मान्यता में किसी प्रकार की कमी आती है जो कि जीत मल की मृत्यु विभाजित अवस्था में होने का है । दूसरी ओर अनेक वादपत्रों और निष्पादन आवेदनों का साक्ष्य है जो कुटुंब ने संयुक्त कुटुंब के रूप में दाखिल किए । किंतु विचारण न्यायाधीश का विचार था कि इस प्रक्रिया का कारण यह था कि उत्तराधिकार प्रमाणपत्र पर देय शुल्क की बचत हो । उक्त कार्य पद्धति बराबर एक रूप भी नहीं रही । एडवर्ड मिल्स कंपनी लि. संबंधी 12.4.1915 की एक दस्तावेज में कुटुंब को संयुक्त और अविभक्त बताया गया है ; किंतु इसका खंडन विधवा और निदेशकों के जुलाई, 1923 के कार्य से हो जाता है जब कि जीत मल के नाम के शेयर उसकी विधवा को वारिस के रूप में अंतरित किए गए ।

8. श्री पेज ने बहस की कि यदि वंशावली में प्रकट किए गए दत्तक ग्रहण का हिसाब लगाया जाए तो यह मान लेने पर कि समीर मल की शाखा के सदस्य परस्पर संयुक्त नहीं थे और दत्तक-ग्रहण के समय कोई विशिष्ट सौदे नहीं हुए, कारबार के लाभों का तिहाई और छठे हिस्सों में विभाजन किसी भी दृष्टि से देखने पर पक्षकारों के अधिकारों के अनुरूप

नहीं है । किंतु यह तर्क मामले के किसी पूर्व प्रक्रम पर किया गया नहीं प्रतीत होता और जिन तथ्यों पर वह निर्भर करता है वे पर्याप्त रूप से अभिनिश्चित नहीं किए गए हैं । हमें समाधान प्रदान करने वाले रूप में यह दर्शित नहीं किया गया है कि जीत मल के कुटुंब के विभाजित या अविभाजित होने के प्रश्न पर समान निष्कर्ष ढंग की किसी त्रुटि या किसी गलती या साक्ष्य के किसी पक्ष की उपेक्षा पर आधारित हैं । भारत के न्यायालयों को निष्कर्ष आचरण के साक्ष्य से निकालना था, जो सदैव संगत नहीं था, और उन बयानों से भी जो परस्पर विरोधी थे । उन्होंने यह विचार सही तौर पर किया कि कारबार के लाभ और संपत्ति के प्रति व्यवहार उस दशा में प्रत्याशित से बहुत भिन्न था जब वे एक संयुक्त कुटुंब के होते जिसके सदस्य समीर मल के पुत्र और पौत्र भी थे, जिनके अधिकार संयुक्त रहने की दशा में जीत मल के अधिकारों के बराबर थे । यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता कि कारबार के लाभ और संपत्तियां घरों के अनुसार इसलिए बांटी गई कि यह एक उचित तरीका था जिससे कि कुटुंब के सभी सदस्यों की आवश्यकताएं पूरी हो जाएं । घरों के हिसाब से विभाजन चार भागों में होता । जीत मल और कान मल ने परस्पर एक-तिहाई का विभाजन किया । जीत मल की विधवा को की गई अदायगियां और उन्हें 52 मूल्यवान शेयरों के आबंटन को महत्व देने में भारत के न्यायालयों ने बड़े विश्वसनीय साक्ष्य को आधार बनाया है । इन परिस्थितियों में हम उस महत्पपूर्ण पद्धति से, (यद्यपि वह अनम्य नहीं है) कि तथ्य विषयक समान निष्कर्षों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, विचलन के लिए पर्याप्त कारण नहीं पाते ।

9. परिणामतः अपील असफल होती है और हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि वह खारिज की जानी चाहिए । प्रत्यर्थी सं. 1 ने न्यायिक आयुक्त की डिक्री के विरुद्ध अपील नहीं की है और यह बोर्ड श्री डन की इस शिकायत पर कोई कार्रवाई नहीं कर सकता कि उसे दत्तक-ग्रहण को प्रश्नगत नहीं करने दिया गया अथवा मामले के उस भाग पर साक्षियों से जिरह नहीं करने दी गई । हम से यह विनिश्चय करने की अपेक्षा नहीं है कि इस अपील के खारिज होने का प्रत्यर्थी सं. 1 की किसी अन्य कार्रवाई में दत्तक-ग्रहण को प्रश्नगत करने के अधिकारों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ।

10. प्रकट यह होता है कि न्यायिक आयुक्त का यह विचार गलत था कि उन्होंने केवल एक डिक्री पारित की थी और उनको चाहिए था कि अपील सं. 50 तथा अपील सं. 68 दोनों में डिक्री के लिए औपचारिक प्रमाणपत्र दें । क्योंकि हमारे विनिश्चय का परिणाम यह है कि अपील सं. 50 में डिक्री की पुष्टि की जाती है। अतः ऐसी अपील करने के लिए विशेष इजाजत देना व्यर्थ है । यह स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा कि हमने 16.4.1932 के औपचारिक प्रमाणपत्र में वाद के वे सभी प्रश्न माने हैं जो कि विद्वान् न्यायिक आयुक्त के 3.10.1931 के आदेश में स्पष्ट किए गए हैं । अपीलार्थी प्रत्यर्थी सं. 1 को एक खर्चा अदा करे तथा प्रत्यर्थी सं. 2 व 3 का अलग एक खर्चा अदा करें । प्रत्यर्थी सं. 4 पहले वादी और अपीलार्थी था, किंतु 28.7.1938 के सपरिषद् आदेश द्वारा उसे अपनी स्थिति बदलने दी गई । वह अपीलार्थियों को उस तारीख तक हुए उनके इकहरे खर्चे का 1/5 हिस्सा अदा करे और वह इसी प्रकार से अपीलार्थियों के साथ प्रत्यर्थी सं. 1 और प्रत्यर्थी सं. 2 व 3 के प्रति उस तारीख के पूर्व उनके द्वारा उपगत खर्चे का देनदार होगा । इस निदेश के अनुसार खर्चा जोड़ने में इस आधार पर कार्य किया जाएगा कि हिज मैजेस्टी के समक्ष अपील में पूरा मामला आ गया, जिसमें प्रत्यर्थी सं. 21 मनमोहन लाल के दत्तक-ग्रहण की विधिमान्यता का भी प्रश्न आ गया । अन्य पक्षकार को 28.7.1938 के सपरिषद् आदेश द्वारा प्रत्यर्थी सं. 4 के विरुद्ध दिलाया गया खर्चा तथा इस बोर्ड के 14.7.1939 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 से दिलाया गया खर्चा डिक्री में शामिल किया जाएगा । खर्चे यथासंभव मुजरा किया जाएगा ।

अपील खारिज की गई ।

लछमेश्वर सहाय ..... अपीलार्थी

बनाम

श्रीमती मोती रानी कुंवर ..... प्रत्यर्थी

28.3.1939

न्यायमूर्ति लार्ड मेकमिलन, न्यायमूर्ति लार्ड रोमर और न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 – धारा 6(घ) और 58 – पति, पत्नी और तीन पुत्रों में समझौता, जिसके अनुसार पत्नी ने एक पहले विभाजन की डिक्री में उसे मिला चार आना हिस्सा त्यक्त कर दिया, संपत्ति पिता और पुत्रों में बराबर-बराबर बांट दी गई और पत्नी के लिए यह व्यवस्था की गई कि वह अपने पति की मृत्यु के बाद उसके हिस्से पर कब्जा और दखल रखेगी तथा उसके लाभों का उपयोग करेगी, किंतु उसे हित के अंतरण का अधिकार नहीं होगा – निर्णय किया गया कि यह पत्नी के भरण-पोषण के लिए की गई व्यवस्था के रूप में था तथा धारा 6(घ) के अंतर्गत आता है और पत्नी का हित अंतरणीय नहीं था – तद्नुसार पत्नी द्वारा निष्पादित अपने हित के बंधक विलेख निष्प्रभाव ठहराए गए ।

– उक्त बंधक विलेख पत्नी ने पति की मृत्यु के बाद कुछ अपने पति के ऋणों के लिए और कुछ स्वयं प्राप्त राशि के लिए निष्पादित किए थे – निर्णय यह किया गया कि पत्नी इस भ्रांत धारणा में थी कि उस पर पति के ऋणों का दायित्व है – पत्नी पर्दानशीन थी – यद्यपि उसके प्रति कोई कपट नहीं किया गया था और वह बराबर समझ रही थी कि वह अपने पति के ऋणों के लिए अपना हिस्सा बंधक कर रही है – इन परिस्थितियों में उच्च न्यायालय ने पत्नी के विरुद्ध व्यक्तिगत डिक्री केवल उन राशियों की दी जो उसने स्वयं प्राप्त की थीं और ब्याज की दर भी 24 प्रतिशत वार्षिक से घटाकर 9-3/4 प्रतिशत वार्षिक कर दी – प्रिवी कौंसिल ने इसे युक्तियुक्त माना ।

इस मामले में कई प्रश्न अंतर्वलित हैं । उनमें से एक प्रश्न यह है कि क्या प्रत्यर्थी ने अपने पति की मृत्यु के बाद उसके हिस्से में आजीवन हित प्राप्त किया था । क्या उसके बंधक या अन्य अंतरण करने का प्रतिषेध करने वाली शर्त संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 10 के अधीन अविधिमान्य है । अथवा क्या उसने संपत्ति में ऐसा हित प्राप्त किया जो

उपभोग के विषय में उक्त कानून की धारा 6 के खंड (घ) के अर्थों में स्वयं स्वामी तक निर्बंधित था ? अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – बंटवारा विलेख की भाषा किसी प्रकार स्पष्ट नहीं है । किंतु हम उसके प्रभाव के विषय में वही दृष्टिकोण अपनाते हैं जो उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने अपनाया । प्रथमतः हम यह नहीं मानते कि विलेख ने प्रत्यर्थी को आजीवन हित प्रदान किया और फिर उसमें एक विरोधी शर्त जोड़ी जो अन्य संक्रामण का पूर्ण प्रतिषेध करती है । उच्च न्यायालय ने "आजीवन हित" (life interest) के उल्लेख की ओर ध्यान दिया । उनका कहना है कि उसका शाब्दिक अनुवाद होगा "जीवन के लिए अधिकार" (right for life), किंतु विलेख की भाषा में बहुत कुछ है जो अपीलार्थी द्वारा कहे गए अर्थ के विरुद्ध जाता है । हम यह देखते हैं कि प्रत्यर्थी से भिन्न पक्षकारों के विषय में "प्रसंविदा" करना कहा गया है और उसके पति का हिस्सा उसके दखल और कब्जे में "रहेगा" और उसका आजीवन हित के उल्लेख के बाद शब्द आते हैं जो उसे "लाभों के उपयोग" का अधिकार देते हैं । किंतु बंधक या अन्य अंतरण करने की शक्ति का निषेध करते हैं । अकृत्रिम भाषा का अर्थान्वयन परिस्थितियों के प्रकाश में किया जा सकता है और उसे वह अर्थ दिया जा सकता है जो उस विषय-वस्तु को लागू हो । प्रत्यर्थी इस दृष्टि से कि उसके पुत्र को उसके भाइयों से बराबरी का व्यवहार मिले वह हिस्सा छोड़ रही थी जो हिन्दू विधि ने माता को दिया है । उसके स्थान पर उसे क्या मिल रहा था ? हमारे विचार से आशय यह था कि उसके भरण-पोषण के लिए उसे एक व्यक्तिगत अधिकार दिया जाए कि अपने पति की मृत्यु के बाद उस के हिस्से के शुद्ध लाभों का उपयोग करे । ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जो प्रकट करे कि यह लाभ प्रत्यर्थी के युक्तियुक्त भरण-पोषण से अधिक था । यद्यपि "भरण-पोषण" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, किंतु हिन्दू विधवा के लिए ऐसी व्यवस्था का उद्देश्य पर्याप्त स्पष्ट है । हमारे विचार से उच्च न्यायालय ने दावे के आधारभूत बंधक विलेखों के बारे में यह सही तौर पर अमान्य किया कि वे उनमें समाविष्ट संपत्तियों पर कोई अधिकार प्रदान करते हैं । उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी को 20.9.1929 के बंधक विलेख में उल्लिखित 4,000/- रुपए की राशि की तथा 18.9.1926 के विलेख के रजिस्ट्रीकरण के समय दिए गए 545/- रुपए की 13 आना प्रतिशत प्रतिमास या 9-3/4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज सहित डिक्री दी । उनका इस विषय में समाधान नहीं हुआ था कि प्रत्यर्थिनी के 18.9.1926

के बंधक में समाविष्ट अन्य राशि देने के वचन से बांधा जाए और उनका विचार था कि ब्याज की बंधक विलेखों में दी गई 24 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर अतिब्याज उधार अधिनियम, 1918 की धारा 3 के उपबंधों के अर्थों में अत्यधिक थी । हम ब्याज के विषय में उच्च न्यायालय के निदेश में हस्तक्षेप के लिए कोई कारण नहीं पाते । 18.9.1926 के बंधक विलेख में वर्णित 1,292+448 रुपए = योग 1,740/- रुपए की राशियां ऐसी नहीं थीं जिनकी कि प्रत्यर्थिनी देनदार थी और 2,565/- रुपए की राशि ऐसी थी जिसके विषय में उसका दायित्व अपीलार्थी द्वारा 1926 में किए गए वाद (सं. 44 सन् 1926) में विवादित था और वह इस वाद में भी साबित नहीं किया गया है । चूंकि प्रत्यर्थी एक पर्दानशीन महिला थी जिसने वादगत बंधक उस हित की प्रकृति के विषय में गलत धारणा के अधीन किया जो उसे 20.1.1925 के बंटवारा विलेख द्वारा दिया गया था, अतः उच्च न्यायालय उसे किसी ऐसी राशि का देनदार ठहराने को तैयार नहीं था जो अपीलार्थी से स्वयं उसने प्राप्त नहीं की । उनका इस विषय में समाधान नहीं हुआ कि उसके द्वारा अपने पति के ऋणों का दायित्व अपने ऊपर लिया जाना सही स्थिति की पूरी जानकारी पर आधारित था, यद्यपि हम सहमत हैं कि उसके प्रति कोई कपट नहीं किया गया और वह जानती थी कि वह अपना हित अपने पति के ऋणों के लिए बंधक कर रही है । हम इस मामले के साक्ष्य के आधार पर यह नहीं कह सकते कि उच्च न्यायालय का दृष्टिकोण अयुक्तियुक्त था या प्रत्यर्थिनी को अधिक राशि का देनदार न ठहराने में उन्होंने गलती की । (पैरा 6 और 7)

प्रत्यर्थी की ओर से श्री डब्ल्यू. वालच

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री एम. एच. रशीद और वी. के. कृष्णा मेनन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन ने दिया ।

न्या. रैंकिन – नर्बदेश्वर सहाय मिताक्षरा द्वारा शासित हिन्दू था । उसकी मृत्यु 28.8.1926 को हुई । उसने तीन विवाह किए थे और प्रत्येक पत्नी से उसके एक पुत्र था । उसका ज्येष्ठ पुत्र राम नंदन था, द्वितीय पुत्र लछमेश्वर था जो वादी अपीलार्थी है ; उसके तृतीय पुत्र सोमेश्वर का जन्म 1924 में हुआ था । प्रतिवादिनी श्रीमती मोती रानी कुंवर इसी सोमेश्वर की माता है और नर्बदेश्वर की तीसरी पत्नी थी । जिस वाद से यह अपील उत्पन्न हुई वह लछमेश्वर ने अपनी सौतेली माता के विरुद्ध बरेली के

अधीनस्थ न्यायाधीश न्यायालय में 22.5.1931 को किया था । वह वाद 18.9.1926 तथा 20.9.1929 के दो बंधकों के विक्रय द्वारा प्रवर्तन के लिए था ।

2. 18.9.1926 का विलेख प्रत्यर्थी ने अपने पति की मृत्यु से एक मास के भीतर लिखा था । वह 5,000/- रुपए के लिए था, जिसमें से उस समय केवल 545 रु. दिए गए और शेष का समायोजन 2,565/- रुपए 1,292/- रुपए 448/- रुपए और 150/- रुपए की चार राशियों में किया गया । 150/- रुपए की अंतिमोक्त राशि वस्तुतः दी नहीं गई थी और उसके लिए कोई दावा नहीं है । 1,292/- रुपए और 448/- रुपए की राशियों के लिए कहा गया कि वे नर्बदेश्वर द्वारा निष्पादित दो वचनपत्रों और एक बंधपत्र के मूलधन और ब्याज के लिए हैं । 2,565/- रुपए की राशि 23.12.1925 के एक बंधक विलेख के आधार पर देय बताई गई । इस राशि के लिए वर्तमान अपीलार्थी ने नर्बदेश्वर और उसकी पत्नी के विरुद्ध एक वाद किया था और नर्बदेश्वर की मृत्यु के बाद अगस्त, 1926 में वाद वादी की संपत्ति से 30 नवंबर को खारिज कर दिया गया क्योंकि विधवा ने 18.9.1926 का बंधक निष्पादित कर दिया था ।

3. अब जिन बंधकों का प्रवर्तन चाहा गया है उनमें दूसरा 20.9.1929 का था तथा 4,000/- रुपए के लिए निष्पादित किया गया था, जो प्रत्यर्थी ने अपने पति का ऋण चुकाने के निमित्त लिए थे । 18.9.1926 और 20.9.1929 के दो विलेखों द्वारा बंधकित संपत्तियां अलग-अलग जमींदारी संपत्तियां थीं, किंतु प्रत्यर्थी को उनमें हर एक ही प्रकार से मिला था, अर्थात् 20.1.1925 के बंटवारा विलेख द्वारा जो 27.3.1925 की एक समझौता डिक्री में समाविष्ट किया गया था । इस अपील में पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रत्यर्थिनी का समझौते के अधीन हित अंतरणीय था ।

4. 1921 में ज्येष्ठ पुत्र राम नंदन ने एक बंटवारा वाद किया और 9.8.1972 की डिक्री द्वारा उसका चार आना हिस्सा पृथक् कर दिया गया । उसके पिता और भाई को भी चार-चार आना हिस्से का हकदार ठहराया गया और प्रत्यर्थी को जीवनपर्यन्त के लिए 4 आना हिस्सा दिया गया जो कि उसके पति और पुत्रों में बंटवारा होने पर उसका अधिकार था । द्वितीय पुत्र (अपीलार्थी) ने शेष 12 आने हिस्से में से 4 आना हिस्से के लिए वैसा ही वाद 1923 में किया । तृतीय पुत्र सोमेश्वर का 1924 में जन्म होने के बाद कुटुंब की संपत्ति का सारा मामला मध्यस्थ के लिए भेज दिया गया और नर्बदेश्वर, उसकी पत्नी तथा तीन पुत्रों ने (तथा राम नंदन की पत्नी ने

जो पति द्वारा अंतरण के आधार पर कुछ अधिकारों का दावा करती थी) 20.1.1925 को एक बंटवारा विलेख निष्पादित किया । इस विलेख का प्रभाव यह था कि पत्नी ने अपना वह 4 आना हिस्सा व्यक्त कर दिया जो उसने 9.8.1922 की डिक्री के अधीन प्राप्त किया तथा प्रत्यर्थी को अपने पति की मृत्यु के बाद उस चार आना हिस्से में हित दिया गया, जो उसके पति ने इस विलेख के अधीन प्राप्त किया था । इस विलेख का तद्विषयक पैरा इस प्रकार है :–

> "मैं बहुरिया मोती रानी कुंवर पक्षकार सं. 4 ने 9.8.1922 की डिक्री में वर्णित चार आने हिस्से की बाबत, जिसमें मेरा आजीवन हित है, दावा त्यक्त कर दिया है । किंतु हम बाबू नर्बदेश्वर सहाय, बाबू लछमेश्वर सहाय, बाबू राम नंदन सहाय और दुलहिन सरजुग देवी प्रसंविदा करते हैं कि मुझ बाबू नर्बदेश्वर सहाय की मृत्यु के बाद मेरा 4 आना हिस्सा बहुरिया मोती रानी कुंवर (पक्षकार सं. 4) के कब्जे और दखल में आजीवन हित के रूप में उनके जीवनपर्यन्त रहेगा और बहुरिया मोती रानी कुंवर को अधिकार होगा कि सरकारी राजस्व तथा अन्य सरकारी देय अदा करने के बाद उसके लाभों का उपयोग करें, किंतु यह बंधक या अन्य अंतरण करने की शक्ति के बिना होगा ; यदि बहुरिया मोती रानी कुंवर की मृत्यु मुझ बाबू नर्बदेश्वर सहाय के पहले हो जाए तो मैं बाबू नर्बदेश्वर सहाय प्रायिक रूप से उस 4 आना हिस्से का कब्जेदार स्वामी रहूंगा और मुझ बाबू नर्बदेश्वर सहाय की मृत्यु के बाद बाबू राम नंदन सहाय, बाबू लछमेश्वर सहाय और बाबू सोमेश्वर सहाय को मेरे 4 आना हिस्से का अधिकार उसका होगा, और यदि कोई पुत्र उत्पन्न न हो तो बाबू नर्बदेश्वर सहाय की मृत्यु के बाद बाबू राम नंदन सहाय, बाबू लछमेश्वर सहाय और बाबू सोमेश्वर सहाय उपर्युक्त शर्त के अनुसार बाबू नर्बदेश्वर सहाय के हिस्से में बराबर-बराबर हिस्से के हकदार होंगे ।"

5. इस उपबंध के संबंध में प्रश्न उठते हैं : क्या प्रत्यर्थी ने अपने पति की मृत्यु के बाद उसके हिस्से में आजीवन हित प्राप्त किया ? क्या उसके बंधक या अन्य अंतरण करने का प्रतिषेध करने वाली शर्त संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 10 के अधीन अविधिमान्य है ? अथवा क्या उसने संपत्ति में ऐसा हित प्राप्त किया जो उपभोग के विषय में उक्त कानून की धारा 6 के खंड (घ) के अर्थों में स्वयं स्वामी तक निर्बंधित था ? विचारण न्यायाधीश के निर्णय में इन प्रश्नों की चर्चा नहीं है । उन्होंने

अपीलार्थी को उसके दावे की पूरी राशि के लिए बंधक डिक्री 30.7.1932 को दे दी । 13.8.1935 को उच्च न्यायालय ने निर्णय किया कि प्रत्यर्थी द्वारा 20.1.1925 के विलेख के अधीन प्राप्त हित धारा 6 के खंड (घ) में वर्णित प्रकृति का होने के कारण अंतरणीय नहीं था ।

6. बंटवारा विलेख की भाषा किसी प्रकार स्पष्ट नहीं है । किंतु हम उसके प्रभाव के विषय में वही दृष्टिकोण अपनाते हैं जो उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने अपनाया । प्रथमतः हम यह नहीं मानते कि विलेख ने प्रत्यर्थी को आजीवन हित प्रदान किया और फिर उसमें एक विरोधी शर्त जोड़ी जो अन्य संक्रामण का पूर्ण प्रतिषेध करती है । उच्च न्यायालय ने "आजीवन हित" (life interest) के उल्लेख की ओर ध्यान दिया । उनका कहना है कि उसका शाब्दिक अनुवाद होगा "जीवन के लिए अधिकार" (right for life), किंतु विलेख की भाषा में बहुत कुछ है जो अपीलार्थी द्वारा कहे गए अर्थ के विरुद्ध जाता है । हम यह देखते हैं कि प्रत्यर्थी से भिन्न पक्षकारों के विषय में "प्रसंविदा" करना कहा गया है और उसके पति का हिस्सा उसके दखल और कब्जे में "रहेगा" और उसका आजीवन हित के उल्लेख के बाद शब्द आते हैं जो उसे "लाभों के उपयोग" का अधिकार देते हैं । किंतु बंधक या अन्य अंतरण करने की शक्ति का निषेध करते हैं । अकृत्रिम भाषा का अर्थान्वयन परिस्थितियों के प्रकाश में किया जा सकता है और उसे वह अर्थ दिया जा सकता है जो उस विषय-वस्तु को लागू हो । प्रत्यर्थी इस दृष्टि से कि उसके पुत्र को उसके भाइयों से बराबरी का व्यवहार मिले वह हिस्सा छोड़ रही थी जो हिन्दू विधि ने माता को दिया है । उसके स्थान पर उसे क्या मिल रहा था ? हमारे विचार से आशय यह था कि उसके भरण-पोषण के लिए उसे एक व्यक्तिगत अधिकार दिया जाए कि अपने पति की मृत्यु के बाद उस के हिस्से के शुद्ध लाभों का उपयोग करे । ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जो प्रकट करे कि यह लाभ प्रत्यर्थी के युक्तियुक्त भरण-पोषण से अधिक था । यद्यपि "भरण-पोषण" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, किंतु हिन्दू विधवा के लिए ऐसी व्यवस्था का उद्देश्य पर्याप्त स्पष्ट है । हमारे विचार से उच्च न्यायालय ने दावे के आधारभूत बंधक विलेखों के बारे में यह सही तौर पर अमान्य किया कि वे उनमें समाविष्ट संपत्तियों पर कोई अधिकार प्रदान करते हैं ।

7. उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी को 20.9.1929 के बंधक विलेख में उल्लिखित 4,000/- रुपए की राशि की तथा 18.9.1926 के विलेख के रजिस्ट्रीकरण के समय दिए गए 545/- रुपए की 13 आना प्रतिशत

प्रतिमास या 9-3/4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज सहित डिक्री दी । उनका इस विषय में समाधान नहीं हुआ था कि प्रत्यर्थिनी के 18.9.1926 के बंधक में समाविष्ट अन्य राशि देने के वचन से बांधा जाए और उनका विचार था कि ब्याज की बंधक विलेखों में दी गई 24 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर अतिब्याज उधार अधिनियम, 1918 की धारा 3 के उपबंधों के अर्थों में अत्यधिक थी । हम ब्याज के विषय में उच्च न्यायालय के निदेश में हस्तक्षेप के लिए कोई कारण नहीं पाते । 18.9.1926 के बंधक विलेख में वर्णित 1,292+448 रुपए = योग 1,740/- रुपए की राशियां ऐसी नहीं थीं जिनकी कि प्रत्यर्थिनी देनदार थी और 2,565/- रुपए की राशि ऐसी थी जिसके विषय में उसका दायित्व अपीलार्थी द्वारा 1926 में किए गए वाद (सं. 44 सन् 1926) में विवादित था और वह इस वाद में भी साबित नहीं किया गया है । चूंकि प्रत्यर्थी एक पर्दानशीन महिला थी जिसने वादगत बंधक उस हित की प्रकृति के विषय में गलत धारणा के अधीन किया जो उसे 20.1.1925 के बंटवारा विलेख द्वारा दिया गया था, अतः उच्च न्यायालय उसे किसी ऐसी राशि का देनदार ठहराने को तैयार नहीं था जो अपीलार्थी से स्वयं उसने प्राप्त नहीं की । उनका इस विषय में समाधान नहीं हुआ कि उसके द्वारा अपने पति के ऋणों का दायित्व अपने ऊपर लिया जाना सही स्थिति की पूरी जानकारी पर आधारित था, यद्यपि हम सहमत हैं कि उसके प्रति कोई कपट नहीं किया गया और वह जानती थी कि वह अपना हित अपने पति के ऋणों के लिए बंधक कर रही है । हम इस मामले के साक्ष्य के आधार पर यह नहीं कह सकते कि उच्च न्यायालय का दृष्टिकोण अयुक्तियुक्त था या प्रत्यर्थिनी को अधिक राशि का देनदार न ठहराने में उन्होंने गलती की ।

हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए । अपीलार्थी प्रत्यर्थिनी का खर्चा अदा करे ।

अपील खारिज की गई ।

सरदार सुरेन्द्र सिंह और अन्य ..... अपीलार्थी

बनाम

चौधरी गुलाम मोहम्मद ..... प्रत्यर्थी

28.3.1939

न्यायमूर्ति लार्ड मैकमिलन, न्यायमूर्ति लार्ड रोमर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

हिन्दू विधि – रुढ़ि – जब जाटों की रूढ़ि के अनुसार पिता पैतृक संपत्ति का अंतरण विधिक आवश्यकता के बिना नहीं कर सकता तो यह साबित करने का भार अंतरिती पर होगा कि विधिक आवश्यकता वास्तव में थी अथवा सद्भाविक जांच करके उसने अपना समाधान कर लिया था कि विधिक आवश्यकता है – उक्त दो में से कोई भी बात साबित करने पर अंतरण विधिमान्य होगा – किंतु अंतरिती का यह दायित्व नहीं होगा कि देखे कि अंतरणकर्ता प्राप्त राशि का उपयोग उस आवश्यकता के लिए वस्तुतः करे ।

– पिता का पूर्व ऋण जो अवैध अनैतिक या लोकनीति – विरुद्ध कार्य के लिए नहीं था, अंतरण के लिए उचित आधार हो सकता है – किंतु केवल डिक्री होने से ही उचित आधार नहीं मिल जाएगा – यह भी दिखाया जाना चाहिए कि जिस ऋण के लिए डिक्री थी वह उचित था ।

इस अपील में मुख्य विचारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या तारीख 16.8.1927 के बंधक विलेख के अधीन देय राशि उचित ऋण थी तथा वह अनैतिक और अवैध या लोक नीति के विरुद्ध नहीं है । वह राशि न अंधाधुंध फिजूलखर्ची है और न स्वच्छन्द अपव्यय और न वह उत्तरभोगियों के हित को नष्ट करने के आशय से थी । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – बंधक विलेख 10.9.1928 का है और 14,000/- रुपए की राशि प्रतिभूत करने के प्रयोजनार्थ किया गया था । उसमें से 11,000/- रुपए बलवंत सिंह को नकद दिए गए थे और शेष 3,000/- रुपए प्रत्यर्थी ने उस राशि की तुष्टि के लिए अपने पास रखे जो 16.8.1927 को एक अन्य भूमि के पूर्ववर्ती बंधक के अधीन बलवंत सिंह द्वारा उसे देय थे । यह सुप्रतिष्ठित विधि है कि ऐसी परिस्थितियों में यह साबित करने का भार बंधकदार पर होता है कि या तो वस्तुतः ऐसी आवश्यकता थी जिससे बंधक उचित हो गया अथवा उसने कथित आवश्यकता की उचित और सद्भावपूर्ण जांच करके उस आवश्यकता के अस्तित्व के विषय में अपना

समाधान कर लिया था लाला आत्माराम बनाम ठाकुर साधु सिंह उसी मामले और उसमें उद्धृत निर्णयों से यह भी प्रकट होता है कि यदि वह इस भार का निर्वहन कर दे तो वह इस बात के लिए आबद्ध नहीं होगा कि देखे कि उसके द्वारा दी गई राशि का उपयोग बंधकदार ने उसे आवश्यकता की पूर्ति के लिए वस्तुतः किया । प्रस्तुत मामले में जो विधिक आवश्यकता बताई गई वह बलवंत सिंह द्वारा देय अनेक ऋणों के रूप में थी । यह स्पष्ट है कि यदि ऐसे ऋण उचित कहे जा सके तो बंधकदार द्वारा ऋणों की अदायगी विधिक आवश्यकता होगी । इस प्रयोजनार्थ "उचित ऋण" क्या है, उसका प्रमाणिक रूप से उत्तर इस बोर्ड ने कृपाल सिंह बनाम बलवंत सिंह में दिया है । पंजाब मुख्य न्यायालय के एक पूर्ण न्यायपीठ द्वारा पूर्ववर्ती मामले में दी गई परिभाषा का अनुमोदन करते हुए उसमें निर्णय किया गया कि "उचित ऋण" (just debt) से अभिप्रेत है ऐसा ऋण जो वस्तुतः देय है और अनैतिक और अवैध या लोकनीति-विरुद्ध नहीं है, वह न अंधाधुंध फजूलखर्ची है, और न स्वच्छन्द अपव्यय, और न वह उत्तरभोगियों के हित को नष्ट करने के आशय से था । (पैरा 2 और 3)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1938] आ. इं. रि. 1938 प्रि. कौ. 88 :
लाला आत्माराम बनाम **ठाकुर साधु सिंह** ; 2

[1913] इं. ला रि. (1913) 40 कलकत्ता 288 :
कृपाल सिंह बनाम **बलवंत सिंह** । 3

सिविल अपील अधिकारिता : 1938 की अपील सं. 14.

अपीलार्थी की ओर से श्री जे. एम. पारिख

प्रत्यर्थी की ओर से कोई नहीं

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड रोमर ने दिया ।

न्या. रोमर – वाद में वादियों द्वारा यह अपील लाहौर उच्च न्यायालय की 7.10.1936 की डिक्री के विरुद्ध है । उच्च न्यायालय ने शेखपुरा के ज्येष्ठ अधीनस्थ न्यायाधीश न्यायालय की 4.12.1935 की डिक्री अपास्त कर दी है । वादी दिवंगत सरदार बलवंत सिंह नामक एक जाट के पुत्र हैं । उन्होंने उस पैतृक भूमि का कब्जा प्राप्त करने के लिए वाद किया जो उनके पिता ने अपने जीवनकाल में प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) चौधरी गुलाम मोहम्मद को भोग बंधक कर दी थी । अपने वादपत्र में उनका कहना था

कि पंजाब के कृषकों की रूढ़िजन्य विधि के अनुसार (जो स्वीकृत रूप से संव्यवहार को शासित करती थी) उसके पिता पैतृक भूमि का बंधक विधिक आवश्यकता के बिना करने के लिए सक्षम नहीं थे और प्रस्तुत मामले में बंधक के लिए कोई आवश्यकता नहीं थी । तद्नुसार उन्होंने प्रार्थना की कि एक डिक्री दी जाए कि बंधक उनके उत्तरभोगी अधिकारों को आबद्ध करने के लिए निष्प्रभाव है तथा उन्हें भूमि का कब्जा दिलाया जाए ।

2. बंधक विलेख 10.9.1928 का है और 14,000/- रुपए की राशि प्रतिभूत करने के प्रयोजनार्थ किया गया था । उसमें से 11,000/- रुपए बलवंत सिंह को नकद दिए गए थे और शेष 3,000/- रुपए प्रत्यर्थी ने उस राशि की तुष्टि के लिए अपने पास रखे जो 16.8.1927 को एक अन्य भूमि के पूर्ववर्ती बंधक के अधीन बलवंत सिंह द्वारा उसे देय थे । यह सुप्रतिष्ठित विधि है कि ऐसी परिस्थितियों में यह साबित करने का भार बंधकदार पर होता है कि या तो वस्तुतः ऐसी आवश्यकता थी जिससे बंधक उचित हो गया अथवा उसने कथित आवश्यकता की उचित और सद्भावपूर्ण जांच करके उस आवश्यकता के अस्तित्व के विषय में अपना समाधान कर लिया था – **लाला आत्माराम** बनाम **ठाकुर साधु सिंह**[1] उसी मामले और उसमें उद्धृत निर्णयों से यह भी प्रकट होता है कि यदि वह इस भार का निर्वहन कर दे तो वह इस बात के लिए आबद्ध नहीं होगा कि देखे कि उसके द्वारा दी गई राशि का उपयोग बंधकदार ने उसे आवश्यकता की पूर्ति के लिए वस्तुतः किया ।

3. प्रस्तुत मामले में जो विधिक आवश्यकता बताई गई वह बलवंत सिंह द्वारा देय अनेक ऋणों के रूप में थी । यह स्पष्ट है कि यदि ऐसे ऋण उचित कहे जा सके तो बंधकदार द्वारा ऋणों की अदायगी विधिक आवश्यकता होगी । इस प्रयोजनार्थ "उचित ऋण" क्या है, उसका प्रमाणिक रूप से उत्तर इस बोर्ड ने **कृपाल सिंह** बनाम **बलवंत सिंह**[2] में दिया है । पंजाब मुख्य न्यायालय के एक पूर्ण न्यायपीठ द्वारा पूर्ववर्ती मामले में दी गई परिभाषा का अनुमोदन करते हुए उसमें निर्णय किया गया कि "उचित ऋण" (just debt) से अभिप्रेत है ऐसा ऋण जो वस्तुतः देय है और अनैतिक और अवैध या लोकनीति-विरुद्ध नहीं है, वह न अंधाधुंध फजूलखर्ची है, और न स्वच्छन्द अपव्यय, और न वह उत्तरभोगियों के हित को नष्ट करने के आशय से था ।

---

[1] आ. इं. रि. 1938 प्रि. कौं. 88.

[2] इं. ला रि. (1913) 40 कलकत्ता 288.

4. प्रस्तुत मामले में वादियों ने यह दिखाने का कोई प्रयत्न नहीं किया कि उनके पिता अनैतिक जीवन व्यतीत करते थे अथवा वे अंधाधुंध फिजूलखर्ची या स्वच्छन्द अपव्यय करते थे । न उनका यह कहना था कि उन्होंने बंधक उत्तरभोगियों को हानि पहुंचाने के आशय से किया । उनके विरुद्ध इतना ही कहा जा सकता था कि पीते अधिक थे । यह अधिसंभाव्यतः सही है क्योंकि उनकी मृत्यु जनवरी, 1934 में जिगर के सिरोसिस के कारण हुई । इस कमी के अलावा सच्चरित्र रहे प्रतीत होते हैं और समाज के सम्मानित सदस्य माने जाते थे । अतः यह मानने के लिए कोई प्रथमदृष्ट्या साक्ष्य नहीं था कि बलवंत सिंह द्वारा लिए गए ऋण उचित ऋण नहीं थे । फिर भी प्रतिवादी बंधकदार पर यह भार था कि साबित करता कि ऋण उचित तौर पर इस प्रकार के कहे जा सकते थे ।

5. 4.12.1935 को ज्येष्ठ अधीनस्थ न्यायाधीश ने निर्णय सुनाया । उन्होंने निर्णय किया कि 1927 के बंधक के अधीन देय 3,000/- रुपए की राशि उचित ऋण थी । उन्होंने प्रत्यर्थी को 3,000/- रुपए और अनुमत किए जिनके बारे में बताया गया कि वे बलवंत सिंह ने अपने पुत्र अपीलार्थी सुरेन्द्र सिंह की शिक्षा और विवाह पर व्यय किए, यद्यपि प्रकट यह होता है कि यह गलत था क्योंकि स्वर्ण सिंह का विवाह बंधक की तारीख से लगभग दो वर्ष तक नहीं हुआ । बंधक के खर्चे के रूप में उन्होंने 100/- रुपए अनुमत किए, अर्थात् कुल मिलाकर 6,100/- रुपए अनुमत किए और वादी का बंधक भूमि के कब्जे का वाद उस राशि की अदायगी पर डिक्री किया । इस निर्णय के विरुद्ध दोनों पक्षकारों ने उच्च न्यायालय में अपीलें की । अंत में वादियों की अपील खारिज कर दी गई किंतु प्रतिवादी की अपील मंजूर कर ली गई और अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री अपास्त करके वादी का वाद खारिज कर दिया गया । उच्च न्यायालय पूर्ववर्ती बंधक के अधीन देय 3,000/- रुपए के विषय में अधीनस्थ न्यायाधीश से सहमत हुआ और फिर प्रत्यर्थी द्वारा बताए गए वादगत बंधक की तारीख को विद्यमान बलवंत सिंह के विभिन्न ऋणों और आवश्यकताओं का उल्लेख करने के बाद उन्होंने कहा :–

> "किंतु यदि बंधकदार द्वारा आश्रय लिए गए इन विभिन्न ऋणों और आवश्यकताओं की उपेक्षा कर देने पर भी बात यही रहती है कि बंधक के मामले में बलवंत सिंह को कम से कम 30,000/- रुपए से अधिक मूल्य की डिक्रियां चुकानी थीं और इन परिस्थितियों में यदि कोई व्यक्ति, जो बलवंत सिंह को जानता था और उसकी बाध्यताओं को भी जानता था, उसे 11,000/- रुपए उधार दे जिससे कि उनकी

चिंता-परेशानी दूर हो जाए तो उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने बेईमानी से कार्य किया या बलवंत सिंह की अंधाधुंध फिजूलखर्ची या स्वच्छन्द अपव्यय में सहायता की और उसे उसके धन से वंचित किया जाए । पुरुष स्वामी की वही निर्योग्यताएं नहीं होती जो कि एक विधवा की होती है ।"

6. जहां तक इस पैरा से प्रकट होता है कि डिक्रीत ऋणों के अस्तित्व मात्र से पर्याप्त सबूत हो जाता है कि पंजाब की रूढ़िजन्य विधि से शासित पैतृक भूमि के अंतरणकर्ता द्वारा अंतरण के लिए विधिक आवश्यकता थी, हम उच्च न्यायालय से सादर असहमत होते हैं । अंतरणकर्ता को आगे बढ़ कर प्रकट करना चाहिए कि जिन ऋणों की डिक्री की गई वे उचित ऋण थे । यह बात बलवंत सिंह के उन सभी डिक्रीत ऋणों के लिए कही जा सकती है या नहीं जिनका उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में हवाला दिया, यह ऐसा प्रश्न है पर कोई राय व्यक्त करना हम आवश्यक नहीं समझते, क्योंकि हमारी राय में उनमें से एक के विषय में, अर्थात् बंधक की तारीख को बलवंत सिंह द्वारा देय 11,000/- रुपए के ऋण के विषय में, उक्त बात निश्चय ही कही जा सकती है और पूर्व बंधक के अधीन देय 3,000/- रुपए की राशि में उक्त राशि जोड़ने पर, जिसके विषय में दोनों निचले न्यायालय सहमत हुए और हमारी राय में सही तौर पर सहमत हुए, सब मिलाकर 14,000/- रुपए होते है जिनके लिए वादगत बंधक किया गया ।

7. इस 11,000/- रुपए की राशि का इतिहास 1913 में प्रारंभ होता है । उस वर्ष 31 जुलाई को बलवंत सिंह ने पैतृक भूमि का एक बंधक सेठ मेहाल सिंह के हक में 7,000/- रुपए की राशि प्रतिभूत करने के लिए किया । 22.5.1926 को वर्तमान अपीलार्थी स्वर्ण सिंह और उसके भाइयों ने एक वाद बंधक की विधिमान्यता पर आक्षेप करने के प्रयोजनार्थ किया जिसके आधार वर्तमान वाद के आधारभूत आधारों के सदृश थे । जिन अधीनस्थ न्यायाधीश के समक्ष मामला 28.7.1927 को आया उन्होंने वाद खारिज कर दिया । उन्होंने निर्णय किया कि संव्यवहार सप्रतिफल और विधि के आवश्यकतावश था । इस बीच सेठ मेहाल सिंह ने बलवंत सिंह के विरुद्ध एक वाद बंधक पर देय राशि की वसूली के लिया और 30.8.1927 को उन्होंने 27,199/- रुपए 8 आ. 6 पा. की तथा लगभग 2,000/- रुपए खर्चे की एक प्रारंभिक डिक्री प्राप्त कर ली । 14.11.1927 को सेठ मेहाल सिंह और बलवंत सिंह ने एक समझौता किया जिसके अधीन बलवंत सिंह सहमत हुए कि इस डिक्रीत राशि को वह 18,000/- रुपए तुरंत नकद

देकर और शेष 11,000/- रुपए दो वर्ष के भीतर देकर चुका देंगे । बलवंत सिंह की डिक्रीत राशि की अदायगी के लिए धन उपलब्ध करने की दृष्टि से 16.8.1927 का बंधक निष्पादित किया गया था । उस अवसर पर प्रत्यर्थी द्वारा उधार दी गई राशि 23,000/- रुपए थी, जिसमें से केवल 20,000/- रुपए बंधक भूमि पर भारित थे और शेष 3,000/- रुपए अप्रतिभूत थे । उस बंधक की विधिमान्यता को कभी प्रश्नगत नहीं किया गया और न उसे सफलतापूर्वक प्रश्नगत किया जा सकता था । प्रत्यर्थी द्वारा समझौते द्वारा करार किया गया 29,000/- रुपए का डिक्रीत ऋण इन परिस्थितियों में निर्विवाद रूप से उचित ऋण था । जो 23,000/- रुपए उसने 16.8.1927 को प्रत्यर्थी से उधार लिए उनका उपयोग बलवंत सिंह केवल 18,000/- रुपए चुकाने मे ही, जो समझौते के अधीन तुरंत नकद चुकाने थे, नहीं करना था अपितु 11,000/- रुपए की आस्थगित राशि को भी घटाकर 6,000/- रुपए करने के लिए करना था । किंतु किसी कारण से, जो हमें अज्ञात है, बलवंत सिंह ने इस 11,000/- रुपए की राशि का कोई भाग वस्तुतः अदा नहीं किया और वह उस समय भी बकाया था जब प्रश्नगत बंधक लिखा गया । किंतु प्रत्यर्थी पर यह देखने की बाध्यता नहीं थी कि यह सुनिश्चित करे कि अगस्त, 1927 में उधार लिए गए 23,000/- रुपए के किसी भाग का उपयोग बलवंत सिंह इस 11,000/- रुपए की राशि को अंशतः चुकाने में करे । वह आगे जांच के बिना यह उपधारणा करने का हकदार था कि पूरे 23,000/- रुपए बलवंत सिंह की अन्य विधिक आवश्यकताओं की पूर्ति में खर्च हुए और उक्त 11,000/- रुपए को सितंबर, 1928 में उचित ऋण माने । वह अगस्त, 1927 में उचित ऋण था और बाद का भी वह केवल इस कारण ऐसा नहीं रह गया नहीं माना जाएगा कि बलवंत सिंह ने उसे उक्त 23,000/- रुपए में से नहीं चुकाया । उच्च न्यायालय ने 11,000/- रुपए की राशि संबंधी तथ्यों की परीक्षा करने के बाद उसे उचित ऋण माना जो बलवंत सिंह द्वारा वादगत बंधक की तारीख को देय था और हमारी राय में उन्होंने यह सही तौर पर माना है ।

8. 16.8.1927 के बंधक विलेख के अधीन देय शेष 3,000/- रुपए की राशि को निचले दोनों न्यायालयों में उचित ऋण माना है और हमारी राय में वह स्पष्टतः ऐसा ही था । इन कारणों से हमारी राय है और हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील खारिज की जानी चाहिए ।

अपील खारिज की गई ।

कार्यालय आदेश तारीख 13 फरवरी, 2017 के अनुसार विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों पर छूट देने की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम व प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पुस्तक की मुद्रित कीमत (रुपयों में)	7 वर्ष से पुराने संस्करण पर 35% छूट के पश्चात कीमत (रुपयों में)	8 से 15 वर्ष पुराने संस्करण पर 50% छूट के पश्चात कीमत (रुपयों में)	15 वर्ष से अधिक पुराने संस्करण पर 75% छूट के पश्चात कीमत (रुपयों में)
1.	भारत का विधिक इतिहास - श्री सुरेन्द्र मधुकर - 1989	30	–	–	8
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि - डा. एन. वी. परांजपे - 1990	40	–	–	10
3.	वाणिज्य विधि - डा. आर. एल. भट्ट - 1993	108	–	–	27
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धांत - श्री शर्मन लाल अग्रवाल - 1993	40	–	–	10
5.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय - डा. एस. सी. खरे - 1996	115	–	–	29
6.	श्रम विधि - श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा - 1996	452	–	–	113
7.	संविदा विधि - डा. रामगोपाल चतुर्वेदी - 1998	275	–	–	69
8.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान - डा. सी. के. पारिख - 1999	293	–	–	74
9.	आधुनिक पारिवारिक विधि - श्री राम शरण माथुर - 2000	429	–	–	108
10.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) - विधि साहित्य प्रकाशन - 2000	225	–	–	57
11.	हिन्दू विधि - डा. रवीन्द्र नाथ - 2001	425	–	–	106
12.	भारतीय भागीदारी अधिनियम - श्री माधव प्रसाद वशिष्ठ - 2001	165	–	–	41
13.	प्रशासनिक विधि - डा. कैलाश चन्द्र जोशी - 2001	200	–	–	50
14.	भारतीय दंड संहिता - डा. रवीन्द्र नाथ - 2002	741	–	–	185
15.	विधिक उपचार - डा. एस. के. कपूर - 2002	311	–	–	78
16.	विधि शास्त्र - डा. शिवदत्त शर्मा - 2005	580	–	290	–
17.	मानव अधिकार - डा. शिवदत्त शर्मा - 2006	120	–	60	–

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-**110001**

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ पाठकों की सुविधा के लिए शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका को उपादेय और ज्ञानवर्द्धक बनाने के लिए प्रिवी कौंसिल के निर्णयों को भी समाविष्ट किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 195/- उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें ।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105